जयशंकर प्रसाद के साहित्य में ऐतिहासिक चेतना

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

1993

प्रस्तुतकर्त्री

पी. वी. डी. श्रीदेवी

एम. ए. (स्वर्णपदक प्राप्त) एम. फिल. (स्वर्णपदक प्राप्त)

हिन्दी विभाग

केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद–500 134.

निर्देशक :

डॉ. सुवासकुमार

रीडर

अध्यक्ष :

प्रोफेसर शशिमुदिराज

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट.

Prof. & Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

DEPARTMENT OF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD
HYDERABAD - 500 134

This is to certify that I, **P.V.D.SREEDEVI**, have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under Ph.D ordinances of the University.

I declare to the best of my knowledge that no part of this thesis was earlier submitted for the award of research degree of any University.

P.V.D.Sreedevi

DATE: 8/12/93.

Signature of the Candidate

Name: **P.V.D.SREEDEVI**

Enrolment No: JH 1976

Signature of the Supervisor

for Prof. & Head, Dept. of Hindi
8/12/93

Head of the Department of Hindi
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

K K Ranganathan

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES,
University of Hyderabad,
Hyderabad-500 134

Dean of the School of Humanities

SUPERVISOR'S CERTIFICATE

This is to certify that **Smt.P.V.D.SREEDEVI**, M.A., M.Phil., is a bonafide student of the Department of Hindi, University of Hyderabad, and the thesis entitled **JAYASANKARA PRASAD KE SAHITYA ME AITHIHASIKA CHETANA** is a bonafide record of the research work done under my supervision for the award of Ph.D. Degree.

SUPERVISOR

Hyderabad

Date: 8/12/93

Dr. S.C.KUMAR
Reader, Dept. of Hindi
University of Hyderabad
Hyderabad - 500 134

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में जयशंकर प्रसाद का विशिष्ट स्थान है। भारतेन्दु, प्रेमचन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल के साथ वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के पाँचवे बड़े साहित्य महारथी थे। साहित्य की विभिन्न विधाओं में लिखते हुए उन्होंने हिन्दी गद्य तथा नाट्य भाषा को ही नहीं माँजा-सँवारा और परिनिष्ठित बनाया बल्कि काव्य-भाषा को भी सूक्ष्म अंकन के द्वारा अपूर्व लाक्षणिक गरिमा प्रदान की। अपनी परम्परा, संस्कृति और इतिहास से प्रसाद का गहरा लगाव था। वे भारतीय इतिहास के सजग अध्येता और गहरे जानकार थे। उनकी ऐतिहासिक चेतना केवल नाटकों में ही नहीं, काव्य, कहानी, उपन्यास और निबन्ध आदि के सृजन में भी गहराई से अनुस्यूत मिलती है। इतिहास के प्रति प्रसाद का बहु-पहलीय एवं बहु-स्तरीय रूप दिखायी पड़ता है। अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने अतीत के गौरव, राष्ट्र प्रेम, सभ्यता और संस्कृति आदि के उज्ज्वल रूप की पहचान हिन्दी साहित्य के पाठकों को दी है। वर्तमान समय की समस्याओं का समाधान अतीत की स्थितियों में ढूँढने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है और इसमें बहुत-कुछ सफल भी हुए हैं।

प्रसाद की बहुमुखी प्रतिभा एवं उनकी "भारतीय मानसिकता" ने मुझे हमेशा आकृष्ट किया है और इस आकर्षण के कारण ही उनकी ऐतिहासिक चेतना को मैं ने अपने शोध-विषय के रूप में चुना। यह कार्य विशद और चुनौती भरा होने के बावजूद प्रसाद की रचनात्मकता को समझने की एक महत्त्वपूर्ण कुंजी हासिल करने जैसा आकर्षक भी लगा है।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस शोध विषय को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय है - 'ऐतिहासिक चेतना के सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद

की मानसिकता की बुनावट । " इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक चेतना को समझने के क्रम मे कई बातों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है जैसे इतिहास क्या है ? इतिहास बोध किसे कहते हैं ? ऐतिहासिक तथ्य तथा इसे चुनने मे इतिहासकार का दायित्व क्या है ? साहित्य, इतिहास, समाज और संस्कृति का अन्त: सम्बन्ध किस प्रकार का है ? इन सभी के आधार पर स्पष्ट किया गया है कि प्रसाद की इतिहास दृष्टि कुलमिलाकर व्यक्ति से अधिक समाज को महत्व देती है । वे अतीत को जीवन्त प्रवाह के रूप में देखते हुए वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए प्राय: उसे ही स्वीकार लेते हैं ।

द्वितीय अध्याय है - " ऐतिहासिक चेतना का सन्दर्भ और जयशंकर प्रसाद का काव्य। चित्राधार, कानन कुसुम, लहर, आँसू, झरना और कामायनी इनके प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण काव्य संग्रह हैं । इनकी अधिकांश कविताओं में प्रकृति के सजीव चित्रण के साथ ही सामाजिक चेतना का कहीं सांकेतिक तथा कहीं अत्यन्त मुखर चित्रण हुआ है । महाराणा का महत्व, अशोक की चिन्ता, शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया आदि कविताओं में ऐति - हासिक चेतना का प्रखर रूप मिलता है । अयोध्या का उद्धार, वनमिलन, भरत जैसी पौराणिक वस्तु को लेकर लिखी गयी कविताएँ भी है जिनमें सूक्ष्म तौर पर वर्तमान की दुर्दशा का समाधान भी निहित है । " कामायनी " उनकी सर्वश्रेष्ठ काल कृति है जिसमें मनु, श्रद्धा, इडा जैसे प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा मानवता का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया गया है । स्वयं कवि ने इस कथा की प्रामाणिकता पर बल दिया है, पर साथ ही यहाँ कल्पना से भी काम लेने की बात कही है । आधुनिक लोमक कामायनी की विविध प्रकार से व्याख्या करते हैं । कोई इस मे रूपक को महत्व देता है तो कोई मनोविज्ञान को । कोई इस में सभ्यता-विकास देखता है तो कोई संस्कृतितत्था । मार्क्सवादी आलोचना ने यहाँ पूँजीवादी सभ्यता के उदय होने तथा अस्तमित सामन्ती व्यवस्था के संक्रमण काल का अंकन महसूस किया है । कामायनी का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने पर प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का रोचक पहलू सामने आता है । इस संदर्भ में मुक्तिबोध का विश्लेषण महत्वपूर्ण है ।

तृतीय अध्याय है -- 'प्रसाद के गद्य साहित्य में ऐतिहासिक चेतना । छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल इनके पाँच कहानी संग्रह हैं। जिनमें प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित कहानियों { प्रलय, चित्र - मंदिर } से लेकर अंग्रेजी शासन तक की { मधुआ, गुण्डा, विराम चिह्न आदि } कहानियाँ संकलित हैं । अशोक, चक्रवर्ती का स्तम्भ और देवरथ में मौर्य शासन का, सिकन्दर, दासी में तुर्क लोगों के आक्रमण का सलीम, गुलाम, ममता, जहाँनारा, शरणागत, नूरी में मुगलकालीन शासन का ऐतिहासिक समय वर्णित है । वर्तमान की अनेक समस्याओं का समाधान प्रसाद अतीत के फलक में देख रहे थे । प्रसाद के निबन्ध-साहित्य में भी बहुत गहरे में, उनकी ऐतिहासिक चेतना सूक्ष्मतः प्रवाहित है । विषय की दृष्टि से - देशकाल की चेतना से संबंधित लेखों का एक;और साहित्य की चेतना से संबंधित लेखों का दूसरा, ये दो प्रकार हैं। आदि पुरुष मनु और आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध जैसे लेख पहले प्रकार के हैं और काव्य और कला सम्बन्धी विषय दूसरे प्रकार में है । इन सभी का क्रम के अनुसार अध्ययन किया गया है [उनके उपन्यास साहित्य में कंकाल और तितली में आधुनिककालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है । अपूर्ण उपन्यास " इरावती " में शुंगवंश कालीन शासन का अधूरा ऐति - हासिक चित्रण हुआ है ।

चतुर्थ अध्याय है " प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक चेतना । उनके नाटकों में इतिहास का अधिकतर उपयोग ऐतिहासिक तथ्यों के अनुरूप किया गया है । विषयवस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिक वस्तुवाले नाटक { अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री } इतिहास का आभास देनेवाले नाटक { कल्याणी परिणय, विशाख, प्रायश्चित्त } काल्पनिक वस्तुवाला प्रतीक नाटक कामना, समसामयिक भावों वाला काल्पनिक नाटक { एक घूँट } और पौराणिक नाटक सज्जन, करुणालय, जनमेजय का नागयज्ञ, इन सभी में प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना को उपलब्ध किया जा सकता है ।

अन्तिम अध्याय " उपसंहार " में इन सभी विवेचनों, व्याख्याओं आदि का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है । प्रसाद ने इतिहास को केवल अतीत के (निरपेक्ष) रूप में नहीं देखा है बल्कि उसे वर्तमान की आँखों से भी देखा है । अन्त में सहायक ग्रंथों की सूची दी गयी है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आरम्भ से लेकर प्रस्तुतीकरण तक मुझे शोध-निर्देशक आदरणीय डा॰ सुवास कुमार जी का मार्ग-दर्शन और निरन्तर प्रेरणा मिलती रही है । उनके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ ।

विभागाध्यक्ष डा॰ शशि मुदिराज तथा हिन्दी विभाग के अध्यापकों तथा कर्मचारियों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ ।

इस कार्य को सफलता पूर्वक आगे बढ़ाने मे मेरे परिवार के सदस्यों का बहुत बड़ा योगदान रहा । विशेषकर मेरे पति श्री जी॰वी॰स्वामी, मेरे बड़े भाई सोमशेखर, भाभी प्रमीला और मेरी बेटी मन्जूवाणी की विविध प्रकार की सहायता हमेशा मुझे मिलती रही । उनकी आत्मीयता के प्रति मन ही मन प्रेमपूर्वक आभार महसूस करती हूँ । इस शोध कार्य संपन्न होने मे विजयवाडा सप्तगिरि जूनियर कलाशाला के प्रिन्सिपल श्री जॉन और अन्य सदस्यों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है । उन सबके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ । मेरे विभाग के मित्र डा॰पद्मनाभराव के प्रति भी आभारी हूँ जिसने अन्त में आवश्यक मदद की ।

अन्त मे अस्थाना जी को मैं धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने समय पर मेरे शोध प्रबन्ध को टंकित करके दिया है । प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जिन लोगों की सहायता मुझे मिली है उन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती हूँ ।

पी.वी.डी. श्रीदेवी.

हैदराबाद — पी॰वी॰डी॰श्रीदेवी

तिथि : 8/12/93.

विषय - सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय :

ऐतिहासिक चेतना के सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद की मानसिकता की बुनावट : 10 - 77

1. इतिहास और ऐतिहासिक चेतना ...
2. इतिहास-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि ...
   (i) इतिहास और साहित्य का समाज से सम्बन्ध तथा सामाजिक सन्दर्भों में इनकी भूमिका ...
   (ii) इतिहास, साहित्य और संस्कृति - उनका अन्तः सम्बन्ध ...
3. अनुमान, कल्पना, तथ्य, ऐतिहासिक सत्य और साहित्यिक सत्य ...
4. जयशंकर प्रसाद की इतिहास - दृष्टि ...
5. छायावादकालीन परिस्थितियाँ और प्रसाद साहित्य ...

द्वितीय अध्याय :

ऐतिहासिक चेतना का सन्दर्भ और जयशंकर प्रसाद का काव्य 78 - 136

1. भारतेन्दु और द्विवेदी युग की हिन्दी कविता का समाज बोध और इतिहास बोध ...
2. छायावादी कविता की सामाजिक और ऐतिहासिक चेतना ...
3. जयशंकर प्रसाद की कविता में ऐतिहासिक चेतना का स्वरूप :

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
(क)	मुक्तक कविताओं में ऐतिहासिक चेतना	
	(i) प्रसाद के गीतों में आत्माभिव्यक्ति और प्रेमाभिव्यक्ति तथा समाजबोध ...	
	(ii) इतिहास संबंधी कविताओं में ऐतिहासिक चेतना .	
(ख)	प्रबंधात्मक काव्य में इतिहास चेतना : कामायनी ...	

तृतीय अध्याय :

	प्रसाद के गद्य साहित्य में ऐतिहासिक चेतना की अभिव्यक्ति	137-275
1.	प्रसाद की कहानियों में ऐतिहासिक चेतना ...	
(क)	प्रसाद की कहानियों की इतिहास-दृष्टि ...	
2.	प्रसाद के निबन्ध साहित्य में ऐतिहासिक चेतना ...	
(क)	देशकाल की चेतना से समन्वित लेख ...	
	1. आदिपुरुष ...	
	2. आर्य्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध ...	
	3. उर्वशी ...	
	4. [illegible] ...	
	5. ब्रह्मर्षि ...	
	6. पंचायत ...	
(ख)	साहित्य की ऐतिहासिक चेतना से संबंधित लेख ...	
	1. नाटकों का आरम्भ ...	
	2. रंगमंच ...	
	3. नाटकों में रस का प्रयोग ...	

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
4.	रस	...
5.	काव्य और कला	...
1.	रहस्यवाद	...
2.	कवि और कविता	...
3.	चम्पू	...
4.	आरम्भिक पाट्य काव्य	...
5.	यथार्थवाद और छायावाद	...
3.	प्रसाद के उपन्यासों में ऐतिहासिक चेतना	...
{क}	कंकाल	...
{ख}	तितली	...
{ग}	इरावती	...

चतुर्थ अध्याय

प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक चेतना का स्वरूप और उसकी समीक्षा 276-415

1.	प्रसाद के नाटकों का इतिहास परक महत्व	...
2.	प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण	...
{अ}	कथावस्तु पर आधारित वर्गीकरण :	
	शुद्ध ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक काल्पनिक - रूपानन्द, पौराणिक	
{आ}	विषयवस्तु परक वर्गीकरण :	
1.	ऐतिहासिक कथावस्तुवाले नाटक	...
2.	इतिहास का आभास देनेवाले अर्ध - ऐतिहासिक तथा काल्पनिक नाटक :	...

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
	[क] अर्ध ऐतिहासिक नाटक	...
	[ख] काल्पनिक वस्तुवाले नाटक	...
	[ग] समसामयिक भाववाला काल्पनिक नाटक	...
3.	पौराणिक कथावस्तु वाले नाटक	...
	[इ] ऐतिहासिक कथावस्तुवाले नाटक :	
	[क] देशप्रेम और देश गौरव की भावना	...
	[ख] परम्परा की पहचान और उससे प्रेरणा ग्रहण	...
	[ग] नाट्य-शिल्प तथा इतिहास-विषयक चूक	...
	[घ] अतीत की भूलों से शिक्षा	...
	[च] ऐतिहासिक तथ्यों का तटस्थ अनुसंधान	...
	[छ] पूर्व इतिहासकारों की त्रुटियों तथा भ्रमों का परिमार्जन	...
	[ज] आदर्शवादी दृष्टिकोण की सीमाएँ	...
	[ई] इतिहास का आभास देनेवाले ऐतिहासिक तथा काल्पनिक नाटक :	...
	[क] अर्ध ऐतिहासिक नाटक [कल्याणी परिणय, विशाख, प्रायश्चित्त]	...
	[ख] काल्पनिक वस्तुवाले प्रतीक नाटक [कामना]	...
	[अ] प्रतीक	
	1. मनोवैज्ञानिक प्रतीकों की अभिव्यक्ति	...
	2. भावनामय प्रतीकों के माध्यम से मानव सभ्यता के विकास का चित्रण	...
	[आ] यथार्थ बनाम आदर्श	...

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
	(ग) समसामयिक भावोंवाला काल्पनिक नाटक (एक घूँट)	...
(उ) 3.	पौराणिक नाटकों में ऐतिहासिक चेतना की अभिव्यंजना :	...
	(क) पुराण और इतिहास	...
	(ख) पुराणों, धर्मग्रन्थों आदि के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण	...
	(ग) पौराणिक कथाओं का वर्तमान सन्दर्भ	...
पंचम अध्याय :		
	उपसंहार	416 - 419
	सहायक ग्रन्थ :	420
	परिशिष्ट - 1 आधार ग्रन्थ	
	परिशिष्ट - 2 सहायक ग्रन्थ	
	(अ) हिन्दी	
	(आ) अंग्रेजी	
	परिशिष्ट - 3 पत्र-पत्रिकाएँ आदि	

प्रथम अध्याय

ऐतिहासिक चेतना के सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद की मानसिकता की बुनावट

इतिहास :-

साधारणतया " किसी देश, समाज और संस्कृति, व्यक्तियों, घटनाओं आदि का कालक्रमानुसार विवरण और विवेचन संबंधी शास्त्र "[1] इतिहास कहा जाता है । "इतिहास क्या है" की स्पष्ट परिभाषा देना आसान नहीं है । क्यों कि इतिहास मनुष्यों के क्रियाकलापों के विवरण या व्याख्या का नाम है अतएव वह अनिवार्यतः सब मनस्तात्विक और सांस्कृतिक प्रश्नों या उपकरणों को समेट लेता है । कहा जाता है कि " इतिहास प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित मानव सभ्यता का एक क्रमबद्ध दस्तावेज तथा उनके कारणभूत तथ्यों के प्रमाणों का विवरणमात्र है ।[2]

प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति का अपना इतिहास होता है, यहाँ तक कि इतिहास का भी एक इतिहास होता है । कोई भी इतिहास एकाएक अपने विकास की चरम स्थिति तक नहीं पहुँच पाता-इसके लिए एक या अनेक इतिहासकारों को क्रमशः सामग्री संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, संश्लेषण आदि की विभिन्न प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है ।[3] इतिहास के इतिहास को देखें तो यह स्पष्ट होता है कि हिस्ट्री शब्द की प्रयुक्ति सबसे पहले ग्रीक भाषा में हुई[4] और इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग व्यक्ति

---

1. आधुनिक शब्द-कोश, गोविन्द चातक - पृ. 78 .
2. History, a record of past events, usually a written account of the development of human civilization arranged chronologically and including an explanation of how and why the events occured. - New standard Encyclopædea, HIJ, H - 1183.
3. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचन्द्र गुप्त, प्राक्कथन से
4. History is a Greek word, meaning simply an investigation or inquiry. - The idea of History, collingwood. P.18-19.

इतिहास के जनक हेरोदोतस ने किया ।[1] हेरोदोतस (450 बी॰सी॰) के अनुसार "इतिहास का उद्देश्य मानव कार्यकलाप का अध्ययन करना है । .... इसका कार्य अतीत के आलोक में भविष्य की खोज करना है और मनुष्य को मार्ग दिखाना है । इतिहास शब्द का अर्थ ही अनुसन्धान है, अतः इतिहास मुख्यतः एक खोज है, गवेषणा है ।"[2] इतना ही नहीं इन्होंने इतिहास को गति और प्रवाह को मानवीय प्रगति के सन्दर्भ में पहचान लिया था । गतिशीलता के बिना विकास सम्भव नहीं है । वस्तुतः उद्भव और नाश की शृंखला का नाम ही गति है । जो वस्तु जिस रूप में उत्पन्न होती है, वैसी ही नहीं रहती । साहित्य के इतिहास में भी एक परम्परा के विनाश के गर्भ में दूसरी परम्परा जन्म लेती है । यह क्रम निरन्तर चलता रहता है ।

Thucycidus (471-395 बी॰सी॰) ने इतिहास में भौगोलिक (Geography) को प्रधान माना है और सर्व प्रथम इन्होंने पेलोपोनिसयस युद्ध का वर्णन किया है ।

इतिहास मनुष्य का नहीं, मनुष्य इतिहास का निर्माण करता है । इसको स्पष्ट करते हुए इटली के विद्वान वि्को (Giambattista vico, 1668-1744)[3] का कहना है कि इतिहास का निर्माण स्वयं मनुष्य है, और मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ सदा समान रहती हैं, अतः विभिन्न

---

1. Herodotus is called the 'Father of History'_ New standard Encyclopfdea, HIJ, H -1185

2. इतिहास दर्शन - बुद्ध प्रकाश - पृ॰ 68॰

3. Vico is chiefly known as the propounder of a cyclical theory of history theories of History, Patric Gardner, P.10.

युगों में भी समान प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है ।[1] उनका और भी कहना है कि इतिहास चक्रवत् घूमता रहता है - अतः उसमें विभिन्न परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों का आगमन होना स्वाभाविक है ।[2] जर्मन दार्शनिक कान्ट (Immanuel Kant, 1798-1857) ने इतिहास की नयी व्याख्या की । "इतिहास की घटनाओं को आकस्मिक न मानकर नियमबद्ध तथा आन्तरिक प्रवृत्तियों से सुसम्बद्ध रूप में मानते थे । ..... इतिहास की घटनाओं के पीछे भी प्रकृति के नियम कार्य कर रहे हैं ।"[3]

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल ने (George Wilhelm-Friederich Hegel 1770-1831) अपनी आत्मवादी धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है -- " इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कार्य-कारण की श्रृंखला विद्यमान है ।[4] इतिहास केवल घटनाओं का निश्चय नहीं करता अपितु उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन भी करता है । इसी विकास सिद्धान्त में उन्होंने तीन पक्षों को उद्घाटित किया है - वाद (Thesis) प्रतिवाद (Antithesis), और समवाद या समन्वय (Synthesis) जब किसी भी विचार या तत्व का विकास होता है तो उसका विरोधी विचार उत्पन्न होता है और अन्त में दोनों संघर्ष करते हुए एक तीसरे तत्व में समन्वित हो जाते हैं, क्रमशः इसी प्रकार वाद, प्रतिवाद एवं समवाद के रूप में प्रगति की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसे द्वन्द्वात्मक (Dialectic) प्रक्रिया कहते हैं ।"[5]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, गणपतिचन्द्र गुप्त - पृ.19.
2. This cyclical mavement is not a mere rotation is of history through a cycle of fixed phases, it is not a cycle but a spiral; for history never repeats it self-differential by what has gone before. The idea of history, collingwood. P.68.

3.4.5. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचन्द्र गुप्त - पृ.20.

चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin 1809-1882) के struggle for existence; survival of the fittest सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के संघर्ष में योग्यतम तथा शक्तिशाली प्राणी जीवित रहते हैं, शक्तिहीन प्राणियों का नाश हो जाता है या वे शक्तिशाली प्राणियों के अधीन बनकर रह जाते हैं । यही सिद्धान्त आगे चलकर मार्क्स के आर्थिक व्यवस्थापरक सिद्धान्त से मिलकर समाज में वर्ग-भेद, वर्ग-संघर्ष तथा क्रान्ति का मूलाधार बन गया है ।

कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने हीगेल की आत्मवादी द्वन्द्वात्मकता का विश्लेषण-विवेचन करते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विकास की व्याख्या प्रस्तुत की । इसके अनुसार सृष्टि का विकास भौतिक या प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा ही द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है । उन्होंने मानव-सभ्यता के इतिहास को चार युगों में - दासता का युग, सामन्तवादी युग, पूँजीवादी युग और साम्यवादी युग में बाँटते हुए समाज की उत्पादन-शक्ति एवं वर्ग-संघर्ष के आधार पर उसकी व्याख्या की । उनका और भी कहना है कि मानव इतिहास को समझने के लिए उत्पादन तथा विनिमय के साधनों को समझना आवश्यक हो जाता है । मानवीय इतिहास का स्वरूप आर्थिक साधनों के परिप्रेक्ष्य में निर्मित तथा विकसित होता है ।

क्रोचे (Croce 1866-1952) का आशय है कि घटनाएँ तथा विचार सभी इतिहास प्रवाह के अभिन्न अंग हैं । उनकी स्थापना यह है कि वर्तमानकालीन जीवन से संबंधित होने के कारण इतिहास सदैव समसामयिक होता है एवं समसामयिकता की यही विशिष्टता उसे इतिहास से पृथक रखती है ।

जर्मनवेत्ता आस्वाल्ड स्पेंगलर {1880-1936} के अनुसार स्पष्टत: एक सीमा तक प्रत्येक मनुष्य अपने सम्पूर्ण अस्तित्व एवं चेतना सहित इतिहास का अंग है। इनका विकास-प्रक्रिया-सिद्धान्त "सांस्कृतिक चक्रवाद" कहलाता है। इसके अनुसार प्रत्येक सभ्यता अथवा संस्कृति एक सजीव प्राणी की तरह जन्म लेती है, विकसित होती है तथा विघटित होकर नष्ट हो जाती है।

टायनबी { Arnold Toynbee } के अनुसार समाज के सामने किसी भी प्रकार की चुनौती होने पर वहाँ उसका प्रत्युत्तर हो जाता है। समाज में सृजनशील अल्पसंख्या ऐसे अवसरों पर मार्गदर्शन करती है। सृजनशील अल्पसंख्या द्वारा दिए गए चुनौती के प्रत्युत्तरों तथा समाज द्वारा उसके अनुकरण के बल पर ही विभिन्न जातियों और सभ्यताओं का विकास एवं ह्रास होता है।

इतिहास के प्रति यदि भारतीय दृष्टिकोण देखें तो वह प्राचीनकाल से लेकर आदर्शमूलक एवं आध्यात्मवादी रहा है। प्राचीन इतिहासकारों ने घटनाओं एवं क्रिया-कलापों की व्यवस्था या भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से विचार कम किया है - समष्टि की दृष्टि से अधिक। इसी के कारण पौराणिकों ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरित्र-गान तथा महाभारत, रामायण आदि - जैसे पुराणों को इतिहास के रूप में स्वीकार करते हुए भी घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व प्रदान किया। आधुनिक दृष्टि के अनुसार इतिहास सम्बन्धी धारणा बदल चुकी है - " इतिहास का नया रूप वही है जो पुराण एवं किंवदंतियों के जाल से मुक्त होकर यथार्थ तथ्यों को अपनाकर विशुद्ध तथ्य के रूप में नया रूप धारण करता है।"[1]

---

1. रचना और आलोचना, देवीशंकर अवस्थी - पृ. 120.

डा॰नगेन्द्र का कहना है कि --"वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के समन्वय का प्रयास किया, जो उसकी परम्पराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जाता है।"[1]

डा॰शम्भुनाथ सिंह के शब्दों में "इतिहास मानव चेतना की सक्रियता का विवेचनात्मक अभिलेख है। मानव चेतना जिस प्रत्यक्ष या परोक्ष क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है उनके समग्र रूप का आकलन ही इतिहास है। अतः इतिहास मानव की विकास-प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।"[2]

अमृतराय के शब्दों में " मनुष्य ही अपने इतिहास का निर्माण करता है और इसी तरह अन्तर्विरोधियों के बीच होकर, उनसे जूझते हुए, वह अपने नए समाधानों की ओर बढ़ता रहता है।"[3]

इस प्रकार इतिहास से सम्बन्धित पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोणों को जान लेने के बाद यह स्पष्ट होता है कि इतिहास का अर्थ केवल विगत घटनाओं या उनसे सम्बन्धित तिथियों और चरित्रों से ही नहीं। आज इसका अर्थ व्यापक हो गया है। इतिहास मुर्दा या निष्क्रिय चीजों से नहीं बनता और इतिहास स्वयं भी बेजान होता है। वस्तुतः इतिहास का मनुष्य से, उसके क्रियाकलापों से गहरा और जीवन्त सम्बन्ध होता है। ई॰एच॰कार का कहना है कि " अतीत, जिसका

1• हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक नगेन्द्र, पृ॰ 39•

2• हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका, शम्भुनाथ सिंह – प्राक्कथन से

3• आधुनिक भाव बोध की संज्ञा, पृ॰ 15• अमृतराय

इतिहासकार अध्ययन करता है, जो किन्हीं अर्थों में वर्तमान से भी जीवित रहता है ।"[1]

इस प्रकार हम पाते हैं कि मानव समाज में जीवित रहकर ही उसका निर्माण करते हैं । मानव एक ओर ऐतिहासिक गतिविधियों एवं शक्तियों से प्रभावित होता है तथा दूसरी ओर इतिहास के बोध द्वारा उसकी धारा को नए मोड देने को समर्थ होता है । इसलिए मनुष्य इतिहास का दास भी है और स्वामी भी । यह इतिहास मानवीय विकासयात्रा की प्रवाहमानता को रेखांकित करता है । यह अतीत का इतिवृत्त प्रस्तुत करके चुक जानेवाला अनुशासन नहीं है । उसकी मूल चिन्ता उस मानवीय प्रयत्न को उजागर करने की रहती है जो अविश्रान्त अपने विकास पथ पर अग्रसर है । इसे ही इतिहास की प्रवाहमानता कहते हैं । यह इतिहास व्यक्तिगत सफलता-असफलता का भी आकलन नहीं है । वह ऐसे प्रयत्नों का विवेचन-विश्लेषण अवश्य है जिससे मानव-सभ्यता-संस्कृति का विकास प्रभावित होता है । इस दृष्टि से इतिहास आत्मगत बोध नहीं होकर जीवन-बोध है, जो जीवन-संघर्ष से आन्दोलित होता है ।

इतिहास लिखते समय इसको सफल बनाने में इतिहासकार का पूरा दायित्व रहता है क्योंकि इतिहासलेखन आवश्यक रूप से वर्तमान की आँखों और वर्तमान की समस्याओं के प्रकाश में अतीत को देखना है और इतिहासकार का मुख्य कार्य विवरण देना नहीं बल्कि मूल्यांकन करना होता है ।[2]

1· इतिहास क्या है ? - इ·एच·कार, हिन्दी अनुवादक - अशोक चक्रधर, पृ· 17·

2· - वही -

अतीत में जो घटित हुआ है, उसकी पुनःसृष्टि इतिहासकार अपनी रचना में करता है । यह तो स्पष्ट है कि इतिहास एक गतिशील प्रक्रिया है जो युगीन परिस्थितियों के अनुसार चलता रहता है । उन अतीत की घटनाओं या ऐतिहासिक तथ्यों को चुनते समय उनके प्रति इतिहासकार का जागरूक रहना आवश्यक है । इतिहासकार इतिहास को लिखते समय अपनी मौलिक भावनाओं के साथ-साथ अनुमान, तथ्य आदि को भी जोड़ते हुए अपने लेखन को सही और मुकम्मल तस्वीर देने का प्रयत्न करता है । लेकिन वहाँ ऐतिहासिक तथ्य अथवा उसकी प्रामाणिकता को सुरक्षित रखना इतिहासकार का दायित्व है । इतिहासकार समसामयिक परिस्थितियों से प्रेरणा पाकर ही अतीत की ओर उन्मुख होता है । इसलिए इस पुनः सृष्टि में इतिहासकार की अपनी समकालीन स्थिति भी दर्शनीय होती है । इ.एच.कार का कहना है -- "इतिहासकार एक व्यक्ति के रूप में इतिहास और समाज का उत्पादन होता है और इतिहास के विद्यार्थी को उसे उसी दोहरी रोशनी में देखना चाहिए ।"[1] इन विचारों के पीछे मानव ही होता है, मनुष्य ऐतिहासिक परिस्थितियों को नियमित भी करता है । इस तरह से इतिहास मानवी भूलों और उनके सुधार के प्रयत्नों का लेखा-जोखा भी है ।

इतिहासकार अपनी युगीन परिस्थितियों को सामने रखकर ही इतिहास लेखन करता है और साहित्यकार अपने समय का जो अंकन करते हैं, वह इतिहास-सिद्ध होता है । इ.एच.कार का कहना है - "इतिहास का मानव, जिसके कार्यों का अध्ययन इतिहासकार करता है समाज से विच्छिन्न कोई अकेला व्यक्ति नहीं होता और न ही उसके कार्यव्यापार शून्य में घटित होते हैं । उन सभी मानवों ने, जिनके कार्यों का अध्ययन इतिहासकार

---

1. इतिहास क्या है - इ.एच.कार. हिन्दी अनुवादक अशोक चक्रधर - वही - पृ. 45.

करता है, एक विगत समाज के सन्दर्भ तथा प्रेरणा से अपने कार्य किये है।"[1]

इस प्रकार इतिहास का सम्बन्ध वर्तमान के आलोक में अतीत के ज्ञान से है। हर एक इतिहासकार का इतिहास अध्ययन करने की विधा या दृष्टिकोण अलग-अलग होता है। यह स्पष्ट है कि इतिहासकार की इतिहास के प्रति दृष्टिकोण की भिन्नता उनकी अध्ययन-पद्धति या रचना पद्धति पर निर्भर होती है। इसके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कहना है -- "इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किन्तु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग किस प्रकार करते हैं।"[2]

जहाँ अतीत की घटनाओं का अध्ययन भावनात्मक दृष्टिकोण से करते हुए उससे सम्बन्धित अनुभूतियों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का लक्ष्य रहता है, वहाँ वह अध्ययन "साहित्यिक" कहा जा सकता है। किन्तु जहाँ ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं के आधार पर नैतिक एवं धार्मिक तत्वों का प्रचार करना लक्ष्य होता है, उसे हम साहित्य के क्षेत्र में नहीं रखते। जब इतिहास का अध्ययन बौद्धिक दृष्टिकोण से करते हुए उसका विश्लेषण तर्क-संगत रूप में किया जाता है तो वह "वैज्ञानिक इतिहास" कहा जाता है। साहित्यकार इतिहास की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए उसे अपनी कल्पनाओं से रचता है।

---

1. इतिहास क्या है - इ० एच० कार० हिन्दी अनुवादक - अशोक चक्रधर पृ० 35।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक - नगेन्द्र - पृ० 37।

अनेक विद्वानों ने इतिहास को अपनी-अपनी धारणाओं से देखा है। हैनरीपिरेन जैसे लोगों ने इतिहास को कहानी माना है तो रेनियर, शोले ने राज्य के प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों के चरित्रों को इतिहास माना है। सम्पूर्ण इतिहास को विचारों का संकलन मात्र माननेवाले कालिंगवुड का यही कहना है कि "सम्पूर्ण इतिहास विचार-धारा का इतिहास होता है।"[1] इतना ही नहीं कालिंगवुड और क्रोचे ने इतिहास का सम्बन्ध ज्ञान से माना है। क्रोचे का कहना है -- सम्पूर्ण इतिहास समसामयिक इतिहास होता है। (All history is contemporary history.) क्योंकि इतिहासकार अतीत का अपनी समकालीन दृष्टि से अवलोकन करता है। इ.एच.कार का कहना है कि महान इतिहास तभी लिखा जाता है जब इतिहासकार की अतीत दृष्टि समकालीन समस्याओं की अंतर्दृष्टि द्वारा प्रकाशित हो उठती है।"[2] जब अतीत को और इतिहासकार समकालीन समस्याओं की अंतर्दृष्टि के द्वारा देखता है, वही महान इतिहास कहा जाता है तथा महान इतिहासकार वही है जो किसी निश्चित काल या देश की परिधि से संबंधित नहीं होता।

यह तो स्पष्ट कह सकते हैं कि इतिहास के सभी अध्येताओं पर मार्क्सवादी चिन्तन का गहरा प्रभाव है। उनके अनुसार उत्पादन-प्रक्रिया ही सामाजिक संस्थाओं को जन्म देती है। अतः इतिहास की व्याख्या के लिए आर्थिक स्थितियों पर आधारित श्रेणी संघर्ष की व्याख्या भी आवश्यक होती है। इसी के कारण वर्ग-संघर्षों की उत्पत्ति जन्म

---

1. History is the Knowledge of the past in the present, the self-knowledge of the historians and reliving of the past experiences. The idea of history, collingwood, P.175

2. इतिहास क्या है? - इ.एच.कार हिन्दी अनुवादक अशोक चक्रधर-पृ.37.

होता है और उनके संघर्षों का फलस्वरूप ही हर एक समय नई व्यवस्था का आविर्भाव होता है जिससे इतिहास हमेशा एक अनवरत प्रवाह की तरह आगे चलता रहता है ।[1]

इतिहास अतीत का इतिवृत्त प्रस्तुत करनेवाला अनुशासन नहीं है । उसकी मूलचिन्ता उस मानवीय प्रयत्न को उजागर करने की रहती है जो नदी की तरह अविरल प्रवाहमान है, पारावार की तरह अविश्रान्त अपने पथ पर अग्रसर है । इसे ही इतिहास की प्रवाहमानता कहते हैं ।

यह तय है कि इतिहास के माध्यम से अतीत का वर्तमान से संवाद स्थापित होता है अर्थात इतिहास का वर्तमान में व्याख्या या अनुवाद करता है ।[2] काल क्षणों और मुहूर्तों की अविच्छिन्न कड़ी भूत से भविष्य तक फैली होती है । इतिहास प्रत्यक्षतः भूत और वर्तमान से सम्बद्ध होता है और परोक्षतः भविष्य से भी । जैसा थॉम्पसन[3] का कहना है - इतिहास को एक महान पुल समझा जा सकता है, जो काल की नदी पर मेहराब डालता है तथा भूत एवं वर्तमान को परस्पर संयुक्त करता है । इसीलिए ई.एच.कार ने इतिहास को वर्तमान और अतीत के बीच एक अनवरत संवाद के रूप में वर्णित किया है ।[4] इतिहासकार इस सेतु पर निरन्तर घूमनेवाला प्रकाशस्तम्भ होता है जिसका उद्देश्य अतीत का अवलोकन कराना, वर्तमान को प्रकाशित करना तथा उज्ज्वल भविष्य के लिए दिशा निर्देश करना है । आज का जो वर्तमान है वह बीते कल के संघर्षों का ही फल है तथा जिसे मनुष्य की सामूहिक शक्ति उज्ज्वल भविष्य के लिए

---

1. History is linked to the class struggle.... The dialectical relationship between past and future a combination of unity and struggle, of continuity and change is the very fabric of history.- Pasts and futures of what is history forJean chisneanx. P.12.

2. Prof. Canyers का कहना है 'undertakes to interpret the past to the present. Nature of history, Arthur Marick,P.1

3. James W.Thampson: The history of historical writings (1942) P.3.

4. It is a continous process of 'interaction between the historian and his facts, an unending dialogue between the present and the past.- what is history. E.H.Carr,P.30.

संवारती है। अतः इतिहास व्यक्ति-प्रधान नहीं, समष्टि-प्रधान है।

अब प्रश्न उठता है कि इतिहास के अध्ययन की क्या आवश्यकता है? आज के साहित्य में विकसित नयी-पुरानी अनेक विचारधाराओं के बावजूद साहित्यकार अतीत की ओर क्यों झुक रहे हैं और अतीतकालीन इतिहास को अपनी रचनाओं का आधार क्यों बना रहे हैं? इतिहासकार अतीत को इसलिए ग्रहण करता है कि उसमें वर्तमान स्थितियों के प्रति असंतोष उत्पन्न होता है और साथ ही वह ऐसी परिस्थिति में परिवर्तन चाहता है। इस दृष्टि से इतिहास के प्रति उसके दो तरह के रूप होते हैं। एक ओर वह वर्तमानकाल तथा उसकी समस्याओं की दृष्टि से अतीत को देखता है तथा दूसरी ओर अतीत की तुलना में वर्तमान को। "डेवी" का कहना है - अतीत के प्रति कृपा और पक्षपात न तो अपने आपके लिए और न अतीत के लिए ही है - बल्कि इसका उपयोग ऐसे सुरक्षित तथा सुसंपन्न वर्तमान के लिए करते हैं जो सुखद भविष्य का निर्माण कर सके।[1]

साहित्यकार इसलिए भी इतिहास को ग्रहण करता है कि वह अपने लेखन को भी अतीत, वर्तमान और साथ-ही-साथ भविष्य के सन्दर्भ में रखकर देखता है। वर्तमानकालीन परिस्थितियों के प्रति असहमति और असन्तोष के कारण ही साहित्यकार अतीत की ओर अपनी दृष्टि आकृष्ट करता है। साहित्य रचना करते समय साहित्यकार पर समय और समाज का निर्विवाद रूप से प्रभाव और दबाव पड़ता है। साहित्यकार का दायित्व है कि जिस अतीत की पुनर्रचना वह कर रहा है उसका पूर्ण ज्ञान- उस अतीत से वर्तमान का सामंजस्य-प्राप्त करे तथा अतीत को अपने वर्तमान

Piety to the past is not for its own sake, nor for the past but for the sake of present so secure and enriched that it will create better future.- Human nature and conduct: An introduction to social psychology, Dewy (1922) P.21.

परिदृश्य में कलापूर्ण यथार्थ के साथ रचे । इसीलिए अनेक इतिहासकारों तथा साहित्यकारों ने इतिहास का संबंध समाजशास्त्र, कला और अन्य ज्ञान की शाखाओं से जोड़ा है और इतिहास को अतीत और वर्तमान के बोध हेतु के रूप में देखा है ।

निष्कर्ष : यह कह सकते हैं कि किसी एक चरित्र चाहे वह किसी राजा का ही क्यों न हो, के वर्णन तक ही इतिहास सीमित नहीं रहता । कला में कलाकार की निजी अनुभूति का अभिव्यक्तीकरण होता है, पर इतिहासकार की अनुभूति तथ्यों की प्रामाणिकता के अनुरूप चलती है । द्वन्द्वात्मक रूप से इतिहास काल-सापेक्ष और काल-निरपेक्ष दोनों है । यह अतीत की विषयवस्तु होकर भी एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें उत्पत्ति और नाश दोनों की महत्वपूर्ण पहचान है । एक प्रवृत्ति का नाश हो जाय तो उसकी जगह दूसरी प्रवृत्ति आजाती है । चाक्रिक गति से घूमता हुआ इतिहास कुछ अलग ही ढंग से खुद को दुहराता है - "History repeats it self" के अनुसार नष्ट हुई प्रवृत्ति कभी वर्तमान में प्रकट होती है जिसके समाधान हेतु अतीत की ओर इतिहासकार को झुकना पड़ता है । इसका अर्थ यह नहीं कि अतीत के अध्ययन से वर्तमान समस्या का पूर्ण रूप से समाधान मिल जाय । इसका अर्थ यह है कि वर्तमानकालीन स्थितियों के मूल तथा सूक्ष्म रूप के दर्शन अतीत में मिलते हैं ।

साहित्यकार और इतिहासकार अतीत को पुनः सृष्ट करता है, सृष्ट नहीं । इतिहास वर्तमान को समझने की एक सहायक दृष्टि होती है । ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि से संपन्न व्यक्ति की ऐतिहासिक चेतना भी परिष्कृत और विकसित होगी ।

इतिहास-बोध :-

अतीत की घटनाओं को जान लेना ही नहीं, इतिहास के स्वरूप और गति को समझना, उन्हें पूर्ण रूप से आयत्त कर लेना इतिहास बोध है। " इतिहास बोध " का अध्ययन करते समय पहले यह देखना जरूरी है कि बोध क्या है ? बोध का सम्बन्ध ज्ञान से है।[1] किसी भी वस्तु के प्रति परिचयात्मक चेतना का भाव ही बोध है।[2] ज्ञान और बोध का अन्तर यही है कि बोध की पहुँच ज्ञान से गहरी है। ज्ञान की अनुभूति उभरी होती है। काव्य को पढ़ लेना एवं शाब्दिक अर्थ जान लेना मात्र ज्ञान है, किन्तु जब यह ज्ञान हमारे व्यक्तित्व का अंग बन जाता है, हमारे व्यक्तित्व में ओत-प्रोत हो जाता है, तब वह बोध कहलाता है।

वास्तविकता के चित्रण के लिए साहित्यकार में यह बोध एक अनिवार्य शर्त है। जिस प्रेरणा को साहित्यकार ग्रहण करता है, उसको सही रूप से, अपने मौलिक पर्यवेक्षण के माध्यम से व्यक्त करना साहित्यकार का दायित्व है। इसके लिए साहित्यकार को कालीन परिस्थितियों का बोध रखना आवश्यक है। देशकालिक परिवर्तनों के प्रति सजग दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तनों का परम्परा के परिप्रेक्ष्य में और उसकी तुलना में आकलन इतिहास बोध के लिए आवश्यक है। साथ ही इसकी दिशा वस्तुगत और भविष्योन्मुखी हो। मनुष्य का परिवेश-बोध, इतिहास बोध, धार्मिक बोध, मानवीय चेतना का बोध तथा व्यक्ति की अपनी समाज स्थिति और काल-विशेष से सक्रिय-सजग भाव से जुड़े रहने की प्रवृत्ति ही समष्टि-बोध कहलाता है। यह प्रवृत्ति आदर्शात्मक नहीं बल्कि यथार्थ- दृष्टि सम्पन्न होनी चाहिए।

1. आधुनिक हिन्दी शब्द कोश, गोविन्द चातक, पृ. 384.
2. मानक हिन्दी कोश, भाग 4, पृ. 174

अहम् के माध्यम से अन्तः बाह्य जीवन का सक्रिय रूप से जीने की दृष्टि ही यथार्थ बोध कहलाता है ।[1] यह यथार्थबोध प्राचीन, आधुनिक, समकालीन किसी भी समय का हो सकता है । आधुनिकता बोध अपने समकालीन युग के प्रति जागरूक रहना है । " आधुनिकता का इतिहास-बोध से घनिष्ट सम्बन्ध है । पुरातन युग और ऐतिहासिक बोध को मानसिक स्तर पर भोगकर ही आधुनिकता को प्राप्त किया जा सकता है ।[2] आधुनिकता का अर्थ इतिहास से कट जाना नहीं है, बल्कि " आधुनिकता वह ऐतिहासिक बोध है जो देश-काल से परिवर्तित मानों एवं मूल्यों के प्रति उन्मुख रहती है । "[3] इस तरह इतिहास बोध के भीतर आधुनिक बोध समाहित है । आधुनिक बोध और इतिहास बोध का अन्तर यही है कि " आधुनिक बोध का अर्थ होगा वर्तमान का बोध अर्थात् प्राचीन अथवा मध्यकालीन से भिन्न वर्तमान से सम्पृक्त बोध ।[4] किन्तु यह प्राचीन अथवा परम्परा से सर्वदा विच्छिन्न नहीं हो सकता । आधुनिकता वह ऐतिहासिक बोध है जो देश-काल के परिवर्तित मानों एवं मूल्यों के प्रति उन्मुख रहती है । " वर्तमान के प्रति सजगता " आधुनिक संवेदना की अनिवार्य शर्त है । वर्तमान के प्रति सजगता को " इतिहास बोध " से जोड़कर देखा जा सकता है या अपने पर्यावरण के प्रति सजगता की संज्ञा भी दी जा सकती है ।"[5]

---

1. समीक्षा के नए प्रतिमान : सुखबीर सिंह - पृ. 77
2. समकालीन हिन्दी कविता में जनवादी चेतना, नकछेद, पृ. 11
3. - वही - पृ. 23.
4. आधुनिक बोध और विद्रोह - हरदयाल - पृ. 10.
5. - वही -

अतीत की सारी घटनाओं का ग्रहण इतिहासकार के लिए साध्य नहीं है । केवल सार्थक सप्रयोजन घटनाओं का ही क्रमबद्ध करना है । इतिहासकार उन घटनाओं पर अपनी धारणा का आरोप न लगाकर, उन घटनाओं के आन्तरिक स्वर की अनुगूंज सुनने का प्रयत्न करता है । इसी रहस्योद्घाटन करना इतिहासकार का दायित्व है । वही इतिहास बोध कहलाता है । हर एक साहित्यकार की अपनी एक दृष्टि होती है, जो युगीन स्थितियों के अनुसार परिवर्तित और परिवर्धित होती है । वर्तमान समाज के लिए और उसके भविष्य के लिए इतिहास बोध जरूरी ही है । इतिहास बोध के बिना वर्तमान अपने अच्छे भविष्य का सृजन नहीं कर सकता ।

द्विवेदी जी का कहना है -- " इतिहास, मनुष्य की तीसरी आँख है । .... ईश्वर ने मनुष्य को पीछे की ओर देख सकने वाला नेत्र दिया है और वह है उसका इतिहास बोध । ... आधुनिकता के तीन शर्तें हैं -- एक इतिहास-बोध, दूसरी इहलोक में ही कल्याण होने की आस्था और तीसरी व्यक्तिगत कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण की इच्छा ।"

इतिहास-बोध अतीत की घटनाओं को उसकी जड़ों तक पकड़ने का प्रयत्न करता है । जो घटनाएँ आज हो रही हैं, उनकी बीज अतीत में खोजे जा सकते हैं । मोटे अर्थों में इतिहास अतीत की घटनाओं का आख्यान है तो इतिहास बोध अतीत का वस्तुगत तथा वर्तमान की प्रासंगिकता में परीक्षण - विश्लेषण ।

द्विवेदी का कहना है कि इतिहास केवल ऊपर-ऊपर की वास्तविकता को देखता है । उस अन्तर्निहित सत्य को नहीं देखता है, जो मनुष्य के उत्थान का सहायक हुआ है । .... आज जो मनुष्य है, वह हजार वर्ष पहले भी मनुष्य था । उसमें भी प्रेम था, पीड़ा थी, आकांक्षा थी और अन्याय से

बूझने का प्रयत्न था । जो भावनाएं मनुष्य के भीतर भी हैं, वे किसी न किसी रूप में पहले थीं और उन्होंने इतिहास को रूप दिया ।"[1] इतिहास-बोध इतिहास के भीतर गहरी अन्तर्दृष्टि डालने से पैदा होता है । यह दृष्टि आलोचनात्मक और आत्मालोचनात्मक होती है ।

साहित्यकार युगीन बोध से परिचित होता है । समकालीन परिस्थितियों के प्रति सजग रहने के कारण ही वह अभिव्यक्ति के लिए उत्प्रेरक पाता रहता है ।

यह स्पष्ट हो चुका है कि अतीत की घटनाओं, उनसे संबंधित व्यक्तियों, उनकी जीवनधाराओं का प्रवाह एवं उनके सम्बन्धित परि - स्थितियों का वर्णन इतिहास कहलाता है । मगर इतिहास को केवल ऊपरी दृष्टि से ही नहीं, उसकी गहराई तक पहुंचकर उसको अपने वर्तमान से सम्पृक्त करना इतिहास बोध कहलाता है । अर्थात् इतिहास के प्रति वर्तमान की पैनी दृष्टि ही इतिहास - बोध है । इतिहास के लिए इतिहास लिखते समय अतीत की घटनाओं के गहरे तल तक पहुंचना जरूरी ही है । इतिहास को पूर्ण रूप से, जांचने के लिए ही नहीं, वर्तमान को समझने, जीवन यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए भी इतिहास बोध एक अनिवार्य साधन है ।

1. सारिका (16 Sep. 1979) डा. रणवीर रांग्रा को दिये गये इन्टरव्यू से, पृ. 10.

ऐतिहासिकता - ऐतिहासिक चेतना :-

इतिहास को अगर हम काल-प्रवाह मानें तो ऐतिहासिक चेतना को दिक् काल की पहचान। अगर ऐतिहासिकता के प्रति ध्यान ले तो "आधुनिक हिन्दी शब्द कोश" के अनुसार "ऐतिहासिक" शब्द का अर्थ है -- " इतिहास सम्बन्धी या जिसका वर्णन इतिहास में मिलता हो, इतिहास में वर्णित-ऐतिहासिक है।"[1] निर्मला जैन के अनुसार " साहित्यिक कृति की रचना एक ऐतिहासिक घटना होती है। ... साहित्य एक ऐतिहासिक कला है, अतः वह किसी-न-किसी रूप में हमेशा ऐतिहासिक अध्ययन का विषय होता है"।[2]

साहित्य लिखते समय साहित्यकार पर तत्कालीन युगीन धारा तथा स्थितियों का प्रभाव अवश्य रहता है। इसलिए साहित्य के इतिहासकार के लिए साहित्य धारा और साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रेरक ऐतिहासिक तथा सामाजिक धारणाओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। जीवन की प्रक्रिया को उस काल की पृष्ठभूमि में रखकर अपने कार्यकारण की स्थापना करना ही ऐतिहासिकता कहलाता है। दो विरोधी तत्वों के द्वन्द्व तथा आन्तरिक संघर्ष के कारण ही इतिहास हमेशा परिवर्तनशील होकर, द्वन्द्वात्मक गति से आगे विकसित होती है। यदि किसी घटना के पूर्वापर को छोड़कर उसकी वर्तमान स्थिति पर ही व्याख्या की जाती है तो अतिभौतिकवाद (metaphysical) कही जाती है। घटना के पूर्वापर स्थितियों को दृष्टि में रखकर की जानेवाली व्याख्या द्वन्द्वात्मक (Dialectical) कही जाती है।

---

1. आधुनिक हिन्दी शब्द कोश - गोविन्द चातक - पृ. 122.
2. आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन - निर्मला जैन -पृ. 23.

साहित्य को लिखते समय साहित्यकार को अपनी समकालीन स्थितियों को ध्यान में रखना पड़ता है । इस पर मार्क्स का यही कहना है -- " अपने इतिहास के निर्माण में मनुष्य का हाथ तो अवश्य रहता है परन्तु वह मनमाने ढंग से ऐसा नहीं करता । परिस्थितियों का मनोनुकूल चुनाव उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है, बल्कि बीता हुआ युग जाते-जाते जिन परिस्थितियों को छोड़ जाता है, उन्हीं के अन्तर्गत उसे यह सब करना पड़ता है ।"[1]

ऐतिहासिकता को स्पष्ट रूप देते हुए कहा गया है कि " जब लेखक की कथा अतीत - युगीन इतिहास से संबद्ध रखती है, तो उस कथा का उद्देश्य बन जाता है ऐतिहासिकता ।"[2] इसलिए आज का जागरूक वर्तमान अतीत का परिवर्तित रूप है । अतः वास्तविकता को ग्रहण करना अतीत के गहरे बोध के माध्यम से ही साध्य होता है । साहित्यकार की संवेदना युगीन चेतना के तदनुरूप में चित्रित होती है । तो साहित्य को साहित्यकार के माध्यम से " युगीन सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति" माना जाता है ।

अब प्रश्न उठता है कि चेतना क्या है ? ऐतिहासिक तथा सामाजिक चेतना का अर्थ क्या है ? चेतना वह है जो जीव का ही स्वाभाविक तथा मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाला विचार है । यह कोई

---

1. Men make their own history, but they do not make it just as they please, they do not make it under circumstances chosen by themselves but under circumstances directly encountered, given and transmitted from the past. - Marx Engels selected works, Vol.I, P.225.

2. हिन्दी और मराठी के उपन्यासों का ऐतिहासिक तुलनात्मक विवेचन, भुपटकर, पृ. 13.

लुप्त होने वाली चीज नहीं है, यह सतत परिवर्तनशील है।[1] मार्क्स का कहना है कि "ऐसी कोई अनुभूतियाँ और धारणाएँ देखने में नहीं आई है जो पदार्थ के बिना स्वतः पैदा हुई हो ....[2]

परिवेश और परिस्थितियों के संघर्ष से ही समाज में चेतना की उत्पत्ति होती है। समाज का परिवर्तन उस समाज मे उत्पन्न चेतना से ही सम्भव है। क्यों कि समाज वह है जो व्यक्तियों का ही समूह है। चेतना की उत्पत्ति लोगों के भौतिक कार्यकलाप तथा भौतिक संसर्ग से ही सम्बन्ध रखता है। इसलिए मार्क्स ने कहा है कि "जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता बल्कि चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होता है।"[3]

युगों के बदलने के साथ धारणाएँ और विचारों में परिवर्तन होता है, इसलिए युग के अनुरूप इतिहास का पुनर्लेखन होता है। इतना ही नहीं, युगों के इतिहास को देखें तो यह स्पष्ट है कि जो संघर्ष होते आ रहे हैं वे व्यक्ति तथा समाज के बीच नहीं बल्कि समाज के अन्तर्गत रहनेवाले व्यक्तियों के समूहों के बीच होते हैं। परिवेश और परिस्थितियों के संघर्ष से ही समाज में चेतना की उत्पत्ति होती है। समाज का परिवर्तन उस समाज में उत्पन्न चेतना से ही सम्भव होता है। विजयदेव नारायण साही के शब्दों में

---

1. आधुनिक (हिंदी) शब्द कोश के अनुसार "मन की वह वृत्ति जो जीव को अंतर और बाह्य का ज्ञान कराती है; वह स्थिति जो प्राणी के चेतन होने का प्रमाण देती है। संवेदना, संज्ञा, ज्ञान, प्रतिबोध, सजीवता, बुद्धिमत्ता, तर्कशक्ति, चैतस।" – आधुनिक (हिंदी) शब्द कोश, गोविन्द चातक – पृ. 211.
2. साहित्य तथा कला – मार्क्स एंगेल्स – पृ. 47.
3. साहित्य तथा कला – मार्क्स, एंगेल्स–अनु. प्रगति प्रकाशन, पृ. 50.

" चेतना शब्द में केवल चिन्तन नहीं मानता । अनुभूति को समस्त व्याप्ति दिखाई देती है । केवल विचार नहीं - जिसको अंग्रेजी में कहते हैं -- विश्व दृष्टि । वह सब मैं चेतना के जरिए से निकाल सकता हूँ ।"[1]

जन्म से मनुष्य की चेतना के केन्द्र में वह स्वयं तथा उसका हित होता है । किन्तु परिवेश के प्रभाव-स्वरूप उसकी चेतना का विस्तार धीरे-धीरे होता है । व्यक्ति अपने और समाज के सम्बन्धों के बारे में सतर्क-सचेतन होता है । लेकिन व्यक्ति की चेतना कई कारणों से विस्तृत नहीं होकर स्वकेन्द्रित भी बनी रह सकती है । चेतना का पहला गुण वैयक्तिकता है जो "स्व" से निहित है । हर एक मनुष्य की चेतना उनकी निजी अनुभूति पर आधारित रहती है अर्थात् एक ही घटना को देखने से हर एक मन में अनिवार्यतः एक ही रूप से घटनाएँ उत्पन्न नहीं होती । वे एक दूसरे से भिन्न होती हैं । मगर समूह की भावना की तरह सामाजिक चेतना भी होती है जो परिवेश को प्रभावित करती है । इसी के सन्दर्भ में "अमृतराय" का कहना है -- " परिवेश स्वतः केवल वनस्पति है, उसका जीवन वनस्पति का जीवन है, व्यक्ति की चेतना का योग उसे एक नया जीवन दे देता है, एक नयी अर्थवत्ता, वैसे ही जैसे खेत में बीज पड़ने पर वह खेत एक नए रूप से लहलहा उठता है ।"[2]

जीव वैज्ञानिक चेतना को जीव का अविभाज्य अंग के रूप में, आदर्शवादी धारणा चेतना को "आत्मा" के रूप में भौतिकवादी धारणा के अनुसार चेतना मनुष्य का इन्द्रियजन्य वस्तु और मनोवैज्ञानिक चेतना को

---

1. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, विजयदेव नारायण साही पृ. - 5.
2. आधुनिक भाव बोध की संज्ञा, अमृतराय - पृ. 4

मानसिक प्रक्रिया का रूप दिया है। महावीर दधीची ने वास्तविकता तथा समाज के यथार्थ से चेतना का सम्बन्ध जोड़ते हुए कहा है -- "चेतना का प्रयत्न सदैव यथार्थ को भाव और भाव को यथार्थ बनाने का रहता है।"[1] कोई भी साहित्यकार समाज के यथार्थ से बच नहीं सकता। ऐसी वास्तविकता के चित्रण के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता की चेतना ही नहीं, बल्कि सामाजिक संगठन की चेतना की आवश्यकता होती है। "..... सामाजिक चेतना की एक ऐसी अक्षुण्ण अन्तर्धारा निरन्तर प्रवाहित और विकसित होती चली आयी है, जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता कटकर, छटकर, सिमटकर, घुलकर, सामूहिक मानवता में एकाकार होकर महा - मानवता के महासागर में महामिलन की ओर अनवरत बहती चली आयी है।.... सामूहिकता के लिए वैयक्तिकता के त्याग और महामानवता में उसके समर्पण के लिए व्यक्ति के निरन्तर प्रयास, द्वन्द्व और संघर्ष की अटूट क्रिया परम्परा ही मानवीय सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का इतिहास है।[2]

युग-परिवर्तन के साथ ही युग के निर्धारित मूल्य भी बदल जाते हैं। जब इन मूल्यों की स्वीकृति सामूहिक रूप से हो जाती है तो युग की चेतना का रूप बन जाता है। इस युग चेतना को परिवर्तित और प्रभावित करनेवाले अनेक तत्त्व होते हैं, जैसे आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक। "वर्तमान दुर्दशा व पतन की तीव्र अनुभूति एवं तज्जन्य मर्मान्तक पीड़ा ही किसी राष्ट्र के जीवन में चेतना-संचरण के

---

1. आधुनिकता और भारतीय परम्परा, महावीर दधीची - पृ.12.
2. नए विचार - नई दृष्टि, इलाचन्द्र जोशी - पृ. 28.

प्रथम सोपान है ।"[1] इसी प्रकार इसके लिए इतिहासकार को उत्तरदायित्व कहते हुए ई॰एच॰कार ने कहा है -- " इतिहासकार अन्य व्यक्तियों को तरह एक सामाजिक स्थाकार है । वह एक साथ हो जिस समाज मे रहता है उसका उत्पाद तथा उसका चेतन-अचेतन प्रवक्ता दोनो हो होता है ।[2] इतिहास और चेतना का सम्बन्ध इस प्रकार होता है कि मनुष्य अनेक विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों तथा विभिन्न समाजों में विकसित हुआ है । इस विकास का एक कालक्रम है, उसे इतिहास कहा जाता है । उन्होंने अपने जोवन-विकास का दर्शन स्वयं प्रस्तुत करता है, यह उसको चेतना का प्रमाण है । मानव चेतना मानव के अनुभव संसार को चीज है । जोवन, युग और परिवेश के आकर्षण - विकर्षण तथा घात-प्रतिघात से चेतना शत-प्रतिशत प्रभावित होती है - वस्तुत: इन्हीं के बोच मानव चेतना का विकास भी होता है । इतिहास आत्मनिष्ठ चेतना से संबंधित है । इतिहासकार के लिए सामाजिक चेतना का सृजन रहना अनिवार्य है जिससे उनको ऐतिहासिकता को वृद्धि होती है । इ॰एच॰कार का कहना है कि इतिहास के सम्यक् एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ऐतिहासिक कार्यकलाप तथा विकास में निहित कार्य कारण के सम्बन्ध का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है । वस्तुत: इतिहास का अध्ययन कारणों का अध्ययन है ।"[3] कारण और कार्य का सम्बन्ध क्रियात्मक है । एक कारण जिस कार्य को जन्म देता है, वह कार्य अन्य कार्य का कारण बन जाता है । इन दोनों का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है ।

1· छायावादो काव्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना, रवीन्द्रनाथ दरगन-पृ॰ 65·
2· इतिहास क्या है -- ई॰एच॰कार॰ अनु॰ अशोक चक्रधर - पृ॰ 35·
3· इतिहास क्या है - ई॰एच॰कार॰ - पृ॰ 89·

समाज में जो परिवर्तन आते हैं, मानव ही उनका उत्तरदायी है। समाज में रहनेवाले व्यक्तियों के सामूहिक संघर्षों से ही समाज की चेतना परिवर्तित होती है। फिर तो युगीन स्थितियों में भी परिवर्तन आ जाता है। युगीन परिस्थितियों के अनुसार युगीन धारणाएँ और विचार परिवर्तित होते हैं और उसी के अनुसार इतिहास का पुनर्लेखन होता है। कहने का मतलब यह है कि साहित्यकार अपनी वर्तमान कालीन दृष्टि से अतीत को देखता है और अपने समय की माँग के अनुरूप उसको पुनःसृष्ट करता है। उसका अर्थ यह नहीं कि इतिहास का पुनर्लेखन करते समय साहित्यकार अपनी इच्छा के अनुसार उसमें परिवर्तित ला सके। इतिहास के मूल में जो तथ्य रहते हैं, उनमें कोई परिवर्तन साहित्यकार नहीं कर सकता है, लेकिन उन तथ्यों की कारणभूत घटनाओं के वर्णन में स्वतंत्रता ले सकता है। इसलिए किसी भी इतिहास की यदि पुनःसृष्टि की जाती है तो उसमें साहित्यकार की अपनी युगीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप मिलती है। रामदरश मिश्र का कहना है -- " युगीन चेतना केवलमात्र ओढ़ी हुई कोई चीज नहीं है, वह ऐतिहासिक सन्दर्भ में पूरे समाज के जीवन के मूल्य और प्रणाली को प्रभावित करनेवाली नवीन दृष्टि है।"[1]

अतीत का जो रूप साहित्यकार, चित्रित करता है तो वह अतीत का पुनः सृजन का पुनर्मूल्यांकन ही होता है। इतिहास में वस्तुतः अतीत और वर्तमान दोनों की सत्ता होती है। डा•नामवरसिंह की धारणा के अनुसार अतीत और वर्तमान के इस दुहरे व्यक्तित्व को, उनकी पृथक वर्तमानता और उनकी एकसूत्रता को, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है।"[2]

1• आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और दृष्टि - रामदरश मिश्र - पृ•11
2• इतिहास और आलोचना - नामवर सिंह - पृ• 160•

वास्तव में लेखक अपने वर्तमान जीवन और समाज की वास्तविकता को नकार नहीं सकता है। वर्तमान की वास्तविकताओं के बिम्ब रचनाकार की कृतियों में उपस्थित होते रहते हैं। युद्ध, अत्याचार, बर्बादी, अकाल आदि के समय में लेखक की मानसिकता का प्रभाव अतीत के पर्यवेक्षण पर भी पड़ सकता है। अतः इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता बनी रहती है। साहित्य भी अपना प्रभाव समाज पर डालता है। समाज की मानसिक बनावट में उसकी भी भूमिका होती है। अतः इतिहास के प्रति भी समाज का एक खास समय और परिस्थिति में खास किस्म का रुख होता है।

आधुनिकता एक ऐसी ऐतिहासिक चेतना है जो मानवी अतीत और भविष्यत् के साथ जुड़ी हुई है। आधुनिकता वही है जो इतिहास चक्र को दुहराता है।

ऐतिहासिक चेतना के माध्यम से साहित्यकार यह जान लेने का प्रयत्न करता है कि अतीत के अंश किस हद तक वर्तमान के लिए उपयुक्त है। यदि साहित्यकार को यह अतीतकालीन बोध नहीं है तो वर्तमान - कालीन स्थिति की वास्तविकता को पकड़ नहीं सकता। यह बोध वर्तमान की गहरी पकड़ से जुड़ा हुआ है। अतः अतीत बोध वर्तमान बोध से निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह नहीं कि अपनी युगीन चेतना का सम्पूर्ण रूप साहित्य में स्पष्ट हो। रचनाकार का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, फिर भी उस पर एक सामाजिक वातावरण का प्रभाव अनिवार्यतः छाया रहता है। यह स्पष्ट है कि रचनाकार अपनी युगीन चेतना को अपनी मौलिकता के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, किन्तु युगीन चेतना रचनाकार की व्यक्तिगत कमाई नहीं होती। रचनाकार अपने लेखन में एकान्त निजी अनुभूति को निरपेक्ष रूप में नहीं अंकित करता। वह वैसी अनुभूतियों

की अभिव्यक्ति करता है जिन्हें सामाजिक अनुभूति कह सकते हैं । साहित्यकार की निजी संवेदना सामाजिकता का स्पर्श पाती है । रचनाकार के अपने समय और परिस्थिति की सही पहचान ही साहित्य मे युगीन सामाजिक चेतना कहलाता है । अतीत की तत्कालीन चेतना को वर्तमान सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में पहचानना ही ऐतिहासिक चेतना है ।

तथ्य और ऐतिहासिक तथ्य :-

सर्वांगीण रुप से किसी वस्तु को देखने से हमारे मन में उसके अस्तित्व के प्रति जैसा अनुभव होता है, वे अनुभव ही तथ्य कहलाते हैं। ये तथ्य चीजों की वास्तविक अवस्था को घोषित करते हैं । साहित्यकार उन तथ्यों से अपने बोध के अनुसार जो निष्कर्ष निकालता है, वह सत्य है । तथ्य और सत्य से सम्बन्धित साहित्य ही यथार्थ साहित्य कहलाता है ।

Oxford Shorter English Dictionary के अनुसार तथ्य है -- " अनुभव के वे आंकडे जो निष्कर्ष से भिन्न होते हैं।"[1]

" आधुनिक हिन्दी शब्द कोश " के अनुसार तथ्य है -- " वास्तविकता, यथार्थ, सच्चाई, सत्य ।"[2]

देखा जाए तो ये तथ्य भी दो प्रकार के होते हैं -- कठोर तथ्य और कोमल तथ्य । इतिहास-लेखन में इन दोनों प्रकार के तथ्यों का उपयोग किया जाता रहा है । कठोर तथ्यों का उपयोग करते समय इतिहासकार अपनी

---

1. A datumn of experience as distinct from conclusion.
 - What is history, E.H.carr P.9.

2. आधुनिक हिन्दी शब्द कोश : गोविन्द चातक - पृ. 253.

इच्छा के अनुसार उनमें परिवर्तन नहीं कर सकता । कोमल तथ्य जो हैं वे कठोर तथ्यों की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त होते हैं, मगर जिनमें इतिहासकार मूल तथ्य की रक्षा करते हुए परिवर्तन कर सकता है ।

तथ्य विशेषतया अतीत से संबंध रखते हैं, परवास्तव में अतीत के तथ्य जीवित तथ्य होते हैं, क्योंकि वे इतिहास से संबद्ध रहते हैं। इतिहासकार अपने इतिहासलेखन के लिए किस प्रकार के तथ्यों का चुनाव करें, किस प्रकार उनकी न्यायसंगत व्याख्या करनी है, ये सभी बातें इतिहासकार की मानसिकता पर निर्भर हैं । इसलिए तथ्यों के चयन में भी इतिहासकार के व्यक्तित्व की छाप पड़ती है । तथ्यों की छानबीन, उनको सन्दर्भयुक्त करना, उनके प्रति तटस्थ रहना आदि बातें इतिहासकार की जिम्मेदारी महसूस करने की क्षमता तथा उसकी योग्यता पर निर्भर करती हैं।

इतिहासकार वर्तमान का अंग होता है जबकि उसके तथ्य अतीत के। इ॰एच॰कार का कहना है - "इतिहासकार और इतिहास के तथ्य एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं । तथ्यों से विहीन इतिहासकार बिना जड़ का व्यर्थ होता है जबकि इतिहासकार के बिना तथ्य मृत और अर्थहीन होते हैं । " ... "इतिहास, इतिहासकार और उसके तथ्यों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक अनवरत प्रक्रिया है, अतीत और वर्तमान के बीच एक अंतहीन संवाद है ।"[1]

---

1. The historian and the facts of history are necessary to one another. The historian without his facts is rootless and futile; the facts without their historian are dead and meaning less. --- History is a continuous process of interaction between the historian and his facts, an unending dialogue between the present and the past. - What is history. E.H.Carr, P.30.

इतिहासकार ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर वर्तमान दृष्टि से अतीत का निरूपण करता है । इतिहासकार का उद्देश्य अतीत के तथ्यों का संकलन नहीं, अपितु उनके वर्तमान के सन्दर्भ में उनका मूल्यांकन करना है । अतीत संबंधी तथ्यों को समसामयिक दृष्टिकोण से देखने के कारण ही ऐतिहासिक तथ्य मृत नहीं हो जाते ।

हालाँकि अतीत के सभी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते, मगर जब इतिहासकार किसी भी तथ्य को प्रासंगिक समझकर उसको अपने इतिहासलेखन में स्थान देता है तब वह ऐतिहासिक तथ्य बन जाती है ।

" इतिहास के मन में अतीत का पुनर्निर्माण उसके अनुभूत प्रमाणों पर आधारित होता है । मगर अपने आप में यह एक अनुभवात्मक प्रक्रिया नहीं है और तथ्यों के वर्णन तक सीमित नहीं हो सकती । इसके विपरीत पुनर्निर्माण की यह प्रक्रिया तथ्यों के चुनाव और व्याख्या को निर्धारित करती है और तथ्रुप यही उन्हें ऐतिहासिक तथ्य बनाती है ।"[1]

यथार्थ की महत्ता से इतिहास का जीवन्त रूप निर्मित होता है । परिस्थितियाँ बदलने पर भी तथ्य नहीं बदलते, इनके अभिव्यक्तिकरण में परिवर्तन भले ही होता है । इसीलिए कार महोदय तथ्य-इतिहासकार के सम्बन्ध को मछुआरे और मछली के रूपक के सहारे इस तरह से व्यक्त करते हैं — " इतिहास में हमें जाँचे परखे तथ्यों का एक संग्रहीत रूप मिलता है । इतिहासकार को ये तथ्य दस्तावेजों, हस्तलेखों आदि से मिलते हैं । ये तथ्य

---

1. इतिहास क्या है ? - इ.एच.कार, - पृ. 18 - 19.

मछुआरे की पटिया पर पड़ी मछलियों की तरह होते हैं । इतिहासकार उन्हें इकट्ठा करता है, घर ले जाता है, पकाता है और अपनी पसंद की शैली में परोस देता है ।"[1]

वास्तव में इतिहासकार के लिए अतीत का उतना महत्व नहीं होता जितना वर्तमान का होता है क्योंकि इतिहासकार का जीवन वर्तमान में साँसे ले रहा होता है । वह वर्तमान के लिए अतीत में जाता है । अतः इतिहास तथ्यों पर आधारित होने के बावजूद तथ्यों की अपेक्षा बड़ा होता है । डा॰नित्यानंद तिवारी ठीक ही लिखते हैं कि " .... इतिहास, तथ्यों का सिलसिला नहीं, उनके महत्व से निर्मित जीवंत विधान होता है । जब कुछ नये सन्दर्भ खुलते हैं तब तथ्यों के सिलसिले में नहीं उनके महत्व के ढाँचे में परिवर्तन, ऐतिहासिक चेतना में परिवर्तन है ।"[2]

समाज में रहनेवाले मनुष्यों के कार्य, मानवता की समग्र उपलब्धियाँ, मानवजीवन को प्रभावित करनेवाली घटनाएँ सभी इतिहास के तथ्य हैं । इतिहास की हर एक सामान्य घटना या हर एक व्यक्ति को ऐतिहासिक तथ्य नहीं मान सकते । कभी-कभी एक ही ऐतिहासिक तथ्य के उद्गम स्रोत अनेक हो सकते हैं । किसी भी तथ्य को ऐतिहासिक महत्व इसलिए दिया जाता है कि उसका वर्णन उसी समय के प्रामाणिकताओं के द्वारा जैसे शिलालेखों,

---

1. History consists of a corpus of as certained facts, the facts are available to the historian in documents, inscriptions and so on, like fish on the fish manger's slab. The historian collects them, takes them home, and looks and serves them in whatever style appeals to him. - What is history, E.H.Carr P.9.

2. आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध - नित्यानंद तिवारी - पृ॰ 23॰

समाचार पत्रों आदि मे उपलब्ध हो । उसी को लेकर वर्तमान इतिहासकार अपने मस्तिष्क मे एक धूमिल चित्र बनाकर उनका पुनर्निर्माण करता है । "कोई किसी भी तथ्य जब इतिहासकार से स्वीकृति पाता है तब ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है । सामान्य घटना भी इतिहासकार की स्वीकृति से विशेष बन जाती है । कभी-कभी महान व्यक्तियों के साधारण कार्य भी विशेष बनकर ऐतिहासिक तथ्य बन जाते है । कभी-कभी मान्यता प्रदत्त विचार भी ऐतिहासिक तथ्य बनते हैं ।"[1] जैसे 1917 की रूस की क्रांति ने रूसी जनता की धार्मिक भावना को समाप्त कर दिया " यह ऐतिहासिक तथ्य न होने पर भी अनेक इतिहासकारों ने उसकी स्वीकृति प्रदान कर ऐति - हासिक तथ्य बना दिया ।

ऐसी भी स्थिति होती है जब तथ्य छुपे होते हैं और इतिहासकार को उनका अनुसंधान करना पड़ता है । माइकेल ओकशाट के अनुसार — इतिहासकार वर्तमान की पृष्ठभूमि में विस्तृत अतीत को एक विश्व के रूप मे देखने का अभ्यस्त हैं, उसमें अंतर्निहित ऐतिहासिक तथ्य समाप्त और निश्चित होते हैं । इतिहासकार के द्वारा उसकी खोज की अपेक्षा की जाती है ।"[2]

बात यह है कि तथ्य तो गूँगे होते हैं, वे स्वयं नही बोलते बल्कि इतिहासकार उन्हें बुलवाता है ।"[3]

---

1. इतिहास दर्शन - झारखण्डे चौबे - पृ. 23.
2. Experience and its Modes: M. Oakeshott, P. 120.
3. इतिहास क्या है ? ई.एच.कार - पृ. 8.

यह सच है कि कोई कल्पना और अनुमानों में विश्वास नहीं कर सकता । तथ्य ठोस और यथार्थ होते है । वे जीवन सम्बन्धी निश्चित रूप की खोज में सहायक होते हैं । यही कारण है कि उन्नीसवीं सदी के इतिहासकारों की धारणा थी कि इतिहास के अधिकाधिक तथ्यों का समावेश होना चाहिए । गाडग्रिंड ने "हार्ड टाइम्स" में लिखा है कि मुझे तथ्य चाहिये, ... जीवन में हमें मात्र तथ्यों की आवश्यकता है ।"[1]

हम यह भी देख चुके हैं कि मात्र तथ्यों का संकलन इतिहास नहीं है । इतिहासकार का काम महत्वहीन तथ्यों को अनैतिहासिक साबित करके उन्हें छोड़ना और महत्वपूर्ण तथ्यों को ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध करके ग्रहण करना होता है ।

साहित्य और समाज :-

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध जिस प्रकार अन्योन्याश्रित होते है वैसे ही साहित्य और समाज के परस्पर सम्बन्धों को भी महसूस किया जा सकता है । डा॰रामविलास शर्मा ने व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उचित ही लिखा है कि "व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, समाज के बिना व्यक्ति एक सामाजिक प्राणि के रूप में असम्भव है ।"[2] इसी ढंग पर हम कह सकते हैं कि समाज के बिना साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती और साहित्य के बिना

---

1. What I want is fact... facts are wanted in life." What is history. E.H.Carr, P.8.

2. आस्था और सौन्दर्य, रामविलास शर्मा - पृ॰ 24.

समाज एक सभ्य-सुसंस्कृत समाज की गरिमा नहीं पा सकता। चाहे किसी समाज या साहित्य आंचलिक हो क्यों न हो उससे समाज की संस्कृति का पता चलता है। मानव के सर्वांगीण व्यक्तित्व को सामाजिक हित के अनुसार व्यक्त करना ही साहित्य है। सच्चा साहित्य वही है जो एक काल की सीमा में बाँधकर भी सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप धारण कर लेता है। साहित्य का सम्बन्ध जीवन से गहरा होता है, जीवन एक व्यक्ति का अलग-अलग नहीं, समाज में होता है। साहित्य व्यक्ति और मनुष्य के जीवन के सुख-दुखों को कलात्मकता से अभिव्यक्त करता है। इस सम्बन्ध में श्री अमृतराय का कहना है -- "जिस अर्थ में साहित्य एक आदमी और दूसरे आदमी के बीच एक सेतु है, उसी अर्थ में साहित्य की अगर कोई अमरता है तो वह यही कि साहित्य अपने देशकाल से जुड़कर आगे की बात करें।"[1]

साहित्य मनुष्य द्वारा निर्मित सृष्टि है, और समाज से उसका गहन अन्तः सम्बन्ध रहता है। जीवन की व्याख्या, उसकी आलोचना को ही साहित्य कहा गया है। साहित्य जीवन के संघर्ष, तनाव एवं विषम परिस्थितियों को न केवल अभिव्यक्त करता है, परन्तु उससे जूझने की क्षमता भी प्रदान करता है। साहित्य केवल व्यक्ति का ही नहीं, युग का भी सर्वांगीण विकास करता है, उसे सँवारता है। रांगेय राघव का कहना है - "साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास है और व्यक्ति का असली विकास उसके समस्त वातावरण का विकास है। इसी को जन-कल्याण की भावना कहते हैं।"[2] जो साहित्य व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करता है, वही अपरोक्ष रूप से समाज को भी प्रभावित करता है। समाज में ही व्यक्ति नहीं रहता, बल्कि व्यक्ति में भी समाज जीवित

---

1. आधुनिक भाव बोध की संज्ञा, अमृतराय - पृ. 46.
2. काव्य, यथार्थ और प्रगति, रांगेय राघव - पृ. 116.

रहता है । साहित्यकार की अपनी ही व्यक्तिगत संवेदना साहित्यिक रूप लेती है । इसलिए साहित्य को साहित्यकार के माध्यम से "युगीन सामाजिक सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति" माना जाता है ।

सच्चा साहित्यकार वही कहलाता है जो केवल अपनी निजी जिन्दगी ही नहीं जीता बल्कि अपने समय और अपने समय की जिन्दगी को भी जीता है और साहित्य में उसे व्यक्त करता है । साहित्यकार को साहित्य रचने की प्रेरणा अपनी देशकालीन परिस्थितियों से ही मिलती है । "साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है । जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है । उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता से वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है । वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है ।"[1]

इस प्रकार हम पाते हैं कि साहित्य में समाज का ही हृदय धड़कता है । साहित्यकार अपनी रचनाओं में अपने परिवेश और समय को कथा कहता है - भले ही वह विषय अतीत से उठाये या कल्पना से । साहित्य में साहित्यकार का जो युग और समय ध्वनित होता है उसकी अनुभूतियाँ बहुत दूर तक पहुँचती है । प्रेमचन्द ने साहित्य को आगे चलने वाली मशाल कहा था, अर्थात् साहित्य युग को समझता, उसे रचता, अभिव्यक्त करता और उसे प्रेरित भी करता है ।

---

1. प्रेमचन्द : कुछ विचार : प्रेमचन्द - पृ. 95.

साहित्यकार पर समाज का जैसा प्रभाव पड़ता है उसे वह अपनी संवेदनशीलता से ग्रहण करके कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से साहित्यिक रूप देता है। इसलिए यह मान लेना उचित नहीं कि समाज का ज्यों का त्यों रूप साहित्य में प्रकट होता है जैसे किसी का चेहरा आइने में दिखाई देता है। दर्पण बोलता नहीं मगर साहित्य में भूत-वर्तमान-भविष्य सभी प्रकट होते हैं। साहित्य और समाज के सम्बन्ध को एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हुए डा॰नामवर सिंह लिखते हैं: " साहित्य से समाज का सम्बन्ध धरती और फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसे डाल, पात, पंखुड़ी, वर्ण, गन्ध आदि मिट्टी के हैं, कि उसमें मिट्टी की सी ही सोंधी गन्ध आती है और रंग भी मटमैला होता है। धरती का रस, रस फूल में नया वर्ण, गन्ध उत्पन्न करता है।"[1]

साहित्यकार समाज के हर एक स्तर और स्थिति जैसे समाज के रहन - सहन, आचार-विचार, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों से जुड़ा रहता है। इस दृष्टि से वह समाज का सर्वाधिक सजग व्यक्ति होता है। गुलाब राय का उचित ही कहना है कि " समाज कवि और लेखकों को बनाता है और लेखक तथा कवि समाज को बनाते हैं। दोनों में आदान-प्रदान तथा क्रिया-प्रतिक्रिया भाव चलता रहता है। यही सामाजिक उन्नति का नियामक सूत्र बनता है।"[2]

साहित्यकार अपनी समसामयिक परिस्थितियों के साथ सर्वांगीण समाज को साहित्य में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। " श्रेष्ठ रचना वह है जिसकी जड़े सुदूर भविष्य तक प्रसृत होती है।"[3] जीवन के यथार्थ को साहित्य में प्रस्तुत करना ही साहित्यकार का लक्ष्य है।

---

1. इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह - पृ॰ 145-146.
2. काव्य के रूप, गुलाब राय - पृ॰ 7.
3. आधुनिक बोध और विद्रोह - हरदयाल - पृ॰ 10.

परिवेश या समकालीन परिस्थितियाँ अनिवार्यतः साहित्यकार को प्रभावित करती हैं। अमृतराय का कहना है -- "परिवेश स्वतः केवल वनस्पति है, उसका जीवन वनस्पति का जीवन है, व्यक्ति की चेतना का योग उसे एक नया जीवन दे देता है, एक नयी अर्थवत्ता, वैसे ही जैसे खेत में बीज पड़ने पर वह खेत एक नए रूप में खिलखिला उठता है।"[1]
यह भी सच है कि व्यक्ति चेतना से समृद्ध परिवेश को साहित्यकार अपनी कल्पना और कलात्मकता का योगदान देता है। वह अतीत की परम्पराओं से स्वयं भी अनुभव-समृद्ध होता है और रचना में अतीत-अनुभवों को पुनर्रचना करके अपने समय को सार्थक संकेत करते हैं।

"वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों से जब साहित्यकार समझौता नहीं कर पाता है, तब वह अतीत की तरफ देखता है। अतीत अपनी सारी कमियों और कटु अनुभवों के बावजूद मधुर होता है।"[2]

समकालीन जीवन को अतीत के झरोखे से देखने के उद्देश्य से साहित्यकार अतीत की ओर झुकता है और इतिहास को अपनी रचना की पृष्ठभूमि और भूमिका बनाता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित होने के पहले एक ऐसा समय भी था जब इतिहास को साहित्य का ही अंग माना गया था। "पुनरुत्थानवादी काल में इंग्लैण्ड में इतिहास लेखन के जो उद्देश्य समझे जाते थे उनमें सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण पहला उद्देश्य था इसके एक साहित्यिक विधा होने का।"[3]

---

1. आधुनिक भाव बोध की संज्ञा, अमृतराय - पृ. 46.
2. हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदना, मुकुन्द द्विवेदी - पृ. 15.
3. हिन्दी के उपन्यासों में इतिहास - तत्व, धनंजय - पृ. 28.

साहित्य और इतिहास दोनों का केन्द्रबिन्दु जीवन और समाज है । इतिहास जब पूर्ण रूप से समाज से प्रभावित होता है, तब वही इतिहास वर्तमान साहित्य के लिए पृष्ठभूमि बन जाता है । साहित्यकार इस प्रकार का इतिहास, यानी ऐतिहासिक तथ्य, चुन लेता है जो उसकी वर्तमानकालीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करे । इसके लिए साहित्यकार के लिए ऐसा इतिहास चाहिए जो पूर्ण रूप से सामाजिकता से संयुक्त है । वही इतिहास वर्तमानकालीन समस्याओं के समाधान की खोज निकालने में साहित्यकार के लिए सहायक होता है ।

कहा जाता है कि इतिहास सफलता का चारण है जबकि साहित्य मानवता की उद्गाथा । यह ध्यान देने की बात है कि सम्पूर्ण अतीत इतिहास का विषय क्षेत्र नहीं है, जो घटना समाज के विकास पर विशेष प्रभाव डालती है, वही इतिहासकार के लिए उपयुक्त गवेषणा का विषय बन जाती है । यदि किसी प्राकृतिक घटना या वैयक्तिक विचार का सामाजिक गतिविधि से विशिष्ट और व्यापक संबंध है तो वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन जाते हैं । व्यक्तियों के कार्यकलाप या विचारविमर्श तभी ऐतिहासिक महत्व रखते है, जब वे समाज पर स्पष्ट प्रभाव डालें अथवा समाज की भावनाओं को मुखरित करें ।

इतिहास को राष्ट्र का जीवन वृत्त और साहित्य को राष्ट्र की आत्मा कहा गया है ।[1] इतिहास वर्तमान से प्रेरणा और अनुभव लेकर अतीत का पुनर्निर्माण करता है और साहित्य वर्तमान के सूत्र अतीत से मिलाकर आज की समस्याओं को बीते हुए के सन्दर्भ में देखता है ।

---

1. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास तत्व, धनंजय - पृ. 32.

इतिहास दृष्टि और साहित्य दृष्टि :-

इतिहास की दृष्टि देशकाल तक सीमित रहती है जो समसामयिक तथ्य को ही प्रधानता देती है । साहित्य की दृष्टि व्यापक तथा देशकालीन भी होती है । क्यों कि वह युग के हर एक सत्य को अपनाती है, इसलिए व्यापक बन जाती है ।

साहित्यकार का अपनी रचना पर पूर्ण अधिकार होता है । वह अपनी इच्छा के अनुसार विषय क्षेत्र को व्यापक या सीमित कर सकता है और अपनी कल्पना का भी उपयोग कर लेता है । इतिहासकार को ऐसा स्वातन्त्र्य नहीं रहता । वह अतीत के तथ्य की प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए सीमित रूप में ही कल्पना और अनुमान का उपयोग कर सकता है ।

इतिहासकार अतीत की घटनाओं का पुनर्निर्माण वर्तमान के आधार पर करता है । अतीत का वर्तमान से बहुत-कुछ कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है । अतीत के आधार पर वर्तमान का स्पष्टीकरण और भविष्य के आदर्शों की स्थापना होती है । साहित्यकार को अतीत के इतिहास से यथावश्यक चयन और साथ ही भविष्य के लिए कल्पना का उपयोग करना पड़ता है ।

इतिहासकार द्रष्टा होता है और साहित्यकार स्रष्टा । इतिहासकार अतीत की घटना का पुनर्लेखन करता है, पर साहित्यकार उसकी पुनर्रचना करता है । इतिहास अपने अनुशीलन की सीमा के बाहर के क्षेत्र में गहराई तक पहुँच नहीं पाता है । वह विषय की प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता की रक्षा पर अधिक बल देता है । साहित्य का विषयक्षेत्र सीमित नहीं होता । वह किसी भी विषय में सूक्ष्म से सूक्ष्म तक के विस्तार और गहराई तक ले जाता है । इतिहासकार अतीत की किसी भी घटना का तथ्यात्मक वर्णन करता है जबकि साहित्यकार उस घटना के आगे, पीछे की स्थितियों तथा व्यक्ति भावनाओं आदि की ओर भी कल्पना के सहारे संकेत कर देता है ।

वैसे तो इतिहासकार भी अतीत की बिखरी हुई घटनाओं को बटोरते समय, उनको रोचक बनाने के लिए, कल्पना का प्रयोग करता है लेकिन वह साहित्यकार की तरह कल्पना का खुलकर रचनात्मक प्रयोग नहीं कर सकता है। प्रामाणिक तथ्यों का विश्लेषण करते समय उन तथ्यों को एक साथ जोड़ने के लिए ही अनुमान और कल्पना के प्रयोग की थोड़ी-बहुत छूट इतिहासकार ले सकता है, पर साहित्यकार जितनी नहीं।

सत्य :-

वास्तविक आधार के बिना किसी भी विषय का कथन उचित नहीं। लेकिन चीजों तक पहुँचने का लोगों का ढंग अलग-अलग होता है। "हर मनुष्य सृष्टि को जैसा देखता है, अपनी बुद्धि के अनुसार वैसा ही निष्कर्ष निकालता है, क्यों कि कार्य-कारण के सम्बन्धों की कल्पना वह अपनी दृष्टि के अनुरूप करता है, पर जब उसे कोई नई जानकारी मिलती है तो उसी के अनुरूप वह कार्य-कारण के परस्पर संबंधों को परिवर्तित करता रहता है।"[1] किसी भी विषय को यथार्थता से समझने के लिए उसके पीछे निहित सत्य की जानकारी आवश्यक है। मगर "सत्य क्या है" इसे समझना सरल नहीं क्योंकि यह एक अत्यंत जटिल सापेक्षिक अवधारणा है।

"एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका" के अनुसार "truth is the quality of being true, and anything that is a truth, the concept of truth is uncommonly complex and variable."[2] किसी के मतानुसार सत्य कोई निरपेक्ष भाव नहीं है। ... अतः मानव मस्तिष्क को जो बात ठीक जँचती है उसे ही वह सत्य समझ बैठता है, चाहे वह वास्तविकता से दूर भी हो।[3]

---

1. हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदना, मुकुन्द द्विवेदी - पृ.4.
2. Encyclopedea Britanica, Part 27, P.185,
3. इतिहास - दर्शन : बुद्ध प्रकाश - पृ. 148 - 149.

केवल दर्शन और विज्ञान ही नहीं, साहित्य भी सत्य के साक्षात्कार की कोशिश में जुटा रहता है। साहित्य सत्य को सौन्दर्य से जोड़कर प्रसन्न होता है। कीट्स ने सत्य और सुन्दर को अभिन्न माना था। (Beauty is truth & truth is beauty that are ye know and all ye need to know) सत्य और सौन्दर्य के साथ साहित्य शिव या कल्याण की भावना पर भी विशेष बल देता है। अर्थात् साहित्य ऐसे सत्य का सन्धान करता है जो सुन्दर और कल्याणकारी हो। सत्य एक काल विशेष का होकर भी कालातीत बनता है, एक स्थान पर घटित होकर भी सार्वभौम बन जाता है। साहित्यिक सत्य सौन्दर्य से जुड़कर अत्यन्त संवेदनशील बन जाता है।

सत्य जहाँ आनन्द का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य बन जाता है। आनन्द का संबंध मनोभावों से है। मनोभावों और वस्तुगत सच्चाइयों से साहित्य का गहरा सम्बन्ध होता है। साहित्य का मूलस्रोत सत्य है। साहित्यकार इतिहास के प्रति जो दृष्टि रखता है उसे इतिहास सत्य कहा जाता है। सत्य का एक रूप समाज में व्याप्त रहता है। समाज को इतिहास-सत्य की यह अनुभूति परंपरा से प्राप्त होती है। इसलिए सच्चा इतिहासकार इतिहास सत्य, वर्तमान सत्य तथा परंपरागत सत्य तीनों को स्वीकार करता है। हालाँकि परम्परागत सत्य को दृढ़ बनाने के लिए कभी-कभी साहित्यकार इतिहास के सत्य तक को बदल देता है, जिसे कहीं उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की असीमित छूट साहित्यकार और उसकी रचना को अविश्वसनीय बना सकती है।

<u>इतिहास सत्य</u> :- इतिहास में इतिहासकार की अनुभूति और बुद्धि घटित तथ्यों एवं घटनाओं पर आधारित होती है। इतिहासकार की अभिव्यक्ति आत्मप्रकाशन मात्र न होकर ऐतिहासिक सत्य के अधीन होती है।

क्रोचे का कहना है - " जीवन एवं वास्तविकता ही इतिहास है तथा यह सिद्धान्त अमान्य है । जो सत्य को 'परम इतिहास' तथा इतिहास में विभाजित करता है ।[1]

इतिहास सत्य अतीतकालीन तथ्यों पर आधारित रहता है जिनमें इतिहासकार चाह कर भी परिवर्तन नहीं कर सकता । अगर परिवर्तन करता है तो फिर वह इतिहास नहीं रहता । तथ्यों का पुनर्निर्माण जब प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त होता है, तो वह इतिहास-सत्य माना जाता है । इतिहास-सत्य को महत्वपूर्ण बनाने के लिए इतिहासकार का दायित्व है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक वह तथ्यों के प्रयोग में अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग न करे तथा महत्वपूर्ण तथ्यों को दूषित करने से बचे ।

इतिहास-सत्य कभी-कभार तटस्थ और वस्तुगत रूप से देखने पर असंभव भी प्रतीत हो सकते हैं फिर भी उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता । ऐतिहासिक तथ्य और इतिहाससत्य में अन्तर होता है । ऐतिहासिक तथ्यों को इतिहास के द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए । इतिहास सत्य के लिए प्रामाणिक शिलालेखों, समाचार पत्र आदि को अपेक्षाकृत सर्वमान्य स्वीकृति मिलनी चाहिए । " सत्य रहित इतिहास जीवन-रहित शरीर है ।[2] यह भी सच है कि अनिवार्यत: इतिहास के सभी तथ्य सत्य के आधार पर निर्मित नहीं होते । अर्थात् इतिहास के सभी सत्य सत्य नहीं होते है ।

<u>साहित्य सत्य</u> :- अलग-अलग विधाओं में जिन सत्यों की तलाश होती है उनमें स्वभावगत भिन्नता देखी जाती है । इसीलिए हम पाते है कि दर्शन, विज्ञान और साहित्य से उपलब्ध सत्य भिन्न-भिन्न होते हैं ।" दार्शनिक ऐसे सत्य को प्रतिष्ठित करता है जिसका आधार तर्क हो और जो विरोधी प्रामाणों द्वारा

---

1. History is the Story of Liberty. Croche. P.65.
2. इतिहास दर्शन, बुद्ध प्रकाश - पृ. 148 - 149.

अकाट्य हो । विज्ञान जगत का सत्य वह है जो प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया जा सके – जिसका खंडन प्रयोगशाला की जाँच द्वारा न हो सके । ... साहित्य के सत्य का रूप वस्तु-जगत से साम्य रखता हुआ भी बिलकुल सद्रूप नहीं होती।"[1] दार्शनिक दृष्टि से देखें तो सत्य के व्यक्ति-सापेक्ष और व्यक्ति-निरपेक्ष रूप स्पष्ट होते हैं । सापेक्ष सत्य व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभव से सम्बंधित हैं जिनका किसी समाज, देश और काल विशेष में महत्व होता है । दर्शन में निरपेक्ष सत्य की अवधारणा व्यक्तिगत अनुभव से परे, विशिष्ट देश-काल की सीमा लाँघ जानेवाली होती है ।

साहित्य में व्यक्ति के जीवन तथा जीवन के शाश्वत सत्यों को सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति मिलती है । यही जीवन की अभिव्यक्ति ऐसा सत्य बन जाती है जो किसी विशेष देश या काल में होकर भी हमेशा विद्यमान रहता है । अतीतकालीन सत्य का ही रूप आजकल भी मिलता है । अतीत का जीवन इन सत्यों के माध्यम से ही वर्तमान से सम्बद्ध किया जाता है । पर जिस प्रकार एक ही क्रिया की प्रतिक्रिया हर एक व्यक्ति में समान नहीं होती है उसी प्रकार हर एक व्यक्ति का भाव या सत्य एक नहीं होते । इसलिए मनोभावों पर आधारित होने के कारण साहित्यिक सत्य विभिन्न प्रकारों से अभिव्यक्त किये जाते हैं जो सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक रूप में व्याप्त है ।

साहित्य सत्य के अपने नियम होते हैं और अपनी गति होती है जो साहित्य को सुन्दर, शिव और आह्लादक बनाता बना देती है । इसीलिए कभी-कभी ऐतिहासिक सत्यों का व्यतिक्रम होने पर भी उसको कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता । "अरस्तू ने कहा था कि वे असंभव घटनाएँ जो संभाव्य हो सकें, यथार्थ मगर अविश्वसनीय घटनाओं से अधिक वांछनीय हैं।"[2]

---

1. कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परंपरा – विश्वनाथ प्रसाद – पृ. 38

2. (Better a probable possibility than an improbable possibility)
– कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परंपरा – विश्वनाथ प्रसाद में उद्धृत–पृ. 39.

इतिहास सत्य : साहित्य सत्य :-

इतिहास सत्य युग परिवर्तन होने पर भी अलग से सुरक्षित रखा जाता है। साहित्य-सत्य के लिए ऐसी कोई अतिरिक्त आवश्यकता नहीं होती। ये सत्य युगीन समाज के अनुसार परिवर्तित भी होते रहते हैं। इतना ही नहीं इतिहास सत्य केवल भूतकाल की ओर दृष्टि रखता है तो साहित्य सत्य की दिशा भविष्य निर्माण है। इतिहास सत्य भूतकालीन घटना क्रम पर आधारित होने के कारण अपरिवर्तनशील, स्थिर एवं वस्तुपरक होता है। इतिहास सत्य देश-काल की सीमाओं में आबद्ध रहता है जबकि साहित्य-सत्य एक ही साथ आत्मगत और वस्तुगत होने के साथ-साथ सार्वजनिक, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होता है।

सच पूछा जाय तो इतिहास और साहित्य दोनों की चिन्ता के केन्द्र में वर्तमान मानव जीवन ही होता है। इतिहास अतीत में जाकर वर्तमान के लिए सत्य जुटाता है, साहित्य को भी अतीत में जाने की आवश्यकता पड़ती है ताकि समकालीन जीवन के लिए समृद्ध भविष्य को सुनिश्चित किया जा सके। अतः साहित्य भविष्य के सत्य की भी चिन्ता करता है। "भविष्य के सत्य की कल्पना हमें वर्तमान सत्य के आधार पर ही करनी पड़ेगी। ... ज्ञान एवं विज्ञान की जो वर्तमान उपलब्धियाँ हैं, उन्हीं के आधार पर वर्तमान सत्य की मीमांसा की जा सकती है और इसी के आधार पर आधुनिक जीवन की कल्पना की जा सकती है।"[1]

कल्पना :- कल्पना मनुष्य की मानसिक और बौद्धिक प्रक्रिया है। कल्पना उसी वस्तु की होती है जो कभी देखी गयी हो। जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं हो वैसी वस्तु की कल्पना संभव नहीं है। जो वस्तु इन्द्रियों के सम्मुख प्रत्यक्ष नहीं है, उसका मानसिक रूप विधान कल्पना है।

---

1. आधुनिकता और राष्ट्रीयता - राजकमल बोरा - पृ. 21.

" आधुनिक हिन्दी शब्द कोश " के अनुसार कल्पना है -- " साहित्य रचना के क्षेत्र में वह क्रियात्मक मानसिक शक्ति जिसके द्वारा कलाकार रंगों, स्वरों और नागरिक जीवन व्यवहारों और भावों को पहले अपने मानस-पटल पर संजोकर फिर कला की किसी विधा में स्थापित करता है, नई उद्भावना, सूझ, अनुमान, मानसिक रचना, अध्यारोप, मनगढ़ंत, मिथ्यारचना, विचारणा, प्रतिभा, स्थापन, निर्मिति ।"[1]

आमतौर पर कल्पना मानसिक चित्र अथवा मानस-बिम्बों को कहते हैं[2] तथा नवीन उद्भावनाओं और रचना में इसका महत्वपूर्ण स्थान होता है ।

कालरिज ने कल्पना के दो रूप बताये-प्रधान और गौण कल्पना । प्रधान कल्पना, " सजीव शक्ति और सम्पूर्ण मानवीय अनुभूति की प्रमुख शक्ति " को कहते हैं जबकि .... गौण कल्पना प्रधान कल्पना की प्रतिध्वनि होती है ।

रोमांटिक और छायावादी कवियों की रचनाओं में कल्पना का बड़ा हाथ देखा जा सकता है । इन कवियों की मानसिकता कल्पना का खुला उपयोग करने के अनुकूल थी । उनके लिए कल्पना अपने विस्तार में सब कुछ निर्भर होती है । यहाँ तक कि कल्पना को काव्य-वस्तु और काव्य-प्रेरणा से एकाकार भी करके देखा गया । कवि शैली के अनुसार - 'कल्पना संसार को प्रकाशवान् किरणों से प्रकाशित करती है और त्रुटियों का परिहार करती है ।' उसने काव्य को कल्पना की अभिव्यक्ति माना है ।[3] मगर इन उच्छ्वासपूर्ण भाववादी कथनों को हटाकर अगर इस कल्पना का वस्तुगत विश्लेषण करें तो पायेंगे कि कल्पना का

---

1. आधुनिक हिन्दी शब्द कोश - गोविन्द चातक - पृ. 14.
2. "The general term 'imagination' applies to the production of mental pictures, or images--it is of two types - imitative, creative, - Encyclopedea of Americana P.797.
3. छायावादी कवियों पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों का प्रभाव : फूल बिहारी शर्मा - पृ. 167.

मनुष्य को सभ्यता, संस्कृति और विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कल्पना प्रगति के लिए आवश्यक तत्व है। मैक्डूगल का कहना है -- " हम भली-भाँति यह परिभाषा कर सकते हैं कि कल्पना अप्रत्यक्ष वस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन है।"[1] जो यथार्थ में है, उसके विपरीत हमारी इच्छा के अनुसार जो होना चाहिए वही कल्पना है। कल्पना हमारे मन की उपज है जबकि वास्तविकता काल और परिस्थिति से बंधा हुआ सत्य है। यहाँ ध्यातव्य है कि कल्पना केवल वर्तमान से अलग हो जाती है, पर वास्तविकता से निरपेक्ष नहीं हो जाती। जो वास्तविक नहीं है, उसको कल्पना की नहीं जाती। छायावादी कवियों ने तो कल्पना का ऐसा विस्तार कर दिया, कल्पना को इतना महत्व दिया कि उसे वास्तविकता में ही घुला मिला दिया। निराला का कहना है - " कल्पना कभी निर्मूल नहीं होती - उसमें भी सत्य की झलक रहती है, अर्थात यों कहिए कि कल्पना स्वयं सत्य है।"[2] इसी तरह कल्पना के सुकुमार कवि पंत जी का भी कहना है - " मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।"[3] अपने छायावादी साहित्य में प्रबुद्ध विचारक - साहित्यिक प्रसाद ने अपने निबन्ध ' यथार्थवाद और छायावाद' में कल्पना के सत्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है -- " दुःख दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्व-पूर्ण स्थान देती है, जो निजी सन्दर्भ के कारण सत्य-पद पर प्रतिबिम्बित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है।"[4] कहने का अर्थ यह है कि कल्पना और यथार्थ के समन्वय से जीवन में पूर्णता आ जाती है। " भाव के

---

1. M.C.dougall: we may properly define imagination of imaginating as thinking of remote objects. - An out line of Psychology, P.284.

2. रवीन्द्र कविता कानन, निराला - पृ. 90 - 91.

3. आधुनिक कवि, सुमित्रानन्दन पन्त - पृ. 39.

4. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद - पृ. 123.

स्तर पर दृष्ट वस्तुओं में अदृष्ट सम्बन्धी सूत्रों को खोज निकालने वाली मानस क्रिया का नाम कल्पना है । ... प्रत्यक्ष दृष्टि में वह अपनी ओर से कुछ जोड़ता है और उसे पहले से अधिक समृद्ध बनाता है । अतः कल्पना-यथार्थ का धन है, ऋण नहीं ।"[1]

किसी भी अलौकिक एवं अज्ञात विषय को ज्ञात रूप देने के लिए कल्पना की जरूरत होती है । कल्पना पूर्वअनुभूति या प्रत्यक्षीकरण पर आधारित रहती है । अनुभूति और कल्पना का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है । अनुभूतियाँ कल्पना को शक्ति प्रदान करती हैं । " ... हर हालत में कल्पना लेख्य है और अनुभूतियाँ उसकी लेखिका हैं ।"[2]

कल्पना के दो रूप कहे जाते हैं -- भावनात्मक और बौद्धिक । " भूतकाल को कल्पना द्वारा वर्तमानकाल में साकार किया जा सकता है -कल्पना का यह पक्ष भावनात्मक है , भविष्य को कल्पना द्वारा वर्तमान में साकार किया जा सकता है, कल्पना का यह पक्ष बौद्धिक है ।"[3]

छायावादकालीन कवियों ने वर्तमान दुर्दशा से मुक्ति पाने के लिए, राष्ट्र को स्वतंत्रता पाने की इच्छा से स्वर्णिम अतीत की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया । प्रकृति तो उनका स्वाभाविक आश्रय थी ही । उनका हृदय आत्म-विस्तार की भावना से भर उठा और इस प्रकार दृष्टि और हृदय के उन्मुक्त होने से कल्पना उन्मुक्त हुई । उसी के द्वारा उन्होंने अतीत के गौरव को दीन भारतीय समाज के सम्मुख रखा । इस पर पंतजी का कहना है - " मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कतर भावी समाज-कल्पना की ओर प्रभावित

1· कल्पना और छायावाद - केदारनाथ सिंह - पृ· 3·

2· साहित्य और सहृदय, सरनामसिंह शर्मा " अरुण " - पृ· 101·

3· साहित्य के सिद्धान्त तथा रूप - भगवतीचरण वर्मा - पृ· 75·

हुआ ।"[1] कल्पना छायावादी कवियों के काव्यों का मुख्य तत्व ही नहीं बल्कि उनके व्यक्तित्व का प्रधान गुण भी है ।

बहुधा रोमाण्टिक कवि वर्तमान से असन्तुष्ट होकर, कल्पना के सहारे अतीत की ओर मुड़ते रहे है तथा भविष्य का अपनी कलात्मक भूमि के आधार पर भावमय आलोकन किया है । रोमाण्टिक कल्पना के द्वारा कवि वर्तमान को अतीत के गौरव और भविष्य के स्वर्णिम स्वप्नों से जोड़ देता है । अतीतकालीन तथ्यों के प्रति कवि को जो अनुभूति होती है उसी को और भी उदात्त बनाने का श्रेय कल्पना को मिलता है ।

अतीत के यथार्थ तथ्यों को तद्युगीन वातावरण से लेकर वर्तमान के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न ही आधुनिक इतिहासकार की समस्या है जो सीमित अनुमान और कल्पना के बिना सम्भव नहीं है । "वास्तव में कोई भी मानवीय क्रिया या व्यापार (Human-activity) कल्पना के बिना सम्भव नहीं है - गणित भी नहीं ।"[2]

इतिहास और कल्पना :-

इतिहास, भूगोल या और कोई शास्त्र ले लीजिए, कल्पना का किसी न किसी रूप में - चाहे कुछ ही अंश में क्यों न हो - स्थान रहता ही है । अनातोले फ्रांस ने इतिहास को कला की संज्ञा देते हुए इसके लेखन को कल्पना-सिद्ध माना है । "History is an art and should be written with imagination".[3]

---

1. आधुनिक कवि - सुमित्रानंदन पंत - पृ. 2.
2. रचना और आलोचना - देवीशंकर अवस्थी - पृ. 121.
3. A.France-the art and practice of historical function - A.D.Sheppard, P.12.

ऐतिहासिक विचारधारा को अपनाते समय साहित्यकार अतीत के तथ्यों को एक साथ जोड़ने के लिए, सार्थक बनाने के लिए कल्पना की आवश्यकता महसूस करता है ।

मोमेंसन ने कहा था कि फैंटसी इतिहास की जननी है ।[1] इतिहासकार वर्तमान में जीते हुए अतीत के छिपे हुए तथ्यों को वर्तमान से उसका सम्बन्ध सादृश्य रखकर भविष्य का चिन्तन करता है और इसमें उसके लिए कल्पना एक आधार रूप है । 'एक संपन्न इतिहासकार के लिए अपने विवरण को प्रभावात्मक तथा चित्रात्मक बनाने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली कल्पना से युक्त होना अनिवार्य है ।[2] क्योंकि अनुभवों के आधार पर ही कल्पना का प्रासाद खड़ा किया जाता है ।

जब इतिहास तथ्यों के क्रम में कहीं किसी तथ्य को खो देता है या तथ्यों की प्रमाणता में कोई संदेह होता है तो कल्पना का सृजन किया जाता है । एक सटीक और अवधान कल्पना तथ्याभाव का बौद्धिक विकल्प बन सकती है तथा तथ्यों के संयोजन के द्वारा निष्कर्ष तक पहुँचने में मददगार होती है ।

<u>साहित्यिक कल्पना :-</u>

साहित्य के माध्यम से साहित्यकार के व्यक्तिगत अनुभव और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण व्यक्त होता है । रचनाकार की कल्पना जब इतिहास में मिल जाती है तो सारा अतीत मानस-पटल पर उभर-उभर आता है । लेकिन ऐसी कल्पना की भी एक सीमा होती है । वैसे तो काव्य मात्र से ही कल्पना को अलग करना कठिन है । कालरिज का तो कहना है कि " कल्पना काव्य की आत्मा होती है, जो उसके प्रत्येक तत्व में व्याप्त रहती है और सुन्दर इकाई का रूप प्रदान करती है ।[3]

---

(1) Ranier : History its purpose and method, P. 162.

(2) R. G. Collingwood, The idea of History, P. 240.

(3) Biographic Literaria. S. T. Coleridge, P. 174.

कल्पना और बिम्ब साहित्यकार का आत्मपरक सत्य ही है । लेकिन इनका जन्म समय, वातावरण और परम्परा के संयोग से होता है । ऐसी कल्पना और ऐसे साहित्यिक बिम्बों की सफलता या सार्थकता उनकी सम्प्रेषणीयता में होती है । जिसे भारतीय रस सिद्धान्त में "साधारणीकरण" और रिचर्ड्स की आलोचना मे सम्प्रेषण (Communication) कहा गया है । वह वस्तुत: साहित्यिक बिम्बों और कल्पनाओं का रचनाकार के मानस से पाठकीय मानस तक पहुँचना है । पाठकीय ग्रहणशीलता ही लेखकीय सफलता की कसौटी है । यह कल्पना का ही कार्य है कि अमूर्त, मूर्त तथा निर्जीव सजीव बन जाता है । कल्पना के द्वारा पुराने विषयों को नया संस्कार मिलता है तथा रचना में नवीन प्रयोग संभव होते है ।

साहित्यकार ऐतिहासिक पात्रों को कल्पना से सजाकर वास्तविकता के निकट लाता है तथा उन्हें सजीव बनाता है । अतीत को साहित्यकार कल्पना के द्वारा सरस तथा रोचक भी बना देता है ।

इतिहासकार चाहे तो कल्पना के बिना भी इतिहास लिख सकता है, पर कल्पनाशीलता के अभाव में कोई साहित्यकार नहीं बन सकता । सफल इतिहासकार का अर्थ उसकी कल्पना की भी सफलता है । अत: कल्पना इतिहासकार और साहित्यकार दोनों के लिए आवश्यक है । साहित्यकार उसके बिना रचना नहीं कर सकता है । इतिहासकार केवल घटित घटनाओं को वर्तमान के परिदृश्य में रखता है जिनको क्रम में रखने के लिए उसे कल्पना की आवश्यकता होती है । साहित्यकार वर्तमान को आगे बढ़ाने के लिए तथा आगामि भविष्य की कल्पना करते हुए अतीत के तथ्यों को अपनाता है।

इतिहास घटित और संभव को अपना विषय बनाता है, जबकि साहित्य का क्षेत्र अघटित और संभाव्य तक विस्तृत होता है । साहित्य संपूर्णता में मानव-सत्य की तलाश करता है । अत: कल्पना का स्थान जहाँ इतिहास मे गौण है, वहाँ साहित्य में उसका प्रमुख स्थान होता है ।

अनुमान :- साहित्यकार अपने युग से प्रेरित होकर जो साहित्य लिखता है उसके द्वारा वह न केवल युगीन चित्र रचता है अपितु उसके साथ समाज में परिवर्तन लाने की भी अभिलाषा करता है । मनुष्य के जीवन पर साहित्य का प्रेरक प्रभाव पड़ता है । इसलिए वर्तमान पीढ़ी का मार्गदर्शन कराने और आगे की पीढ़ी के लिए आशाजनक कल्पना करने के सन्दर्भ में साहित्य की भूमिका की पहचान की जा सकती है । इसके लिए लेखक स्वतंत्र है कि चाहे वह अतीत का सहारा ले या वर्तमान का । सच तो यह है कि लेखक को अपनी रचना के क्रम में कभी अनुमान, कभी कल्पना का और कभी सामाजिक व यथार्थ सत्य का सहारा लेना पड़ता है ।

अनुमान : (Guess, inference) पूर्व अनुभव के आधार पर किसी वस्तु या विषय के बारे में की गई कल्पना को ही अनुमान कहा जाता है । अनुमान के लिए पूर्व अनुभव की जरूरत है । यह कल्पना से हमेशा भिन्न होता है, साथ ही कल्पना की अपेक्षा किंचित् अधिक निश्चयात्मक भी । कोशगत आधार पर " अनुमान " का अर्थ है "किसी भी वस्तु के होने या संभावित होने का ज्ञान, अटकल, अन्दाज । " ।

" हिन्दी शब्द कोश " के अनुसार अनुमान की अवधारणा यों है -- " व्याप्य ज्ञान द्वारा व्यापक वस्तु का निश्चय, किये हुए अनुमान से नतीजे को निकालना । जैसे धूम को देख अग्नि का निश्चय करना है । इसमें धूम हमारा व्याप्य ज्ञान है, क्योंकि वह सर्वत्र दिखाई देता है, कि जहाँ आग जलती, वहाँ धुआँ भी उठता है, इसी पूर्व संस्कार के स्मरण से आग नजर न आने भी यदि केवल धुआँ देख पड़े, तो हम आग का रहना निश्चित कर लेते हैं ।"[2]

प्रत्यक्ष ज्ञान पर बल संयोग से दूसरा जो नूतन ज्ञान निकालता है, वही अनुमान कहलाता है । जैसे जल रखने को मिट्टी के बरतन को घट कहा जाता है । इसलिए कहीं उसी तरह की वस्तु देखने से घट की याद आती है तो वहाँ घट प्रत्यक्ष ज्ञान है और किसी वस्तु को देखकर घट की याद आना अनुमान कहा जाता है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी शब्द कोश - गोविन्दचातक, पृ. 29.
2. - वही -

जो वस्तु या पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, उसके ज्ञान के साधन को ही अनुमान कहते हैं । अतः कल्पना जहाँ उस वस्तु का बोधाभास प्रस्तुत करती है, वहाँ उसमें अनुमान का समावेश हो जाता है । ऐसे अनुमान को कल्पनान्तर्गत अनुमान कहा जाता है । इस अनुमान के तीन भेद माने जाते हैं — पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ।

पूर्ववत् अनुमान से कार्य का निश्चय होता है जैसे धुएँ को देख आग जलने की बात मन में आ जाती है । शेषवत् में कार्य को देखकर कारण को समझते हैं, जैसे घट से मिट्टी का बोध होना । सामान्ययोदृष्ट सामान्य व्यापार से विशेष व्यापार का अनुमान लगाने को कहते हैं ।

" अनुमान " के पारिभाषिक अर्थों का यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपने पूर्व परिचित अनुभव के आधार पर आगे क्या होगा इसका उहापोह निश्चित करना ही अनुमान है । प्रश्न यह उठता है कि साहित्य तथा इतिहास में अनुमान का स्थान कहाँ तक है ? क्या साहित्यकार एवं इतिहासकार दोनों समान रूप से अनुमान का उपयोग कर सकते हैं ? यह स्पष्ट हैं कि इतिहासकार और साहित्यकार के लिए अनुमान के उपयोग के अपने-अपने नियम होते हैं । साहित्यकार के लिए अनुमान का उपयोग करते समय किसी नियम का पालन करने की जरूरत नहीं है । इतिहासकार के लिए अनुमान के सीमित प्रयोग की छूट भी सर्वसम्मत नहीं है । इतिहास को विज्ञान के समान निश्चित निष्कर्षों वाला विषय मानने वाले विद्वान इतिहासकार को अनुमान-जैसी अनिश्चयात्मक धारणा से दूर ही रखना चाहते हैं ।

शीलर के अनुसार – इतिहास के अध्ययन का लक्ष्य वर्तमान की गवेषणा है । न कि भविष्य का अनुमान ।[1] इसी तरह हीगेल का कहना है कि

1· इतिहास दर्शन – बुद्ध प्रकाश – पृ· 167·

" इतिहास का उद्देश्य भविष्य का अनुमान करना नहीं है। यह वर्तमान के अनुसंधान तक सीमित है।" ¹

ऐसी मान्यता के अनुसार इतिहासकार प्रामाणिक तथ्यों को ही विवेचित - विश्लेषित करता है और इसके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान की जरूरत होती है। इतिहास तो आँख अतीत की ओर अपनी दृष्टि डालती है। इसलिए कुछ लोग मानते हैं कि जो घटित हुई उसी की ओर इतिहासकार संकेत करता है। वह घटना क्यों, कैसे हुई यह जानने के लिए वह अपेक्षित तथ्य जुटाता है। इस सन्दर्भ में अनुमानाश्रित सन्देह जनक प्रश्न या उनका अपनी इच्छा के अनुसार समाधान देना इतिहासकार का कर्तव्य नहीं है। लेकिन ऐसे तर्कों से सहमत होना कठिन है। इतिहासकार के लिए अनुमान एक वर्जित वस्तु नहीं हो सकता। सच तो यह है कि अतीत के सारे तथ्य सुलभ नहीं होते। अतः इतिहास प्रारम्भ में अत्यन्त सीमित अनुमान और परिकल्पना पर भी आधारित रहता है और ज्यों-ज्यों उपलब्ध तथ्य और ज्ञान में वृद्धि होती है, नये प्रमाण मिलते जाते तो फिर उन्हीं के अनुसार परि - कल्पना एवं अनुमान में भी संशोधन हो जाता है। अतः इतिहास भी स्थिर और जड़ विधा नहीं है - उसके निष्कर्षों में भी परिवर्तन और विकास होता रहता है।

लेकिन साहित्यकार के द्वारा साहित्य सृष्टि में अनुमान का उपयोग करते समय ऐसा कोई बन्धन नहीं रहता। साहित्यिक वर्तमान के माध्यम से अतीत को देख सकता है और भविष्य की कल्पना कर सकता है। इसलिए अतीत की स्थितियों के अनुभव से वह निकट वर्तमान और सुदूर भविष्य में होनेवाली स्थिति का अनुमान कर सकता है। इसके लिए इसका अतीत एवं वर्तमान का पूर्ण अनुभव काम आता है। मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार को अनुमान की जगह ऐतिहासिक रचनाओं में अतिकल्पना या फैंटसी के प्रयोग की छूट दी जा सकती है। विषय वस्तु-वाली साहित्यिक रचनाओं में भी उन्हें रोचक बनाने, घटनात्मक के "गैप" को भरने, घटना में नयी अर्थवत्ता लाने के लिए उपयुक्त अनुमान का उपयोग ही साहित्यकार कर सकता है।

---

1. इतिहास दर्शन - बुद्ध प्रकाश - पृ. 170.

इतिहास, साहित्य और संस्कृति – इनका अन्तः सम्बन्ध :-

मानव समाज के असंख्य घात प्रतिघातों में आधुनिक इतिहासकार ऐसे चिरन्तन नियमों का अन्वेषण करना चाहता है, जिनका संबंध व्यक्ति विशेष और काल विशेष से न होकर मानव-सभ्यता और संस्कृति के चिरंतन एवं गतिमान तत्वों से है। हर एक जीवन का ऐसा अपना एक अतीत होता है जो भावी जीवन की ओर संकेत करता है। सच्ची आधुनिकता वही है जो वर्तमान को भूत और भविष्य से ठीक-ठीक जोड़ पाती है। इतिहास मनुष्य को काल, देश और जाति से आबद्ध किन्तु फिर भी गतिशील मानकर चलता है। हर एक देश की अपनी संस्कृति होती है। आधुनिक इतिहासकारों की धारणा है कि संस्कृति मनुष्य की मानसिक भौतिक प्रगति की एक प्रकार की इकाई है और इतिहास का वास्तविक अध्ययन इन्हीं संस्कृतियों का अध्ययन है।

कहते हैं कि " संस्कृति " का सबसे पहला प्रयोग " सभ्यता " के अर्थ में हर्डर (1784-91) के द्वारा किया गया।[1] धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, स्थापत्य, विज्ञान, सामाजिक-दैनंदिन व्यवहार इत्यादि में संस्कृति को उपलब्ध किया जा सकता है। हमारे प्रगतिशील आदर्शों का एक रूप संस्कृति कहलाता है। संस्कृति वस्तुतः जीवन की समग्रता की खोज है।

डा॰ वासुदेवनारायण अग्रवाल के मत में – " संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।"[2]

---

1. Herder (1784-91) first used the plural word cultures in the sense of civilization – culture, by Raymond-william, P- 10
2. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, गुलाबराय – पृ॰ 1॰

शाब्दिक रूप से देखें तो " संस्कृति " शब्द का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना । एम.एन. राय के अनुसार " मानव जाति को निम्न श्रेणी के पशुओं से भिन्न करनेवाली संवेगात्मक शक्तियों, मानसिक प्रयासों तथा भौतिक व्यवहारों के विकास को संस्कृति कहते हैं ।

दिनकर का कहना है -- " संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं, ... संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म जन्मान्तर तक करती है ।"[1]

संस्कृति एक ओर भौतिक, ठोस और वस्तुगत है तो दूसरी ओर आत्मिक, व्यक्तिगत और सामाजिक भी । एक ओर क्षेत्रीय और राष्ट्रीय है तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय भी और इसका द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है । यह राष्ट्रीय भावना को प्रेरित करती है । किसी देश या जाति की पतना - वस्था में उस युग की विशेष हृदयों को संस्कृति अनुभूति बनकर प्रेरित करती है जिससे सुषुप्त राष्ट्रीय भावना जागृत हो उठती है ।

संस्कृति व्यक्ति तक सीमित नहीं है, समष्टिगत भाव लेकर देश और काल के अनुसार परिवर्तित होती चलती है । किसी भी देश की संस्कृति को जानने के लिए उस देश के साहित्य से भी परिचित होना आवश्यक है ।

संस्कृति के दो पक्ष किये जा सकते हैं -- आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष । संस्कृति के बाह्य पक्ष स्पष्ट होते हैं - पर्वों, त्योहारों, गीतों, रिवाजों, व्यवहारों से देखा जा सकता है । आन्तरिक पक्ष की सूक्ष्मता को महसूस किया

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ. 153.

जा सकता है । मार्क्सवादी दृष्टि में संस्कृति का संबंध समाज के वर्गों से होता है अर्थात् संस्कृति की वर्गीय स्थिति होती है । संस्कृति और सभ्यता में गहरा अन्तर होता है । सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा असुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर । सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल तथा संस्कृति स्थिर-स्थायी होती है । हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का ।"[1] इन दोनों का सम्बन्ध आत्मा और शरीर का है । संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भाँति निष्प्राण रहता है । सभ्यता के अनुसार संस्कृति की उन्नति होती है । ये दोनों परस्पर विरोधी तत्व नहीं हैं, एक दूसरे के पूरक हैं जैसे पुस्तक के दो पृष्ट एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के लिए पूरक हैं ।

संस्कृति एक सामाजिक विरासत है और वह संचय से विकसित होती है । इसका सम्बन्ध जनता से है तथा भौतिक परिस्थितियों के आधार पर इसकी उन्नति होती है । संस्कृति और समाज अंगांगी भाव से जुड़े होते हैं अर्थात् एक का परिवर्तन दूसरे से परिलक्षित होता है । इलियट ने संस्कृति के जातिविशेष होने की बात करते हुए उसके निर्माण में परिवार को महत्वपूर्ण माना है । कार्लमार्क्स ने संस्कृति को मनुष्य की प्रगति से जोड़कर उसका विश्लेषण किया है ।

भगवतशरण उपाध्याय संस्कृति को सामाजिक सन्दर्भ प्रदान करते हुए कहते हैं " संस्कृति का संबंध सामाजिक जीवन से अधिक है । जब आदमियों का एक दल या समाज एक ही रीति से कुछ करता है, एक ही विश्वास रखता है, एक ही प्रकार के आदर्श सामने रखता है, अपने पुरखों के कर्मों को समान रूप से आदर,

---

1. विचार और वितर्क - हजारी प्रसाद द्विवेदी - पृ. 153.

गर्व और गौरव की चीज समझता है, तब संस्कृति का जन्म होता है । संस्कृति आदमी के सामाजिक जीवन का प्राण है ।"

मुनिश्री विद्यानन्द जी ने मनुष्य की शालीनता के तीन उपकरण-समाज, संस्कृति और सभ्यता माने हैं । "समाज में वह पलता है, संस्कृतिक्षीर को पीकर पुष्ट होता है और सभ्यता के अश्व पर आरूढ़ होकर समय के राजमार्ग पर द्रुतगति से दौड़ लगाता है । समाज उसे सहस्रों वर्षों का संचित गौरवपूर्ण ऐतिह्य उपायन भेंट करता है, संस्कृति उसे आत्मधर्म का अंगराग लगाती है और सभ्यता की सुरभि से उसके मन: प्राणों को आप्यायन मिलता है ।"

संस्कृति सामाजिक परम्पराओं से एक अर्जित वस्तु ह । इसको सामाजिक संस्कारों आदि में देखा जा सकता है । मनुष्य के आपसी व्यवहारों में परिष्करण ही मानव के सांस्कृतिक विकास का इतिहास रहा है । यह संस्कार-संपन्नता या सुसंस्कृत होने की अवस्था ही संस्कृति है । मानव के जन्मजात संस्कारों का विकसित परिष्कृत सामाजिक रूप ही संस्कृति है । साहित्य मनुष्य के जीवन-सागर से उठी एक उत्तुंग तरंग है । मानव जाति के भावों, विचारों और संकल्पों का ही अध्ययन साहित्य है । किसी भी देश की संस्कृति को यदि जानना है तो उस देश के साहित्य से परिचित होना आवश्यक है । साहित्य अधिकांशत: मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना से ओत-प्रोत होता है ।

एक प्रकार से साहित्य संस्कृति का इतिहास भी होता है और वैसे ही संस्कृति साहित्य की प्रेरक शक्ति होती है । किसी विशेष जाति या युग की संस्कृति का साहित्यिक अध्ययन वास्तव में उस जाति-विशेष या युग-विशेष के पारस्परिक मानवीय आचार-व्यवहार, विचार-विनिमय, धर्म-नीति, राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक संगठन, शिक्षा आदि से परिचित होना है जो साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होते है । हर एक देश की संस्कृति काल के अनुसार विभिन्न धाराओं में विभक्त होती है जैसे एक ही नदी की अनेक धाराएँ होती है ।

प्राचीन काल से लेकर संस्कृति का विकसित तथा ऐतिहासिक रूप साहित्य में व्यक्त हो जाता है। साहित्य और संस्कृति का जो अन्योन्याश्रित संबंध है, उसका बाह्य रूप देशकाल में परिवर्तित होता आ रहा है। साहित्य संस्कृति की चेतना है। उन्नत साहित्य से उन्नत संस्कृति और उन्नत संस्कृति से उन्नत साहित्य का पोषण होता है। सांस्कृतिक उन्नति के अनुरूप साहित्यिक उन्नति भी होती है जो देश को सर्वांगीण रूप से आगे बढ़ाने में अपना साथ देती है।

समाज, साहित्य और संस्कृति जीवन की प्रक्रिया के अन्तर्गत होने के कारण ऐतिहासिक हैं। इनका प्रत्येक पक्ष और क्षण अतीत और भविष्य की उपेक्षा रखता है। इनमें स्थिरता नहीं, गतिमयता है, निर्मिति नहीं, निर्माण है, अंत नहीं, भविति है। यही ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन का एक क्रमबद्ध एवं गतिशील रूप है वैसे संस्कृति का भी रूप निरन्तर गतिशील रहता है जिससे जीवन दशा से ही इतिहास की प्रक्रिया चलती है। इतिहास का कर्तव्य मनुष्य की आत्मा तथा आन्तरिक जीवन क्रियाओं से जुड़ा रहता है। वैसे ही संस्कृति केवल मनुष्य की आन्तरिकता से ही नहीं, उसके बाह्य जगत् तक से संबंध रखती है। संस्कृति का भी इतिहास होता है और इतिहास में भी संस्कृति के तत्व निहित होते हैं।

एक लेखक का कहना है कि "इतिहास संस्कृति नहीं है इतिहास में संस्कृति के दर्शन होते हैं।"[1] किसी भी प्रान्त का भौगोलिक एवं कलागत इतिहास वहाँ के पर्यावरण के अनुसार विकसित होता है। विश्व के हर देश की अपनी खास सामाजिक प्रेरणायें आशा-आकांक्षाएँ और आचार-विचार हैं, जिनका निरूपण अपने-अपने देश के निजी परिवेश के अनुकूल हुआ है, इसलिए हर देश की अपनी-अपनी संस्कृति होती है।

---

1. संस्कृति एवं सभ्यता - भारतीय दृष्टिकोण - ब्रजबिहारी निगम - पृ. 11.

स्पेंगलर के अनुसार संस्कृति इतिहास-दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। वे उसे एक शरीरी तत्व (Organism) समझते हैं। इसकी अपनी आत्मा होती है जो अनेक प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त होती है। ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति, व्यवस्था, व्यवहार, आचार, आदि सब मानवी-कार्यकलाप इसकी आत्मा के प्रतीक हैं। इस प्रकार इतिहास और संस्कृति दोनों एक दूसरे में मिश्रित थे। दोनों में अन्तर तो यही है कि इतिहास एक सीमित तत्व है जो किसी व्यक्ति या घटना पर ध्यान देता है। संस्कृति व्यापक है जो जन सामान्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तक अपनी दृष्टि डालती है। संस्कृति के मूलतत्व हमेशा एक ही रहते हैं लेकिन इतिहास किसी विशिष्ट काल का होता है। मगर दोनों के घनिष्ठ संबन्धों को अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि इतिहास संस्कृति के अविशिष्ट संबंध सूत्रों को जातीय जन जीवन के प्रभावों के रूप में सुरक्षित रखता है।

प्रसाद की इतिहास दृष्टि :-

प्रसाद की रचनाओं में उनकी इतिहास दृष्टि, ऊपर से देखने पर, भारतीय इतिहास की विजय-पराजय गाथा अथवा सांस्कृतिक उत्थान-पतन से संबंधी प्रतीत हो सकती है, पर मूलभूत रूप में वह वस्तुतः संपूर्ण मानव इतिहास से ही सम्बद्ध है। अतीत के प्रति उनका दृष्टिकोण किसी संग्राही पुरातत्ववेत्ता का नहीं था और न किसी परम्परा भंजक रोमाण्टिक का ही। पुरातत्ववेत्ता अतीत का अध्ययन एक मृतकाल खण्ड के रूप में करता है तो रोमाण्टिक अतीत को वर्तमान से अलग रखकर देखता है। लेकिन प्रसाद का अतीत के प्रति दृष्टिकोण, वर्तमान पर आधारित और विकसित होता है। उनकी सहज धारणा है कि वर्तमान अतीत का ही फल है। यदि वर्तमान को सुधारना हो तो उसके लिए अतीत की सफलताओं असफलताओं के अध्ययन के निष्कर्षों को भी साथ लाना आवश्यक है। वर्तमान-समस्याओं का समाधान अतीत के सम्यक् अध्ययन में मिल जाएगा। दिनेश्वर प्रसाद ने लिखा है - "प्रसाद की दृष्टि में अतीत-काल का कोई मृतखण्ड नहीं है, वह हमारे पूर्वजों के कार्यकलाप का दूसरा नाम है - ऐसे कार्य - कलाप का, जिसका परिणाम हमारा वर्तमान है।"[1]

---

1. प्रसाद की इतिहास दृष्टि, दिनेश्वर प्रसाद - पृ. 38. आलोचना, सं. नामवर सिंह, वर्ष - 25, अंक - 37.

प्रसाद की अतीत संबंधी दृष्टि पर भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृतियों की टकराहट और तत्कालीन स्वतन्त्रता संग्राम की स्थिति दोनों का प्रभाव दिखायी पड़ता है। इन्हीं से प्रेरणा लेकर वे अतीत के प्रति उन्मुख हुए थे। उन्होंने ऐतिहासिक परिवर्तन के मूल में धर्म, सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्षों एवं उसके घात-प्रतिघातों की महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में स्वीकार किया है। उनकी इतिहास दृष्टि विशेषतः उनके नाटकों में स्पष्ट उभर कर आती है।

इतिहास की अनवरतता के प्रति उनकी धारणा " अजातशत्रु " की भूमिका में स्पष्ट मिलती है। वे लिखते हैं -- " इतिहास में घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नयी घटना होती ही नहीं। किन्तु असाधारण नयी घटना भविष्य में फिर होने की आशा रखती है।"[1]

लगभग ऐसी ही धारणा टॉयनबी की थी। टॉयनबी इतिहास की प्रगति के साथ-साथ पुनरावृत्ति को ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जो जाति परिवेश और परिस्थितियों से उत्पन्न चुनौतियों का समाधान दे पाती है, वही स्थिर होकर आगे बढ़ती है। मानव समाज इन चुनौतियों का स्वीकार तथा समस्याओं का समाधान व्यक्तियों के द्वारा प्रस्तुत करता है। इतिहास के प्रति इसी धारणा को प्रसाद ने अपने " स्कन्दगुप्त " में चक्रपालित की बातों से व्यक्त किया है - " संपूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। ... जीवन में वही विजयी होता है जो दिन-रात युद्धस्व विगतज्वरः का शंखनाद सुना करता है।"[2] इससे इतिहास के प्रति प्रसाद की आदर्शवादी धारणा स्पष्ट होती है। उनकी यह धारणा " इरावती " (असंपूर्ण उपन्यास) में मिलती है। " इरावती " में ब्रह्मचारी कहता है --

---

1. अजातशत्रु - कथा प्रसंग - प्रसाद ग्रंथावली 2 - पृ. 186.
2. स्कन्दगुप्त - प्रसाद ग्रन्थावली 2 - पृ. 460.

"सर्व साधारण" आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी ।"[1]

अपनी रचनाओं मे साहित्यकार व्यक्ति और समाज को लेकर चलता है । प्रसाद व्यक्ति को महत्व देते है, पर सामाजिक धारणा पर बल देते हैं । प्रसाद को व्यक्तिवाद के विरोधी मानते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा है - "प्रसाद स्व में केन्द्रित हो जाने के व्यक्तिवाद के प्रबल विरोधी हैं ।"[2]

उनके अनुसार कोई जाति या देश एक व्यक्ति के कारण बदल नहीं जाता या आगे बढ़ नहीं सकता । देश को आगे बढ़ाने में अनेक व्यक्तियों का योगदान अवश्य रहता है और वेही व्यक्ति युग निर्माता कहे जाते हैं । प्रसाद की इतिहास दृष्टि उनके नाटकों की भूमिकाओं से अधिक स्पष्ट होती है । भारत के इतिहासक्रम की कमी को दिखाते हुए वे लिखते हैं -- "भारत के प्राचीन इतिहास की जैसी कमी है वह पाठकों से छिपी नहीं है । यद्यपि धर्म-ग्रंथों में सूत्र रूप में बहुत-सी गाथायें मिलती हैं किन्तु वे क्रमबद्ध और घटना-परम्परा से युक्त नहीं है ।[3] "अजातशत्रु" में गौतम बुद्ध के काल से ही इतिहास का वास्तविक आरम्भ मानते हुए वे लिखते हैं -- "भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उसकाल की बौद्ध-कथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में प्रसंग आता है । लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं ।"[4]

---

1. इरावती, प्रसाद ग्रन्थावली - पृ. 450
2. दस्तावेज - 44, प्रसाद का काव्य : परम्परा और आधुनिकता के सन्दर्भ मे, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी - पृ. 7.
3. विशाख की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली 2 - पृ. 138.
4. अजातशत्रु - कथा प्रसंग - प्रसाद ग्रन्थावली 2 - पृ. 186.

केवल तथ्याधारित प्रामाणिक इतिहास ही नहीं, तर्काधारित पुराण को भी इतिहास के रूप में स्वीकार किया गया है। "जनमेजय का नागयज्ञ" की भूमिका में प्रसाद पुराण को भी इतिहास की सामग्री का स्रोत बताते हुए लिखते हैं — "... इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओं की परम्परा ठीक करने में नाटकीय स्वतन्त्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है, परन्तु उतनी से अधिक नहीं, जितनी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती हैं।" [1]

इतिहास की घटनाओं के भीतर व्यक्ति की इच्छाओं - आकांक्षाओं का स्वरूप प्रच्छन्न मिलेगा। प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं के मूल में जनता के समर्थन-असमर्थन, इच्छा - अनिच्छाओं को प्रमुख स्थान दिया है। इसलिए इतिहास के निर्माता में केवल एक विशेष व्यक्ति का योगदान नहीं मानते क्योंकि उसके लिए सारा समाज कारणभूत होता है। जैसे "कामायनी" में मनु के प्रति क्षोभ से जनता में अशान्ति तथा विद्रोह उत्पन्न होता है। "विशाख" में नरदेव से विरक्त होकर प्रजा विशाख का साथ देती है। "चन्द्रगुप्त" में नन्द से विरक्त जनता चन्द्रगुप्त की विजय का कारण बन जाती हैं। इसके द्वारा प्रसाद ने यह कहने का प्रयत्न किया है कि किसी विशेष घटना द्वारा इतिहास नया मोड़ ले सकता है और वह घटना बार-बार पुनरावृत्त भी होती है। हाँ, यह अवश्य है कि ठीक अपने पुराने रूप में इतिहास पुनः उपस्थित नहीं होता। इतिहास के प्रति भाववादी दृष्टिकोण भी उनकी रचनाओं में कभी-कभार मिलता है। प्रसाद मानव चेतना में जब इतिहास की घटनाओं के बीज देखते हैं तो वह उलटीबात होती है। इस पर अपना मत व्यक्त करते हुए दिनेश्वर प्रसाद ने लिखा है — "... इतिहास की यह व्याख्या भाववादी या आत्मवादी है, क्योंकि यह ऐतिहासिक घटनाओं

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ - प्रसाद ग्रंथावली 2 - पृ. 275.

का मूल मनुष्य की इच्छा - शक्ति और कल्पना में, यानी उसकी भावसत्ता में ढूँढती है । आत्मवादी प्रसाद के लिए यह स्वाभाविक है कि वे ऐसा ही करें, क्योंकि उनके लिए यह विश्व महाचिति का आभास या प्रकाश है ।" 1

वे इतिहास की परिवर्तन कामी शक्ति के रूप में धर्म को अधिक स्थान देते हैं । अजातशत्रु, इरावती आदि रचनाओं के राजनीतिक घटनाचक्र में बौद्ध-जैन धर्मों का विरोध "इरावती" में शैव तथा वैदिक धर्मों का सम्मिलन, "चन्द्रगुप्त " में ब्राह्मण धर्म का विरोध करने वाले पूरे नंदवंश का विनाश दिखाया गया है जिससे पूरे राज्य तथा शासन में परिवर्तन आ जाता है । " अजातशत्रु " में बौद्ध धर्म के समर्थक और अजातशत्रु विरोध करनेवाले देवदत्त के कारण शासन के अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती है जिनके चलते घट ना क्रम में अनेक मोड दिखाये गये हैं । इन सभी घटनाओं से प्रसाद ने दिखाया है कि इतिहास को दिशा प्रदान करने के लिए धर्म भी एक शक्तिशाली साधन है ।

इस प्रकार के अध्ययन से यद्यपि इतिहास के प्रति प्रसाद की भाववादी दृष्टि के होने के संकेत मिलते है किन्तु उनकी संपूर्ण इतिहास दृष्टि को भाववादी बताना उचित नहीं होगा । उनके पूरे साहित्य की छानबीन करके देखने के बाद ही उनकी ऐतिहासिक चेतना की पूरी जानकारी हमें मिल सकती है और इस संबंध में विश्लेषण करने का प्रयास आगे किया जाएगा ।

1· आलोचना त्रैमासिक वर्ष - 25 अंक - 37 में प्रसाद की इतिहास दृष्टि, दिनेश्वर प्रसाद - पृ· 40·

छायावादकालीन परिस्थितियाँ :

किसी लेखक या साहित्यकार को इतिहास दृष्टि से अध्ययन के लिए उसके व्यक्तित्व तथा उस व्यक्तित्व को प्रभावित करनेवाली सामाजिक स्थितियों से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। साहित्य तभी सच्चा साहित्य कहलाता है जब वह अपनी वर्तमानकालीन स्थितियों से घनिष्ठ होकर उसकी समस्याओं से जूझने और उनका समाधान करने का प्रयत्न करे। इसके लिए साहित्यकार चाहे अतीत का सहारा ले या वर्तमान का, चाहे वह ठोस यथार्थ या काल्पनिक शिल्प का सहारा ले मगर उसकी रचना में उसका यथार्थ तथा इतिहासबोध प्रकट हो ही जाता है।

जयशंकर प्रसाद का हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आविर्भाव द्विवेदी युग (1900-1920) में ही हुआ है जिसकी पृष्ठभूमि में भारतेन्दु युग का पूरा प्रभाव दिखायी देता है। छायावाद युग (1920-1935) तक आकर प्रसाद की रचना-प्रवृत्ति ने युगीन प्रवृत्तियों के अनुसार नया मोड़ ले लिया। द्विवेदी युग के खड़ीबोली आन्दोलन का भी अमिट प्रभाव प्रसाद पर पड़ा है। केवल भाषागत रूप से ही नहीं, युगीन स्थिति के अनुसार भावों, विषयों जैसे अंग्रेजों का शासन, प्रथम विश्वयुद्ध, स्वाधीनता आन्दोलन में परिवर्तन और विकास छायावादी साहित्य की विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु युग के राजनीतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्र की क्रान्तिकारी अभिव्यक्ति ने द्विवेदी युग तथा छायावादयुग में और भी तीव्र रूप धारण कर लिया है। इसलिए उस छायावादी युग के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन करना अनिवार्य है।

जयशंकर प्रसाद और छायावाद युग की राजनीतिक परिस्थितियाँ :

भारतेन्दु-युग की यथार्थवादी साहित्यधारा ने द्विवेदी युग तक आकर नया मोड़ ले लिया। साहित्यिक क्षेत्र में खड़ीबोली आन्दोलन द्विवेदीयुगीन से ही एक रूप लेने लगा था जो आगे चलकर साकार बन गया। सन् 1757 ई॰ के

प्लासी युद्ध से भारत पर अंग्रेजों का शासन जम गया था । सन् 1857 ई. के सैनिक विद्रोह ने स्वातंत्र्य आन्दोलन की जो आरंभिक क्रांतिकारी चिनगारी सुलगायी थी वह भारतेन्दु युग में अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध साहित्य में मुखर होकर आगे चलकर द्विवेदी युग के सामाजिक और राष्ट्रीय जागरण का प्रेरणास्रोत बन गयी है । सन् 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से भी भारत में ऐसी नयी चेतना आई जो राजनीतिक ही नहीं बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण थी । फिर बालगंगाधर तिलक, लालालजपतिराय, विपिनचन्द्र-पाल जैसे उग्र विचार वाले नेताओं का उदय हुआ । सन् 1904 ई. में जापान के द्वारा रूस को परास्त करने की घटना और 1905 ई. में लार्ड कर्जन के बंगभंग का निर्णय - इन सबका प्रभाव भारत की जनता पर किसी न किसी रूप में पड़ा और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उसके उठ खड़े होने में चरितार्थ हो गया । इस राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ-साथ शासन का दमन और अत्याचार भी बढ़ता गया ।

सन् 1914 ई. के प्रथम विश्वयुद्ध के समानान्तर राष्ट्र में नवीन चेतना का आरम्भ भी हुआ । 1918 ई. में जब युद्ध समाप्त हुआ तो उस समय की आर्थिक दुःस्थिति ने सम्पूर्ण विश्व के साथ-साथ भारत को संत्रस्त कर दिया । जलियाँवालाबाग के जघन्य हत्याकांड ने भारतीय आन्दोलनों को और भी सुदृढ़ कर दिया । यह समय साहित्य के क्षेत्र में छायावाद का क्षेत्र था । सम्पूर्ण देश की तत्कालीन निराशा, क्षोभ, घुटन, पीड़ा, असहायता और विवशता आदि के स्पष्ट बिम्ब को साहित्य में निर्मित करने के लिए साहित्यकारों ने अथक प्रयास किया है । 1920 ई. में राजनीतिक क्षेत्र में गाँधीजी का प्रवेश हुआ और फिर तो असहयोग आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी के प्रयोग जैसे आन्दोलनों के फलस्वरूप आत्मनिर्भरता एवं आत्मबल जनजीवन में पैदा हुआ । देश के कोने-कोने में आत्मविश्वास जागृत हुआ और जो आत्मबल वर्षों से समाधिस्थ था,

सचेत होकर साहित्य सृजन में प्रवृत्त हो उठा । वर्तमान की दुर्दशा तथा देश को स्वतन्त्र देखने की इच्छा आदि ने छायावादी साहित्यकारों को वैभवपूर्ण अतीत की ओर प्रेरित किया । रूस की समाजवादी क्रान्ति ने भी समाजवादी विचार-धारा की ओर भारत का ध्यान आकृष्ट कर दिया ।

इस प्रकार छायावादी काव्य में तत्कालीन निराशा, क्षोभ और संत्रास के साथ-साथ अतीत के प्रति प्रेम, राष्ट्रीय भावना, आत्माभिव्यक्ति, आध्यात्मिक चेतना आदि का चित्रण मिलता है । जयशंकर प्रसाद की राजनीतिक चेतना तत्कालीन परिस्थितियों के साथ-साथ अतीत के गहन अध्ययन तथा सांस्कृतिक विरासत की गहरी पकड़ से विकसित हुई थी ।

सामाजिक परिस्थितियाँ :

अंग्रेजी शासनावस्था का कुप्रभाव सामाजिक क्षेत्र पर गहरा दिखायी पड़ता है । सामान्यतया लोग यह समझते हैं कि केवल पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण ही हमारे यहाँ सामाजिक कुरीतियों एवं प्राचीन अंध परम्पराओं का खुलकर विरोध होने लगा मगर यह सच नहीं है । हमारे धार्मिक-सामाजिक सुधारकों ने बिना पश्चिमी प्रभाव के भी अपने सामाजिक अंतर्विरोधों को पहचान लिया था । बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, सती-प्रथा, विधवा-जीवन, वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत आदि के परम्परागत रूपों का विरोध धार्मिक, सामाजिक हस्तियों द्वारा होने लगा था । छायावादी साहित्य में इन सभी कुरीतियों का वर्णन तथा उनके निषेध की कुछ चित्रण मिलता है । हाँ, पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण भी नवयुवकों का जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण बदल गया हो तो इसमें आश्चर्य नहीं । वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, जैसे रूढ़िवादी विचारों की निन्दा की गई । नारी जो भोग्य वस्तु मानी जा रही थी उसे देवी माँ, सहचरी, प्रेयसी के रूप में एक रोमांटिक व्यक्तित्व निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी की रचनाओं में प्राप्त हुआ । सामाजिक रूप से चार दीवारों में बन्दिनी नारी उनसे मुक्त होकर

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में अपना दायित्व निभाने लगी थीं।[1] हिन्दू समाज में सामुद्रिक यात्रा सामाजिक एवं धार्मिक रूप से वर्जित थी, उसे सभी का विरोध किया गया। यह युग सामंत युग के अवशेष का था और देशी पूंजीवाद तथा व्यक्तिवाद जन्म ले रहा था। इस पीड़ा की साहित्यिक अभिव्यक्ति छायावाद में स्पष्ट देखी जा सकती है। मुक्तिबोध ने प्रसाद की कामायनी का इसी दृष्टि से एक सार्थक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ :

हिन्दी के आलोचक अक्सर हिन्दी छायावादी कवियों और अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की तुलना करते हुए छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव को अतिरंजित करके दिखाते हैं। किन्तु छायावाद की जड़ें पाश्चात्य जगत् की अपेक्षा अपनी साहित्यिक परंपराओं में कहीं ज्यादा जमी हुई है। अपनी अस्मिता की खोज की प्रवृत्ति ने भारतीय साहित्य में सामान्यत: और छायावाद में विशेषत: एक नया मोड़ उपस्थित किया और भारतवासियों का ध्यान महान प्राचीन सांस्कृतिक विरासत एवं अंतर्दर्शन की ओर गया। अब हमारे रचनाकार अतीत को अभिमानपूर्ण एवं आशायुक्त दृष्टि से देखने लगे।

भारत में 1828 ई० में राजा राममोहनराय के द्वारा जिस ब्रह्म समाज की स्थापना की गई उसका मुख्य उद्देश्य भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का समन्वय करना था। अस्पृश्यता, जातिगत भेदभाव, बहुविवाह, बाल-विवाह, अवतारवाद, सती-प्रथा आदि का विरोध किया गया है। सभी धर्मों को समान रूप में देखा गया है। बंगाल में ही 1864 ई० में केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रार्थना समाज की स्थापना हुई जिसका मुख्य उद्देश्य एक-ब्रह्म की उपासना, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, स्त्री-शिक्षा का प्रचार, बाल-विवाह आदि के विरोध के साथ-साथ अतीत से सम्बन्ध रखकर, नवीन मानव-मूल्यों के आलोक में उनका विश्लेषण करना भी था।

हिन्दुओं को व्यर्थ के अंधविश्वासों और आडम्बरों से मुक्त होने, पाश्चात्य संस्कृति के लोभ में पडकर भारतीय संस्कृति को नगण्य माननेवाले भारतीयों के लिए स्वामी दयानन्द के द्वारा आर्य-समाज की स्थापना हुई। विधवा पर अत्याचार, बाल-विवाह, अस्पृश्यता आदि के विरोध के साथ-साथ धर्म की रक्षा को भी प्रमुख उद्देश्य बनाया गया। थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्णपरमहंस, विवेकानंद, अरविन्द आदि के दार्शनिक विचारों का साहित्य में अभिव्यक्ति मिली। स्वामी विवेकानंद ने अपने समय की नारी की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है -- " पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा निवास करती है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते हो, किन्तु कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया ? स्मृतियाँ रचकर तथा गुलामी की कडियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बनाकर छोड दिया। .. "[1]

आर्थिक परिस्थितियाँ :-

भारत में अंग्रेजों के आगमन और उनके शासन के प्रभाव ने भारत के आर्थिक क्षेत्र को पूर्ण रूप से हिला दिया। अंग्रेजों ने भारत की कृषि, इसके उद्योगों और खनिज सम्पदा सब का अपने हित में उपयोग किया। यहाँ के उद्योगों और कृषि को नष्ट कर भारत को आर्थिक रूप से पराश्रित करने की कुचाल में अंग्रेज कामयाब हुए। देश की अटूट खनिज सम्पदा का दोहन किया और भारत को ब्रिटिश उत्पदन का बाजार बना दिया गया। भारत के इस प्रकार विदेशी पूँजीवाद का बडा ही कडुवा स्वाद चखा। मगर देश के परिरक्षण शोषण के क्रम में भारतवासियों को अंग्रेजो से अनचाहे ही कुछ वैज्ञानिक साधन मिले जिन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों को दूरगामी रूप से प्रभावित किया है। एक ओर यातायात (स्टीमर, रेल, मोटर) प्रेस (समाचार पत्र, पुस्तकें) शिक्षा (यूनिवर्सिटी, कालेज)

---

1. संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह दिनकर - पृ. 600.

एक व्यवस्था, न्यायालय आदि के द्वारा देश के विभिन्न भाग आपस में जुड़ने लगे पर इसी के साथ-साथ हमारे प्राचीन उद्योग, व्यवसाय, कला कौशल नष्ट हो गये। कृषि और घरेलू उद्योग-धन्धे पूर्णतः क्षतिग्रस्त हो गये।

प्रथम महायुद्ध से भारत की आर्थिक स्थिति और भी अधिक विषम हो गई। अंग्रेजों ने समाज में एक जमींदार वर्ग पैदा किया जिस के द्वारा समन्वय जनका दुहरा शोषण होने लगा। अंग्रेजी शासन व्यवस्था के फलस्वरूप भारत में एक मध्यवर्ग तैयार हो गया और वह देश की स्थिति से असन्तुष्ट रहने लगा। विदेशों की मांग के आधार पर थोड़े-बहुत उद्योग धंधे विकसित होने लगे। अंग्रेजों के द्वारा भारतीय उद्योग-धंधों पर अधिकाधिक कर लगाये गये थे, दूसरी ओर पूंजी एवं साधनों के अभाव में उद्योगों की उन्नति अवरुद्ध थी। कृषक वर्गों के बोझ से दबकर मजदूर बन गये और आजीविका के लिए गाँव छोड़कर शहर चले गये। छायावादी काव्य में वर्ग वैषम्य, गरीबी, पीड़ा, घुटन, निराशा, पलायन आदि सभी प्रवृत्तियाँ युगीन राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक वातावरण में पूंजीवाद स्वातंत्र्य चेतना और सांस्कृतिक परम्परा ने ही छायावाद की पृष्ठभूमि निर्मित की और छायावाद के राष्ट्रीय, आर्थिक-वैषम्य और वेदना के स्वरों ने प्रगतिवादी काव्य की भूमिका को स्थान दिया।

द्वितीय अध्याय

ऐतिहासिक चेतना का सन्दर्भ और जयशंकर प्रसाद का काव्य

जयशंकर प्रसाद की कविता में ऐतिहासिक चेतना का स्वरूप

भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग तक की हिन्दी कविता का समाज बोध और इतिहास बोध :-

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की शुरूआत भारतेन्दु से मानी जाती है क्योंकि तभी से वस्तुतः आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों का आरम्भ हुआ है। सन् 1857 के सिपाही विद्रोह के कारण भारतीय समाज में सामान्यतः एवं हिन्दी क्षेत्र में विशेषतः परिवर्तन आया। ईस्ट इण्डिया कंपनी का प्रभुत्व देश पर कायम होने के बाद शासकों का ध्यान अंग्रेजी प्रचार की ओर गया। अंग्रेजों ने अपना अधिकार भारत देश पर स्थापित करने के लिए अनेक हथकंडे अपनाये। यह समय मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के ह्रास एवं नवीन आधुनिक चेतना के सूत्रपात का संक्रान्ति काल भी था। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक और भाषिक सभी क्षेत्रों में उथल-पुथल मची थी। नवीन परिवर्तन, सुधारवाद, जनजागरण की प्रवृत्तियाँ सक्रिय थी और अनेक विद्वानों ने इस दौर को नवजागरण (रेनेसाँ) से जोड़ कर भी देखा है। साहित्य के क्षेत्र में

इस युग के रचनाकारों की दृष्टि व्यक्ति केन्द्रित न होकर समाजाश्रित ही रही। उस समय जनता में दो प्रकार की सीमित विचार दृष्टियाँ थीं - एक प्राचीन रूढ़िवादिता के प्रति मोह-भाव और दूसरी विदेशी सभ्यता के प्रति आकर्षण। भारतेन्दु और अन्य कवियों ने इन भ्रमों से जनता को दूर रहने का सन्देश दिया।

अंग्रेजी सरकार के अत्याचार और शोषण का खुला विरोध करने का सवाल ही भारतेन्दु युगीन कवियों के सामने नहीं था। फिर भी बहुविध रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से कवि अपने विरोधी स्वर को सुनाने लगे। पुराण तथा इतिहास के अनेक कथानकों के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं को समझने, प्रदर्शित करने और सुधारने का प्रयत्न उन लोगों ने किया है। भारतेन्दु युग की सामाजिक चेतना को लक्ष्य करते हुए पूनमचन्द्र तिवारी ने लिखा है -- " धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक और जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में एक आधुनिक जीवन-दृष्टि को स्वीकार करने की प्रवृत्ति तथा लोक जीवन की महत्वपूर्ण स्वीकृति की ईमानदार झलक दिखाई देने लगी। भारतेन्दु युग इसी लोक चेतना, जन चेतना, यथार्थ के आग्रह और साहस पूर्ण अभिव्यक्ति के परीक्षण का युग है। नये मूल्यों को साहित्य में पिरोने का युग है।"[1]

आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्णमिशन आदि सभी धार्मिक-सामाजिक संस्थाएँ और आन्दोलन विभिन्न रूढ़ियों से लड़ रहे थे। इन सभी का प्रभाव भारतेन्दु युगीन कवियों पर पड़ा। प्राचीन और नवीन भावनाओं के मिश्रण वाले इस संक्रांति युग में आधुनिकता का प्रथम-प्रथम प्रवेश होना माना जाता है। तिवारी जी ने लिखा है -- " भारतेन्दु युग

---

1. द्विवेदीयुगीन काव्य - पूनमचन्द्र तिवारी - पृ. 37.

स्वयं ही एकदम आधुनिकता का बोध देनेवाला तद्युगीन नाम है । आधुनिक काव्य के नूतनता विधायक प्रथम युग का वह प्रतीक है ।" [1]

भारतेन्दु युग का साहित्य जनता का साहित्य कहा जा सकता है । अंग्रेजों की भेदनीति के प्रति जनता में क्षोभ पैदा हो गया था । देश की संस्कृति के शुभ अंगों की रक्षा करना और स्वर्णिम अतीत से प्रेरणा लेते हुए अंग्रेजों के शोषण के विरुद्ध जनता को जागृत करना भारतेन्दु युग का लक्ष्य रहा । हिन्दू-मुस्लिम भेद भाव, बाल विवाह, छुआछूत-जैसी सामाजिक कुरीतियों के प्रति उन्होंने आवाज उठायी । उनके इस उद्देश्य पर बल देते हुए डा. रामविलास शर्मा ने लिखा है -- " हिन्दू-मुसलमानों के आन्तरिक विद्रोह को मिटाकर अंग्रेजों के विरुद्ध उन्हें जगाने का प्रयत्न भारतेन्दु ने किया है । इसलिए अपनी कविता के माध्यम से वह स्पष्ट कहा है -- " यह समय इन झगडों का नहीं, हिन्दू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिये । " [2]

राज भक्ति, राष्ट्र भक्ति, अतीत का गौरव-गान, भक्ति-धारा, समाज-सुधार स्वदेशी का सम्मान, स्वाभिमान आदि भारतेन्दुकालीन कवियों की मिली-जुली प्रवृत्तियाँ थीं । इनमें प्रमुख प्रवृत्ति राष्ट्रप्रेम और जनजागृति की थी । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु की राष्ट्रीय चेतना के विषय में लिखा है - " भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश भक्ति का था । .... बहुत-सी स्वतन्त्र कविताएँ भी उन्होंने लिखी जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जागी हुई चिन्ता आदि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है ।" [3]

---

1. द्विवेदीयुगीन काव्य - पूरनचन्द्र तिवारी - पृ. 35.
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - रामविलास शर्मा - पृ. 42.
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 542.

भारतेन्दु युगीन समाज सुधार की भावना की समीक्षा करते हुए डा॰इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है - " छायावाद से पहले हिन्दी या खड़ी बोली मे कविता का सूत्रपात भारतेन्दु काल में हो चुका था । इसके मूल मे समष्टिचिन्तन अथवा समाज मंगल की स्थूल भावना थी जिसका उद्देश्य समाज-सुधार था तथा जिसकी शैली उपदेशात्मक थी । इस समाज के उद्धार एवं सुधार का माध्यम पत्र-पत्रिकाएँ थीं जिनका प्रभाव कविता के स्वरूप पर पड़ा ।" [1]

इस प्रकार भारतेन्दु युगीन कवियों में सामाजिक विषमताओं के प्रति रोष, तत्कालीन भारत की दुर्दशा पर दुःख और क्षोभ, अंग्रेजी शासन के प्रति असन्तोष और आक्रोश-आदि का चित्रण मिलता है । उस समय नारी की स्थिति भी घर तक ही सीमित थी, वह सामाजिक-पारिवारिक रूढ़ियों-नियमों में बन्दी थी । उसका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं था । इन सभी का चित्रण भारतेन्दु युगीन रचनाओं में मिलता है ।

द्विवेदी युग तक आते-आते कवियों के दृष्टिकोण में अपेक्षित विकास हुआ । सुधारवादी दृष्टिकोण और भी तीव्रतर हो गया । भारतेन्दु से द्विवेदी युग तक की चेतना के विस्तार को संकेतित करते हुए अम्बादत्त पाण्डेय ने लिखा है -- " काव्य की आन्तरिक शक्तियों का परिचय हमें पूर्ववर्ती काव्य में नहीं मिलता । भारतेन्दु और द्विवेदी युग मे कविता के माध्यम से कवियों का सुधारवादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ । प्रारम्भ में काव्य के द्वारा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया गया और मातृभाषा एवं मातृभूमि को मुख्य विषय बनाया गया ।" [2]

---

1. आधुनिक कविता का मूल्यांकन - इन्द्रनाथ मदान - पृ॰ 12॰
2. छायावादी काव्य में लोकमंगल की भावना, अम्बादत्त पाण्डेय - पृ॰ 346॰

भारतेन्दु युग मे काव्य का व्यापक भाषिक फलक ब्रजभाषा का ही बना रहा और कविता की अन्तर्वस्तु में विनया भक्ति, श्रृंगार को ही महत्व मिला। किन्तु खड़ी बोली कविता की भाषा की जगह ले रही थी। विकसित होने वाले समाज को द्विवेदी युग मे प्रतिबिम्बित होते देख सकते हैं। तिवारी जी के शब्दों में - "द्विवेदी युग (1900 - 1920 ई॰) में घटनाओं के क्रम-विकास और उससे उत्पन्न परिस्थितियों का अध्ययन करने पर बड़ा आश्चर्य यह देखकर होता है कि भारतेन्दु काल में संकट की सांस लेता हुआ काव्य तेजी से नये मूल्यों को प्रश्रय देता गया, और समाज, संस्कृति, धर्म, अर्थ, राजनीति किसी भी जवाब देने से बिना किनारा किये अपनी युग-चेतना की अभिव्यक्ति करता गया।" [1]

आलोचकों के द्वारा भारतेन्दु और द्विवेदी युगीन कवियो मे सामाजिक बोध को स्पष्ट महसूस किया जाता रहा है। उस जमाने का साहित्य अपने युग की हलचलों से स्पंदित है। रचनाकार अपनी सामाजिक और राजनीतिक आकांक्षाओं से प्रेरित-प्रभावित था। "हिन्दी साहित्य के प्रगतिशील-भारतेन्दु युग में देश भक्ति, परोपकार, मातृभाषा के प्रति प्रेम, समाज सुधार, पराधीनता से मुक्ति-उन दिनो की विकासशील मनोवृत्तियों के चिह्न हैं। उस युग के साहित्य में राष्ट्रीय भावना और भारतीय दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ की व्यंजना है। द्विवेदीयुग मे सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण समाज सेवा का भाव और गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है। ...." [2]

अंग्रेजो की दमननीति का सामना भारतीय जनता ने बौद्धिक स्तर पर भी किया। उस युग के कवियों ने भारत की दुर्दशा पर केवल आँसू नहीं बहाये, बल्कि जनता को कर्मरत होकर आगे बढ़ने का प्रोत्साहन भी दिया। स्वर्णिम

1· द्विवेदी युगीन काव्य - पूनमचन्द तिवारी - पृ· 160·

2· छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना - संतोष कुमार तिवारी - पृ·106·

अतीत का चित्रण, जन्मभूमि के प्रति प्रेम, वर्तमान दशा पर चिन्ता, सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्य - इस युग के प्रमुख तत्व बन गये। भारतीय समाज में पौराणिक धर्म की प्रमुखता के कारण बहुदेववाद, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा जैसे भाव प्रधान हो गये थे। पर इस युग मे गीता और वेदान्त का मानव धर्म प्रमुख हो उठा। द्विवेदी युग राष्ट्रीय जागरण की दिशा में जन-आंदोलनों की व्यापकता का समय था। पर दूसरी ओर अंग्रेजों का दमन-चक्र भी तीव्र हुआ। अंग्रेजों की भेदनीति से सांप्रदायिक विद्वेष मे भी बढ़ोत्तरी हुई। अंग्रेजी शिक्षा का विस्तारवादी रूप भी सामने आया। इस युग के सुधारवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण को पतनशील सामंती नैतिकता एवं नवोदित पूंजीवाद के कारण उभरने व्यक्तिवाद मे बदलते भी देखा जा सकता है। इसके कारण मनुष्य को एक ओर सामन्ती प्रवृत्तियों की सीमाओं का ज्ञान हुआ और दूसरी ओर वह स्वातंत्र्य-भावना की ओर उन्मुख हो गया। ऐसे युग मे पैदा होनेवाला संवेदन-शील रचनाकार व्यक्तित्व ही छायावादी काव्य की वैयक्तिकता का वाहक बन गया।

मध्यकालीन समाज मे पीड़ित नारी की स्थिति जिस पर सामन्तवादी समाज, जातीयता, संयुक्त परिवार प्रथा एवं रूढ़िवादी आदर्शों के बोझ तले कराहने की थी, आधुनिक युग में आकर वह कुछ सुधरने लगी। सती-प्रथा, बाल-विवाह और बहुविवाह के विरुद्ध तथा स्त्री शिक्षा-प्रसार एवं पुनर्विवाह की दिशा में सुधार किए जाने लगे।

द्विवेदी युग की स्थूलता से छायावाद युग की सूक्ष्मता तक पहुँचने वाली बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों की यात्रा पर दृष्टि डालते हुए अविनाश भारद्वाज कहते हैं -- "..... युगीन परिस्थितियों एवं जनमानस के स्वभाव ने जहाँ द्विवेदीयुगीन प्रतिमानों को चूर-चूर कर दिया और नवीन युग के नूतन प्रकाश-नवीन साहित्य और नूतन प्रतिमानों की स्थापना हुई, वहाँ जनमानस

अंतर्मुखी नहीं हुआ था, कवि - मानस ही

युग के कठोर सत्य से टकराकर अंतर्मुखी हो गया ।"[1] वस्तुतः जनमानस अंतर्मुखी हुआ था । सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों की सक्रियता एवं इस काल की गद्य रचनाएँ-विशेष कर प्रेमचन्द की इस बात का प्रमाण हैं ।

छायावादी कविता की सामाजिक और ऐतिहासिक चेतना :-

ऊपर से देखने पर छायावादी कवि मूलतः व्यक्तिवादी प्रतीत होता है । यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए परम्पराओं और नियमों से संघर्ष और विद्रोह करता है । छायावादी काव्य की इसी वैयक्तिकता को दिखाते हुए डा॰सुवास कुमार का कहना है -- "द्विवेदीयुगीन कविताएँ स्थूल जीवन-दर्शन की कविताएँ थीं और उन कविताओं में " व्यक्ति " को ही नहीं, सामाजिक वस्तुगत यथार्थ को भी सही दृष्टि से नहीं देखा गया । .... छायावादियों ने न केवल भाषा को काव्यानुकूल मुलायम बनाया, अपितु उसमें वैयक्तिक भावों और सूक्ष्म तथा विद्रोही जीवन-दर्शन को भी प्रकट किया ।"[2]

सामाजिक इतिहास की दृष्टि से देखें तो यही वह समय था जब सामंतवाद का क्रमिक अंत और पूँजीवाद का उदय होने लगा । उच्च वर्ग और निम्नवर्ग के बीच मध्य वर्ग उभरकर सामने आने लगा । आर्थिक संकट और सामाजिक विषमता से विरक्त मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग गहरी निराशा और उदासीनता का शिकार होने लगा । छायावादी कवि इसी वर्ग से आते थे । अतीत के प्रति मोह, आदर्शवादी प्रवृत्ति, राष्ट्रीयता, परम्परा के प्रति आलोचना पूर्ण दृष्टिकोण, नारी को समाज में सम्मानित स्थान देने की भावना आदि प्रवृत्तियाँ इनके काव्यों में दिखने पड़ने लगीं ।

---

1. छायावाद युगीन काव्य, अविनाश भारद्वाज, पृ॰ 25 - 26.
2. आधुनिक हिन्दी कविता, सुवास कुमार - पृ॰ 107.

द्विवेदी युग एक नारी परम्परागत मर्यादा सीमा के बन्धनों में घिरी थी। लेकिन छायावाद में नारी को अपेक्षाकृत व्यापक आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखा गया। यहाँ देवी, माँ, सहचरी, प्राण के रूप में नारी के प्रति श्रद्धा भाव व्यक्त हुआ है। कवि ने अपनी निजी अनुभूतियों को प्रच्छन्न एवं रहस्यात्मक ढंग से व्यक्त करने की क्षमता अर्जित कर ली। विषाद, प्रेम-पीड़ा, आशा-निराशा, उत्कण्ठा-उन्माद उनके काव्य के विषय बने। छायावादी कवि को व्यक्ति-आकांक्षाओं की पूर्ति में समाज प्रतिकूल बना दिखायी देता था। व्यक्तिवादी छायावादी कवि स्वयं को अकेला पाता था। वह कल्पना जीवी बन गया। रवीन्द्र उसके असफल प्रेम सम्बन्धी भावों के कविता का क्षोभ भरने लगा। दीनानाथ शरण के शब्दों में -- "जब कविता में विषय की कमी हो जाती है तो कवि एक ही विषय विविध कल्पनाओं द्वारा कहने लगता है।"[1]

इस व्यक्तिवादी साहित्य में समाज का कोई महत्त्व नहीं होने की बात दीनानाथ शरण ने कही है -- "समाजपरक कविता के विरुद्ध ही तो छायावाद की व्यक्तिनिष्ठ कविता का उद्भव हुआ था।"[2] पर यह समझना गलत है कि छायावादी कवि ने केवल अपने व्यक्तिगत जीवन से ही अपने को जोड़ रखा था और वह समाज से बिलकुल निरपेक्ष था। क्या छायावाद कवि कभी देश की बात नहीं सोचता है? इसी प्रश्न का हल ढूँढने के क्रम में डा॰विश्वनाथ चौहान लिखते हैं -- "कवि का "मैं" प्रत्येक प्रबुद्ध भारतवासी का "मैं" था, इस कारण कवि की विषयगत दृष्टि की अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो लाक्षणिक भाषा और अप्रस्तुत योजना शैली अपनाई, उसके संकेत और प्रतीक हर व्यक्ति के लिए सहज प्रेषणीय बन सके।

1• छायावाद मूल्यांकन और विश्लेषण : दीनानाथ शरण - पृ• 43•

2• - वही - पृ• 42•

छायावादी कवियों की भावनाएँ यदि उनके विशिष्ट वैयक्तिक दुःखों के रोने-धोने तक ही सीमित रहती, उसके भाव यदि केवल आत्मकेन्द्रित ही होते तो उनमें इतनी प्रेषणीयता कदापि न आ पाती ।"[1]

ये कवि समाज से भी अच्छी तरह परिचित थे । छायावादी काव्य में सामाजिक चेतना को दिखाते हुए डा॰ शम्भूनाथ सिंह ने लिखा है -- " राजनैतिक जीवन की सफलता, निराशा, असन्तोष, घृणा, विराग और साथ ही भविष्य की आशा, उमंग, प्रेम, सद्भावना, सुख-संतोष आदि मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति काव्य (छायावादी काव्य) में विभिन्न प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष रूपों में हुई है ।"[2]

अतः द्वन्द्वात्मक दृष्टि से छायावादी काव्य के अध्ययन की आवश्यकता महसूस होती है । इसके तरह सोचते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है -- "नवीन व्यक्तिवाद ने, वह जहाँ कहीं भी हो, सामंती बेड़ियों को मनुष्य की निविड़-प्रवृत्तियों को भी मुक्त किया, अर्थात् उसके नये जीवन मूल्य और नये-नये आदर्श तैयार किये गये, जो व्यक्ति स्वाधीनता और जनतन्त्री भावना के अनुकूल थे । छायावाद में इसके प्रथम स्पन्दन हमें सुनाई देते है ।"[3]

जयशंकर प्रसाद की कविता में ऐतिहासिक चेतना का स्वरूप :-

" कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरता के बाह्य-वर्णन से भिन्न, जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभि - व्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे " छायावाद " के नाम से अभिहित किया गया । रीतिकालीन प्रचलित परंपरा में जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी -

---

1. आधुनिक हिन्दी कविता, [illegible], पृ. 13 में उद्धृत
2. छायावादी युग, शम्भूनाथ सिंह - पृ. 63.
3. कामायनी - एक पुनः विचार, मुक्तिबोध - पृ. 49.

इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई । वे नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थी ।"[1]

" छायावाद " के प्रति प्रसाद का यही मत था कि इसमें कवि बाह्य जगत से अधिक अन्तः जगत को ही प्रधानता देते हैं । " स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह " कहते हुए " छायावाद " की परिभाषा डा॰ नगेन्द्र ने की थी और बताया था कि " स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है । स्थूल शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है । इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप-रंग, सौंदर्य आदि सन्निहित हैं और उसके प्रति विद्रोह नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टेकनीक का विद्रोह है ।"[2]

छायावाद चाहे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह हो या नहीं, यह मानी हुई बात है कि इसमें कवि की निजी रागात्मक अनुभूतियों का प्राधान्य था । ऐसी ही संवेदनशीलता को लेकर प्रसाद ने अनेक काव्यों की रचना की । उनकी काव्य-रचनाओं के विकास पर बाह्य प्रभाव की मुक्त चर्चा करते हुए श्री राम - प्रसाद मिश्र बताते हैं —" प्रसाद के कवि के विकास को तीन सोपानों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम भारतेन्दु-प्रभाव का सोपान था जो कानन-कुसुम तक चलता है, द्वितीय रवीन्द्र प्रभाव का सोपान जो लहर तक चलता है, तृतीय मौलिकता और दार्शनिकता का सोपान जो कामायनी में स्पष्ट होता है ।"[3]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद - पृ॰ 522,
2. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डॉ॰ नगेन्द्र - पृ॰ 9.
3. प्रसाद कवि, राम प्रसाद मिश्र - पृ॰ 26.

रामप्रसाद मिश्र के इस अतिरंजित कथन में प्रच्छन्न आंशिक सच्चाई से इनकार करना कठिन है । प्रसाद की आरंभिक रचनाओं पर भारतेन्दु या रवीन्द्रनाथ का सीधा प्रभाव नहीं कहा जा सकता । यह सच है कि प्रसाद ने भी भारतेन्दु की तरह ब्रजभाषा में ही आरंभिक काव्य रचनाएँ की हैं, किन्तु प्रसाद की ब्रजभाषा कविताएँ भारतेन्दु की कविताओं से भिन्न हैं । प्रसाद की ब्रजभाषा कविताओं में भी छायावादी काव्य की कतिपय विशेषताओं को लक्षित किया जा सकता है । उनकी ब्रजभाषा में रचित कविताओं के विषय में डा॰ प्रेमशंकर का मन्तव्य है कि " .... प्रसाद की इन सर्व प्रथम कविताओं को देखने से एक बार स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने श्रृंगार, प्रकृति, देश, आदि के विषय में जो नवीन प्रयोग आरम्भ किया था, उसका विकास होने लगा था । अलंकार का स्थान अनुभूति को प्राप्त हो रहा था और शब्दाडम्बर से भी कविता मुक्त हो रही थी ।"[1] स्पष्ट है कि ब्रजभाषा काव्य में भी प्रसाद ने अपनी निजी राह निकाली थी और वे भारतेन्दु के प्रभाव से आच्छन्न कविताएँ नहीं रच रहे थे ।

प्रसाद की रचनाओं पर दृष्टि डालें तो " कामायनी " को छोड़कर अन्य सभी काव्यात्मक रचनाएँ सामान्यतः मुक्तक हैं । संभव है कि कुछ लम्बी कविताओं में प्रबन्धात्मकता का आभास हो, पर उन्हें मुक्तक मान लेना असंगत नहीं होगा । यहाँ यह प्रश्न करना समीचीन जान पड़ता है कि क्या मुक्तक रचनाओं के द्वारा किसी कवि की ऐतिहासिक चेतना का संधान पाना संभव है ? प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु का विस्तार अनेक सर्गों या खंडों में विभाजित किया जाता है तो उसमें कवि के निजी दृष्टिकोण, मान्यता, विचार आदि की अभिव्यक्ति का अवकाश होता है और कवि के वैचारिक आग्रह तक को जान लेना असंभव नहीं होता । किन्तु मुक्तक काव्य की अंतर्वस्तु न केवल आकार में लघु होती है बल्कि भाव और संवेदना के स्तर पर अत्यंत सूक्ष्म और

---

1. प्रसाद का काव्य - प्रेमशंकर - पृ॰ 96.

प्रच्छन्न थी । एक अध्येता ने प्रबन्ध काव्य और मुक्तक के अन्तर को कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया है -- "वस्तुत: मुक्तक एक अल्पकाय, आकर्षक गुलदस्ता होता है जब कि प्रबन्ध एक वनस्थली । किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि मुक्तक रूपी गुलदस्ता किसी प्रबन्ध रूपी वनस्थली से पदपुष्प चुनकर तैयार किया जा सकता है, बल्कि प्रत्येक मुक्तक एक स्वतंत्र भाव, विचार एवं दृश्य से अनुप्राणित होता है ।"[1]

इसी विवेचना को मानो आगे बढ़ाते हुए दीनानाथ शरण लिखते हैं -- "... यदि कविता मुक्तक है तो उसका विषय भी तदनुकूल मुक्तक के योग्य होगा । ... प्रेम, निराशा, उत्कण्ठा, हर्ष, उल्लास अथवा मानव-मन में उठनेवाले इसी प्रकार के क्षणिक भाव, जो मुक्तक की संक्षिप्तता की दृष्टि से आवश्यक हैं । उसी तरह कविता यदि प्रबन्ध है तो विषय ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक आख्यान हो सकता है ।"[2] प्रबन्ध के सभी पद्यांश परस्पर आबद्ध होते हैं तो मुक्तक स्वयं में संपूर्ण और स्वतंत्र होता है ।

यह निश्चित है कि प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना को प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक को ढूँढना दुष्कर कार्य होगा । मुक्तक कविता में सामाजिक अंश बड़ी सूक्ष्मता से घुले होते हैं जिन्हें अलग पाना अत्यन्त कठिन होता है । फिर भी इस सन्दर्भ में हम यथासंभव प्रयास करेंगे ।

<u>मुक्तक कविताओं में ऐतिहासिक चेतना :-</u>

ऐतिहासिक चेतना वस्तुत: वर्तमान की चेतना की व्यापक पृष्ठभूमि होती है । इतिहास या अतीत के प्रति वर्तमान की दृष्टि से चिन्तन और रचनाकार को दुहरा का यात्रा होती है । वह वर्तमान के लिए अतीत को देखता है और

---

1. रीतिकालीन हिन्दी मुक्तक काव्य पर संस्कृत मुक्तक काव्य का प्रभाव, भवानदास निर्मोही - पृ. 22.
2. छायावाद विश्लेषण और मूल्यांकन, दीनानाथ शरण - पृ. 40.

फिर अतीत में जाकर अतीत की दृष्टि से वर्तमान को परखता है। ये दोनों यात्राएँ वर्तमान के बेहतर समझ के लिए, वर्तमान की बेहतरी के लिए होती है। यह द्वन्द्वात्मकता प्रसाद के मुक्तक काव्यों में भी सूक्ष्म रूप से वर्तमान व्यक्ति और समाज अलग नहीं, इनमें द्वन्द्वात्मक जुड़ाव होता है। अतीत हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी होता है जो पल-पल हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है। इसी तरह हमारा निजी जीवन समाज से प्रभावित होता और उसे भी प्रभावित करता है। रमेशचन्द्र शाह प्रसाद की सुप्रसिद्ध कविता " ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे " का विवेचन करते हुए कहते हैं — " प्रसाद की कविता का " नाविक " महज प्रसाद के कवि का व्यक्तिगत अतीत ही नहीं है, वह एक प्रकार से समूची जाति का अतीत है, संस्कृति है, सामूहिक अवचेतना भी आप चाहें तो उसे कह सकते हैं। वही हमारे क्षणिक अस्तित्व को सनातन काल में से उत्तीर्ण करता है।"[1]

प्रसाद की सबसे आरंभिक कविता " चित्राधार " है जो ब्रजभाषा में लिखी गयी कविताओं का संकलन है। " अयोध्या का उद्धार ", " वनमिलन ", " प्रेमराज्य " को छोड़कर अन्य सारी कविताएँ प्रकृति, प्रेम और भक्ति परक अंतर्वस्तु को लेकर चलती हैं। " प्रेमपथिक " प्रसाद का अपेक्षया प्रौढ़ प्रेमकाव्य है। " महाराणा का महत्त्व "[2] महाराणा के चरित्र को लेकर लिखी गयी है। " कानन कुसुम " में चित्रकूट, भरत, शिल्पसौन्दर्य, कुरुक्षेत्र और वीरबालक[3] के अतिरिक्त अन्य कविताएँ छायावादी काव्य तत्वों से भरपूर हैं। " झरना " यद्यपि मुक्तक कविताओं के संग्रह हैं, फिर भी छायावादी काव्य की इतिहास -

---

1. छायावाद की प्रासंगिकता, रमेशचन्द्र शाह - पृ. 27.

2.3. इन कविताओं के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य अथवा विषय-संबंधी समय सीमा बद्धता (periodicity) के कारण आगे, अलग से इनका विवेचन करेंगे।

दृष्टि की समझ को बढ़ाने मे उसका एक विशेष महत्व है । " आँसू " प्रसाद का आत्मनिवेदनपरक विरह-काव्य है जिसमें कवि की अतीत-स्मृति और प्रेम का दर्शन मिलता है । " लहर " प्रसाद की अपेक्षाकृत प्रौढ़ कविताओं का संग्रह है इसमें " अशोक की चिन्ता ", " पेशोला की प्रतिध्वनि ", " शेरसिंह का शस्त्र समर्पण ", " प्रलय की छाया "[1] ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित कविताएँ हैं ।

प्रसाद के गीतों में आत्माभिव्यक्ति और प्रेमाभिव्यक्ति तथा इनका ऐतिहासिक चेतना से सम्बन्ध :-

पहले ही कहा जा चुका है कि मोटे तौर पर देखने से छायावादी काव्य समाज-केन्द्रित होने से व्यक्ति केन्द्रित अधिक प्रतीत होता है । कवि के वैयक्तिक जीवन की अनुभूतियाँ, उसके परिवेश की देन होती हैं । कार्लमार्क्स के अनुसार मनुष्य के समाजार्थिक संबंध ही मनुष्य की चेतना का निर्धारण करते है ।"[2]

आत्मानुभूति या आत्मा भिव्यक्ति छायावादी कवियों का प्रमुख तत्व है । व्यक्ति के आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति को भी अन्ततः सामाजिक स्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप मे देखा जा सकता है । हर्ष, शोक की अभि-व्यक्ति साहित्य के माध्यम से व्यक्त होने के कारण आम जनता तक यह भावना पहुँचती है । सामान्य जनता अपनी चित्त वृत्तियों और अनुभूतियों से काव्यात्मक अनुभूतियों की समानता पाती है अर्थात काव्याभिव्यक्तियों के आलोक में अपने

---

1. इन कविताओं का अलग विवेचन करेंगे ।
2. देखें कार्ल मार्क्स, " ए कंट्रीब्यूशन टु द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी " की भूमिका { preface : A Contribution to the critique of political Economy by Karl Marx.

परिवेश के देखने तथा नये सिरे से पहचानने का उपक्रम करती है। छायावादी कवियों की अनुभूति की बड़ी विशेषता है कि वहाँ एक प्रकार की स्वच्छन्दता - वादी प्रवृत्ति है पर साथ ही उसमें एक रागपूर्ण आत्मीयता है। छायावादी कवि जीवन और जगत् के कण-कण में सौन्दर्य की अनुभूति करता है। वह संसार में आनंदपूर्वक रहना चाहता है। वह प्रेम का तीव्र आकांक्षी है। इस आत्म - अभिव्यक्ति के पीछे कवि के व्यक्तिगत जीवन और परिवेश का विशेष योगदान होता है। प्रसाद के शैशव काल को उनका स्वर्णकाल कहा जा सकता था पर पिता और भाई की मृत्यु के बाद ही सारे परिवार का भार उन पर आ पड़ा। तभी से उनका जीवन अस्तव्यस्त होने लगा। " काशी " नगर की कला और संस्कृति के प्रति उनकी बड़ी रुचि थी। उनके वैवाहिक जीवन के अनुभव भी सुखद नहीं रहे। इन सभी घटनाओं और परिस्थितियों का प्रच्छन्न प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। प्रसाद बड़े ही ज्ञान पिपासु थे। देश के इतिहास और संस्कृति का स्वाध्याय से उन्होंने गहरा ज्ञान प्राप्त किया था। साथ-साथ अंग्रेजी शासन में त्रस्त भारतीय जनता की दुर्दशा और स्वतन्त्र हो जाने की इच्छा से भी अच्छी तरह परिचित थे। व्यक्ति, नागरिक और रचनाकार तीनों व्यक्तित्वों का समाहार प्रसाद के साहित्य में हुआ है। कविता में स्वाभाविक रूप से तीव्रतम, निजी आंतरिक अनुभूतियाँ, अभिव्यक्ति होती है। किन्तु उनके सामाजिक-ऐतिहासिक उत्स की पहचान की जा सकती है। छायावादी कविता की प्रवृत्ति विशेष पर टिप्पणी करते हुए प्रो• नवलकिशोर गौड़ कहते हैं - " युद्धोत्तरकालीन भारतीय जीवन में सर्वतोमुखी चेतना की जो जागृति हुई वह समसामयिक परिस्थिति में अपनी स्वीकृति न पाकर बहिर्जगत में तटस्थ एवं अंतर्जगत की ओर आकृष्ट होती गई। ऐसी विषम स्थिति में अन्तर्मुखी कलाकार तीव्र एकाकीपन से आक्रांत हो उठता है। जीवन की सभी शक्तियों को अपने प्रतिकूल पाकर, उसकी चिन्तोद्भूत एकाकीपन के अवसाद से भर उठती है। स्वभावतः वह स्वयं अपने आप से और अपनी सभी अनुभूतियों

के न-कुछ-पन की भावना से निरंतर प्रताडित होकर वेदनावादी बन जाया करता है ।"[1]

छायावादी रचनाओं में जो वेदना दिखाई पडती है, सीधे तत्कालीन समाज की दुर्दशा और अंग्रेजों के शोषण के कारण उत्पन्न हुई है ऐसा समझना पूर्णतः ठीक नहीं होगा । अधिकांश छायावादी रचनाओं में सामाजिक-राजनैतिक, शोषण एवं अत्याचारों की कडी निन्दा दिखाई नहीं पडती, न यहाँ बाहरी तौर पर विद्रोह भाव ही है । इन रचनाओं में प्रेम-वेदना जिसमें व्यथा, विलास और और संवेदनशीलता थी । हम प्रसाद के संवेदनशील व्यक्तित्व को उनकी कविताओं में प्रेमाकांक्षा एवं विरहभाव से बेहद पाते हैं । " कवि अपने जीवन में निरंतर एक अभाव और विफलता का दुःख झेलता रहा है । कविताओं में यह दुःख पग-पग पर दिखता है । लेकिन चूँकि कवि ने उसके ऊपर एक रोमांटिक आवरण डाल रखा है, इसलिए उसमें एक खूबसूरती पैदा हो गई है ... "[2]

प्रसाद के समय में सामन्ती नैतिकता के नीचे दबा व्यक्तिवाद बाहर निकलने के लिए छटपटा रहा था । समाज विभिन्न रूढ़ियों और वर्जनाओं से भरा था । प्रेम के विषय में खुलकर कहने का साहस किसी में नहीं था । अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात तो हो चुका था लेकिन स्त्री-शिक्षा का व्यापक प्रचलन होना अब भी शेष था । पराधीन देश की स्वतंत्रता चाहनेवाले उस समाज में व्यक्ति के लिए निजी स्वातन्त्र्य भी उपलब्ध नहीं था । नारी को भी द्विवेदी युग तक की मानसिकता लगभग घर तक ही सीमित रखनेवाली थी ।

---

1. छायावाद विश्लेषण और मूल्यांकन, दीनानाथ " शरण ", पृ. 65 पर उद्धृत ।
2. " समकालीन सृजन " में प्रसाद का काव्य और यथार्थवाद ", मुहम्मद कमाल, पृ. 246.

वह छायावादी युग की नारी मानवी कम आदर्शमयी और काल्पनिक अप्सरा ही अधिक बनकर रही । वैसे समाज में, इस युग के स्वतन्त्रता संग्राम तथा इससे जुड़े अन्य कार्य कलापों में नारियाँ भाग लेने लगी थीं । युवक-युवती के बीच स्वाभाविक प्रेम, मिलन, विरह आदि भावनाओं की खुली अभिव्यक्ति को अच्छा नहीं माना जाता था और न ऐसा दुस्साहस किसी छायावादी कवि में ही था । इसलिए अपनी मनोगत भावनाओं को व्यक्त करने के लिए छायावादी कवि रहस्यवादी-दार्शनिक प्रकृति को, या किसी प्रतीक को, माध्यम के रूप में रखता था । अपनी प्रियतमा को जो तत्कालीन " बन्द समाज " की प्रतिकूल परिस्थितियों, कुपरम्पराओं, रूढ़ियों, तथाकथित नैतिकताओं के कारण कभी कभार " अज्ञात " भी होती थी, प्रतीकों के माध्यम से कविता में उतारने लगा तथा प्रणय-संदेश भेजने लगा । ऐसी समाज में एक तो मुक्त साहचर्य और प्रेम संभव नहीं था और अगर प्रणय होता भी था तो परिणय तक नहीं पहुँच पाता था । यही छायावादी कवि की प्रेम- " ग्रंथि " थी ।

प्रसाद की कविताओं में कहीं-कहीं प्रकृति का मानवीकरण करने के बहाने कवि ने परोक्ष ढंग से अपने प्रेम या विरह को व्यक्त किया है । इस बहाने संकीर्ण निजी प्रेम को उदात्त पीठिका प्रदान करने में उसे सफलता मिली है । प्रसाद की कविताओं में आत्माभिव्यक्ति के स्वरूप को " रागात्मक " तथा " विरागात्मक " दोनों प्रकार से व्यक्त किया गया है । इस सन्दर्भ में डा॰प्रेमशंकर ने लिखा है - " प्राकृतिक दृश्यों के अतिरिक्त कल्पनासुखमानस, विदाई, नीरवप्रेम, विस्मृतप्रेम, विसर्जन आदि कविताएँ विषय की दृष्टि से नवीन हैं । इस प्रकार के विषय आगे चलकर छायावाद के प्रमुख अंग बन गये हैं, किन्तु प्रसाद ने अपने आरंभिक काल में ही इस पर रचना आरंभ कर दी थी । "1

1· प्रसाद का काव्य - प्रेमशंकर - पृ· 100·

कवि इसी प्रकृति वर्णन के द्वारा स्वयं के तथा देश की जनता के त्रस्त मन को उल्लसित करने, उनकी व्यथा हरने की चेष्टा करता है -- "शीघ्र आ जाओ जलद: स्वागत तुम्हारा हम करें ग्रीष्म से सन्तप्त मन के ताप को कुछ कम करें।"[1]

प्रसाद के काव्य में जातीय स्मृतियाँ, राष्ट्रीय समस्याएँ एवं मानवीय भावनाएँ भी चित्र बनकर प्रस्तुत हुई हैं। जगत और जीवन से संबंधित दार्शनिक प्रश्न भी वहाँ हैं। धर्म तथा ईश्वर के नाम पर सांप्रदायिक वाद-विवाद और संघर्ष चलाने के पीछे की राजनीति और षड्यन्त्र की पोल खोलते हुए प्रसाद सारे संसार के लोगों से कहते हैं कि वे आपसी प्यार और परस्पर सम्मान से रहने की भावना विकसित करें --

"मस्जिद, पगोड़ा, गिरजा, किसको बनाया तूने
सब भक्त - भावना के छोटे-बड़े नमूने - - -
उसका अनन्त-मन्दिर, यह विश्व ही बना है।"[2]

प्रसाद अपने देश को हमेशा सभ्य, सुसंस्कृत, सुन्दर और सुखी देखने की अभिलाषा करते हैं। केवल देश की ही क्यों, पूरे विश्व की बात सोचते हैं प्रसाद।

"जननी जिसकी जन्मभूमि हो; वसुन्धरा ही काशी हो
विश्व स्वदेश, भ्रातृ मानव हों, पिता परम अविनाशी हो"[3]

---

1. काननकुसुम (जलद आह्वान), प्रसाद, पृ. 115.
2. काननकुसुम (मन्दिर) प्रसाद - पृ. 107.
3. काननकुसुम (गान), प्रसाद - पृ. 141.

अपनी कविताओं में अगर प्रसाद कभी स्वप्रेमनिष्ठ, कभी राष्ट्रवादी और कभी मानवतावादी नज़र आते हैं तो इनमें कोई अन्तर्विरोध नहीं है। उनकी ऐतिहासिक प्रेरणा के कारण अन्तर्विरोध नहीं है क्योंकि उसमें व्यक्ति - राष्ट्र और विश्व परस्पर सम्बद्ध हैं - अन्योन्याश्रित हैं। चित्राधार की " विदाई " " नीरव प्रेम ", " विस्मृत प्रेम ", " विसर्जन " आदि कविताओं में प्रेम के प्रति निराशा भाव भी प्रकट होता है। इस निराशा की पृष्ठभूमि के रूप में तत्कालीन स्थिति का अन्दाज भी लगाया जा सकता है। ऐसा क्यों था कि छायावादी कवि का प्रेम प्राय: गोपन ही रहता था फिर वह एकांगी होने को बाध्य था ? छायावादी प्रेम लगभग प्रच्छन्न मानसिक प्रेम (Platonic love) का पर्यायवाची मान लिया गया है। छायावादी युग मे प्रेम पर अनेकों सामाजिक प्रतिबंध थे। जात-पाँत, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष हर क्षेत्र में अनेकों ऊँची दीवारें खड़ी थीं। इसलिए छायावादी प्रेम वास्तविक जमीन पर खड़ा होकर मुखर नहीं बनता। इसलिए प्रेम मिलन में नहीं, विरह में ही अनिवार्यत: पर्य - वसित होता है। अत: छायावादी काव्य प्रेम की असफल अभिव्यक्ति नहीं होकर, असफल प्रेम की सफल अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए जहाँ अपने प्रेम को व्यक्ति खुलकर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। अपने प्रेम को वह अन्य आलम्बनों के बहाने व्यक्त करता था या फिर उसमें रहस्यवाद भरने की कोशिश करता था। लेकिन प्रेमानुभव की तीव्रता सारे छद्म को फाड़कर अपने असली रूप को प्रकट कर ही देती है --

> " निठुर, हृदय तुम ले चले, इन आँसू के धार।
> तेरे पथ को सींचते, राखि हैं, ताहि सँवार ।। "[1]

समाज शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो युवा-युवती के प्रेम के बीच अनेक प्रकार के अन्तराय उपस्थित थे। उस समय के समाज में बाल-विवाह, बहुविवाह जैसी प्रथाएँ आम थी। बचपन में ही विवाह हो जाने के कारण से प्रेम की अवस्था आते और

---

1. चित्राधार [विदाई] प्रसाद - पृ. 37.

प्रेमिका के विवाहेतर होने से समस्या की जटिलता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । ऐसे प्रेम-सन्दर्भों को लेकर सामाजिक नियमों की " चीन की दीवार " को लाँघना आसान नहीं था । अकेला छायावादी कवि दीवार तोड़ नहीं सकता था, अतः वह दीवार से अपना सिर टकराकर खुद को लहूलुहान करता रहा । असफल प्रेम की यह पीड़ा, बेचैनी हताशा से छायावादी कविता अटी पड़ी है । " पंत " के काव्य " ग्रंथि " के समानान्तर प्रसाद के काव्य " प्रेम पथिक " को देखा जा सकता है । " प्रेमपथिक " के प्रेमी द्वय किशोर और चमेली बचपन से एक दूसरे से स्नेह और प्रेम कर लेते हैं । लेकिन बचपन में ही चमेली की शादी और किसी से हो जाती है । चमेली के फलदान की बात सुनकर भी किशोर उसका मर्म समझ नहीं पाता है कि उसकी शादी होनेवाली है । वह चमेली से कहता है -- "

" जाता है फलदान तुम्हारा, हम दोनों फल खायें ।" [1]

लेकिन अन्त में किशोर और चमेली को मिलाकर प्रसाद ने तत्कालीन सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध अपना विद्रोही स्वर व्यक्त कर दिया है । कभी-कभार वर्तमान की कटुता से विरक्त होकर प्रसाद का मन वेदना और निराशा को व्यक्त करते-करते अध्यात्म की ओर भी जाने लगता है तो कभी वह " प्रकृति " के द्वारा जगत् में रहकर सामाजिक रूप से कर्त्तव्यरत होने का सबक सीखने का उपदेश पाता है।

" निवास जल ही में है तुम्हारा तथापि मिश्रित कभी न होते
मनुष्य निर्लिप्त होवे जैसे - " सुपात्र तुम से मिल रहा है
उन्हीं तरंगों में भी अटल हो, जो करना विचलित तुम्हें चाहती
मनुष्य कर्त्तव्य में यों स्थिर हो - ये भाव तुम सेअटल रहा है ।"[2]

1· प्रेमपथिक - प्रसाद - पृ· 63·

2· काननकुसुम {सरोज} प्रसाद - पृ· 170·

प्रसाद ने नारी को केवल प्रियतमा और सहचरी के रूप में ही नहीं, प्रलयकारी परिवर्तनकारी शक्ति के रूप मे भी देखता है । उसके चित्त की गहराई को जाँचने के क्रम में वे मनोवैज्ञानिक रहस्यमयता तक जा पहुँचते हैं --

" रमणी-हृदय अथाह जो न दिखलाई पड़ता ----
ज्वालामुखी - समान कभी जब खुल जाते हैं
भस्म किया उनको, जिनको वे पा जाते हैं " ।[1]

इसी प्रकार प्रसाद ने अपनी समकालीन दुःस्थिति एवं दुर्दशा को भी प्रकृति एवं आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से स्वर देने का प्रयत्न किया है । अपने समय की स्थिति की भीषणता से ऊबकर कवि का हृदय जिस प्रकार वेदना और निराशा की ओर झुक गया है, यह भी उनकी कविताओं में चित्रित किया गया है ।

छायावादी कवियों का या कि प्रसाद के प्रकृति से लगाव कैसा और क्यों था, इस के लिए आलोचकों ने विभिन्न तर्क प्रस्तुत किये है तथा प्रकृति की पृष्ठ-भूमि मे छायावादी प्रेम और उसके विभिन्न रूपों को भी दिखाने का प्रयत्न किया है । छायावादी कवियों में प्रेमानुभूति के स्वरूप को दर्शाते हुए डा॰सुवास कुमार कहते है -- " छायावादी कवियों की प्रणयानुभूति ऊपर से देखने पर अधिक सूक्ष्म, गूढ़ और रहस्यमय प्रतीत होती है । इसका कारण यह है कि कवि अपने लौकिक प्रेम की वास्तविकता को छिपाकर रखना चाहता था, क्यों कि तथा कथित सामाजिक नैतिकता एवं अनुशासन का उन्हें भय था ।"[2] लौकिक प्रेम की वास्तविकता को छिपाने के लिए प्रकृति की घनी छाँह सुविधाजनक भी थी क्यो कि इसके माध्यम से " अज्ञात " की ओर संकेत करने में भी आसानी होती थी । इस प्रकार समाज से कवि अपना प्रेम " छिपाना " चाहता था, प्रकट करने पर भी प्रेम की असफलता

1· काननकुसुम { रमणी हृदय } प्रसाद - पृ· 172·
2· आधुनिक हिन्दी कविता - सुवास कुमार - पृ· 114·

सिद्ध थी । इसीलिए इस प्रेम में विरह वेदना को ही अधिकता मिलती है । प्रसाद की रचनाओं में प्रेमाभिव्यक्ति को तीन रूपों में देखा जा सकता है -- प्रकृति प्रेम, मानवीय प्रणय और उदात्त भक्तिपरक प्रेम ।

प्रसाद जी प्रकृति से प्रेम की ओर नहीं, प्रेम से प्रकृति की ओर गये हैं। वे प्रकृति के माध्यम से अपनी प्रियतमा को याद करना, उसे प्राप्त करना चाहते हैं । इसके लिए प्रकृति के आलंबन, उद्दीपन सभी रूप अंकित किये गये हैं । प्रसाद में प्रकृति प्रेम के संदर्भ में ही सार्थक होती है, तभी तो प्रसाद प्रकृति के कमनीय पक्ष के ही समर्थक मुख्य रूप से हैं।

प्रसाद जीवन सौन्दर्य के कवि हैं। नारी प्रेम और प्रकृति प्रेम में उनके यहाँ विरोधी भाव नहीं है । अनेक कविताओं में प्रकृति से प्रेम स्पष्ट होता है । प्रकृति के प्रति जिज्ञासाभाव से भरकर वे जगत के कण-कण में सौन्दर्य को देखते हैं । "शारदीय शोभा " में शरद के प्रभात, रजनी, चन्द्र में व्यक्त सौंदर्य का पान उन्होंने आकंठ किया है । प्रकृति ऐसी चीज है जिसमें सांसारिक दबावों से घबराये हुए व्यक्ति का मानो विरेचन हो जाता है । चाहे तो अपने समकालीन बोध को भी कवि प्रकृति के माध्यम से व्यक्त कर सकता है । अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की भाँति छायावादी कवियों के प्रकृति-प्रेम के पीछे की सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं को देखा भी गया है । प्रभात कुसुम, शरद पूर्णिमा, चन्द्रोदय (चित्राधार) जैसी कविताओं में प्रकृति ने सौन्दर्य चित्रण के सहारे सौन्दर्य और प्रेम-पिपासा की परितृप्ति प्रसाद ने की है । " नव वसंत " के द्वारा प्रसाद सुन्दर भविष्य की कल्पना करते दिखाई पड़ते हैं --

" दृश्य सुन्दर हो गये, मन में अपूर्व विकास था
आन्तरिक और बाह्य सब में नव वसंत-विलास था ।"[1]

---

1. काननकुसुम (नव वसंत) प्रसाद - पृ. 113.

जलद आह्वान, कोकिल आदि में भी वर्तमान को दुर्दशा से निकालना चाहते हुए कवि सुन्दर भविष्य की कल्पना करता है और उसे प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है जो उसकी ऐतिहासिक चेतना का ही एक भाव है :

" नया हृदय है, नया समय है, नया कुंज है
नये कमल-दल - बीच नया किंजल्क -पुंज है" [1]

विरह छायावादी प्रेमकाव्य का स्वभाव है । जयशंकर प्रसाद के काव्य में भी प्रणय और प्रेम का चित्रण विशेषतः वियोग को लेकर ही है । हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस प्रकार के विरह का चित्रांकन उस समय के सीमाबद्ध प्रेम की सामाजिक वास्तविकता के आधार पर ही हुआ होगा । इसलिए अपने प्रेम को प्रच्छन्न रखकर भी उसे शिल्प और शैली के माध्यम से छुपा छिपाकर अभिव्यक्त करने का प्रयास यहाँ मिलता है । प्रेमिका से मिलने की आशा उस समय के समाज में बहुत संभव नहीं थी । इसलिए छायावादी कवियों का प्रेम विरह के रूप में ही विशेषतः व्यक्त हुआ है । " चित्राधार " की कई कविताएँ, यथा " विदाई " " नीरव प्रेम ", " विस्मृत प्रेम " और " विसर्जन " इस तथ्य का उदाहरण बनती है । छायावादी कवि के प्रेम में मिलन की मादकता नहीं, विरह की व्यथा ही है ---

" निठुर, हृदय तुम ले चले, इत आँसू के धार ।
तेरे पथ को सींचि है, राखि है ताहि में सँवार ।। " [2]

अपने प्रियतम के विरह में जीवन चिर कालिक क्रन्दन अथवा असहाय विषाद योग बनकर रह गया है ---

---

1. काननकुसुम [कोकिल] प्रसाद - पृ. 178.
2. चित्राधार [विदाई] प्रसाद - पृ. 55.

" रिमि रहौं मन ही मन रोय के ।
सब विषाद बिसारहु सोय के ।।" [1]

" मर्मकथा, " हृदय वेदना " (कानन कुसुम), जैसी कविताओं में कवि ने अपनी तीव्र मानसिक व्यथा को व्यक्त किया है ।

" आँसू " प्रसाद जी का अत्यन्त लोकप्रिय आत्मपरक विरह काव्य है । इसमें कहीं प्रियतम की स्मृति, उससे मिलने की अभिलाषा और कहीं वर्तमान नीरस जीवन को सरस बनाने की इच्छा आदि का चित्रण मिलता है । " आँसू " पर शुक्ल जी की टिप्पणी है -- " आँसू वास्तव में हैं तो श्रृंगारी विप्रलम्भ के जिनमें अतीत संयोग सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह-रह कर झलक मारती है, पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी मे प्रियतम नीचे से ऊपर आते हैं और संज्ञा की दशा मे ले चले जाते है, जहाँ हृदय की तरंगे उस अनन्त कोने को नहलने चलती है, वहाँ वे आँसू उस " अज्ञात-प्रियतम के लिए बहते जान पड़ते है ।" [2] छायावादी कवियों का " अज्ञात " प्रियतम भी उनकी खुली प्रेम स्वीकृति के अभाव मे पाठकों और आलोचकों के लिए " अज्ञात " ही बना रह गया है, अतः इस " अज्ञात प्रियतम " को रहस्यवाद से जोड़ना उचित नहीं होगा ।

" आँसू " की कविताओं के स्वरूप के बारे में विनोदशंकर व्यास का कहना है - " यदि आरंभ से अंत तक के पद्यों को क्रम से पढ़ा जाय, तो आँसू की पूरी कथा तैयार हो जाती है । यद्यपि सभी पद्य मुक्तक हैं, तथापि उनका क्रम-बन्ध उनके प्रबन्धार्थ की ओर संकेत करता है । यह 190 पद्यों का कोष नहीं, खण्ड काव्य है, इसमें आदि और अन्त की व्यवस्था है, आँसू के सर्ग प्रलय की कथा है, मानव-हृदय के चढ़ाव-उतार की एक झाँकी है ।" [3] यह कथन अपने

---

1. चित्राधार (नीरस प्रेम) प्रसाद - पृ. 66.
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 626 - 27.
3. प्रसाद और उनका साहित्य - विनोदशंकर व्यास - पृ. 182.

आप में काव्यात्मक होने के कारण वस्तु स्थिति को सही विवेचन नहीं है । आँसू में प्रबन्धत्व देखना दूर की कौडी लाना है । हाँ, प्रेम, विरह, व्यथा, स्मृति, विस्मृति, निराशा के क्रम को कोई चाहे तो देख ले, पर वह भी वस्तुगत रूप से निश्चित क्रम नहीं होगा । " आँसू " के आरंभ से ही कवि अपनी हृदय वेदना को व्यक्त करने लगते हैं --

" इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ? " [1]

अपनी प्रेमिका की स्मृति को हृदय में कवि ने किस प्रकार सुरक्षित रखा है, इसको व्यक्त करने पर रहस्यवादी मुलम्मा छूटने लगता है --

" बस गयी एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में " [2]

स्मृतियाँ अनेकों है, खासकर जब मिलने के अवसर कम हो तो हर एक क्षण अपूर्व सुखशाली बनकर मनः पटल पर अंकित हो जाता है । जब प्रियतमा कवि से मिलने चली आती है तब उसके जीवन में कितना प्रकाश छा जाता है, उसकी कल्पना भी विरह-दग्ध क्षणों को शीतल बनाती है --

" मधुराका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुम को
परिचित से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको ।" [3]

---

1. आँसू - प्रसाद - पृ. 201.
2. - वही - पृ. 201.
3. - वही - पृ. 205.

प्रियतम के वियोग की तीव्र भावुकता में कवि कभी-कभी जीवन को व्यर्थ समझता है। उसी चिन्ता में जीवन को क्षणिक समझता है। इसी का दूसरा छोर भोगवाद है जहाँ क्षणिकता को संपूर्णतः डूबकर प्राप्त कर लेने की उत्कट चाह व्यक्त होती है --

" मर रहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृन्तों में बीते "[1]

कवि अपने प्रेम को अलौकिक या रहस्यमय चाहकर भी बना नहीं पाता। इस भौतिक जगत् में ही अपने प्रेम को पाने की इच्छा उसके शब्दों में से बार-बार झाँक जाती है --

" मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
सुख दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"[2]

" आँसू " में लौकिक प्रेम की बात करते हुए राम प्रसाद मिश्र लिखते है -- " आँसू रहस्य भावना से मुक्त, सात्विक लौकिक प्रेम एवं विरह का काव्य है, जिसका विरह प्रेम पुरुष और नारी की सीमित भावना से मुक्त होकर अत्यन्त विराट हो चुका है। अपनी वैयक्तिक निराशा से कवि कुण्ठित नहीं है, वह सच्चे प्रेमी की भाँति वेदना की ज्वाला में भी प्रेम की गौरवता का अनुभव करता है, जन-मंगल की कामना करता है।"[3]

---

1. आँसू - प्रसाद - पृ. 215.
2. - वही - पृ. 216.
3. प्रसाद - कवि - राम प्रसाद मिश्र - पृ. 26.

विरह का विस्तार प्रेमी को उदार बना देता है। दुःख ही दूसरों का दुख जान सकता है। प्रसाद का व्यक्तित्व प्रेमी स्वयं को प्रेम की उदात्त भूमिका में रखता है, यह बात महत्वपूर्ण है। " झरना " संकलन के संबंध में डा• प्रभाकर श्रोत्रिय का यह निष्कर्ष प्रसाद के प्रेम में विरह भाव को रेखांकित करता है -- " झरना " की 48 रचनाओं में से 33 रचनाएँ प्रेम-सम्बन्धी और उनमें से भी 28 रचनाएँ केवल वियोग-पक्ष से सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ सौन्दर्य एवं प्रकृति चित्रण सम्बन्धी हैं। अतः वस्तु की दृष्टि से " झरना " वियोग - प्रधान संकलन है।"[1] अतः वियोग प्रसाद की प्रेमाभिव्यक्ति का मूल भाव है, ऐसा कहा जा सकता है। यह वियोग, निराशा, दुःख आदि भाव क्या प्रसाद के युग की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों से नहीं जुड़ते ? क्या इनके माध्यम से प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का संकेत नहीं मिलता ?

अपनी विषाद कविता में अपने वर्तमान समस्त की स्थिति का बोध प्रसाद इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं --

" शिथिल पड़ी प्रत्यंचा किसकी,
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
टूटी नोखें पड़ी धूल में
कोणों का भी बुरा हाल है।"[2]

ऐसा लगता है कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अवस्था पर टिप्पणी कर रहा हो। " प्यास ", " पी कहाँ "? आदि कविताओं में कवि का विरह भीरु हृदय स्पष्ट होता है। " अतिथि " कविता में कवि अपने हृदय की शून्यता को प्रेम की लौकिक मांसलता से दूर करना चाहता है।

1• प्रसाद का साहित्य समीक्षा : प्रेमतात्त्विक दृष्टि - प्रभाकर श्रोत्रिय - पृ• 121•
2• झरना (विषाद) प्रसाद - पृ• 245•

अतिथि आगया एक,
.... नहीं पहचाना ।
हुआ बड़ा आनन्द
..... बसा घर मेरा ।
उसको कहते प्रेम "
अरे अब जाना ।" [1]

इस गीत में अतिथि कोई अज्ञात सत्ता नहीं, अपने ही आसपास के व्यक्ति का प्रतीक होता है । प्रिय के वियोग में वेदना और मिलन होने की आशाजनक कल्पना दोनों का मिश्रित रूप "वेदने ठहरो" में मिलता है --

"वेदना मिलती, आँखें झुलती,
मिलन का स्वप्न कराता भान ।
नवल निद्रा का, मधुर तन्द्रा का,
व्यथा आरम्भ, वही अवसान । " [2]

" समर्पण ", परिचय ", बालू की बेला ", " सुधी चिन्तन " आदि कविताओं में प्रेम का स्वर सुनाई पड़ता है । किन्तु इस प्रेम में हल्का-फुल्का पन, सस्तापन नहीं, जीवन-गांभीर्य भी भरा है । वाजपेयी जी का कहना है -- " झरना " में प्रसाद जी ने जो नवीन प्रयोग किये हैं, वे वे प्रयोग हैं जो प्रसाद जी को क्रमशः आराग और प्रमोद के लोक से हटाकर जीवन की गंभीर परिस्थितियों का साक्षात्कार करा रहे थे ।" [3]

---

1. झरना { अतिथि } प्रसाद - पृ. 287.
2. झरना { वेदने ठहरो } - प्रसाद - पृ. 291.
3. जयशंकर प्रसाद - नन्ददुलारे वाजपेयी - पृ. 60.

" लहर " प्रसाद का प्रसिद्ध मुक्तक रचना संकलन है। इसमें उन्नीस गीत संग्रहीत हैं जिनमें चार ऐतिहासिक विषय से सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त सभी गीत राग भावना से सम्बद्ध है। वियोग और मिलन दोनों ही स्थितियों की कविताये इसमें है। " उठ उठरी लघु लघु लोल लहर " की उत्सुकता से आगे बढ़ कर अपने मन की भावनाओं को बीती विभावरी जागरी की व्यापक सामाजिक भूमिका पर प्रसाद उतारते और व्यापकता प्रदान करते है, कभी " आहरे, अधीर यौवन " के माध्यम से वे अतीत की स्मृतियों को याद दिलाता है करते हैं। वहीं " जगती की मंगलमय उषा बन " मे सुन्दर भविष्य की कल्पना और कामना वे करते हैं --

" युग-युग की नव मानवता को,
विस्तृत वसुधा की विभुता को,
कल्याण संघ की जन्म भूमि आमंत्रित करती आई थी।[1]

वर्तमान की दुर्दशा और इसके कारण भूत अतीत से सीख लेने तथा भूलो के प्रति सजग रहने का सन्देश व्यक्त करते है --

" स्मृति-चिह्नों की जर्जरता मे,
निष्ठुर कर की बर्बरता में
भूले हम वह सन्देश न जिसने फेरी धर्म दुहाई थी।"[2]

इस प्रकार प्रेम के अलावा भी अनेक प्रकार की भावनाओं से अपनी ऐतिहासिक चेतना का आभास प्रसाद के गीतों मे पाया जा सकता है। अपने वर्तमान समाज की दुर्दशा से व्याकुल जनता मे परमात्मा के प्रति श्रद्धा का रहना स्वाभाविक है। आस्तिक प्रसाद ने भी इस सुन्दर प्रकृति के निर्माता ईश्वर को भी अपने गीतों के माध्यम से स्मरण किया है। " चित्राधार " में " अष्टमूर्ति ", " विनय ",

---

1. लहर [जगती की मंगलमयी उषा बन] प्रसाद - पृ. 359.
2. - वही - पृ. 359.

" शारदीय महापूजन ", विभो, " काननकुसुम " में "प्रभो, " वन्दना ", " नमस्कार ", " पतित-पावन ", " मोहन ", " करुणा ", में समर्पण, अर्चना, आदि कविताओं में कवि को आस्तिकता व्यक्त हुई है। यह केवल व्यक्तिगत उत्थान हेतु ईश्वर प्रेम नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध समाज प्रेम, राष्ट्र प्रेम और उससे भी आगे बढ़ कर विश्व प्रेम से जुड़ता है। वर्तमान दुर्दशा और सुन्दर भविष्य की अभिलाषा इस गौरवात्मक रचनाओं में प्रकट होती है। वे अपने प्रेम को देश और विश्व तक विस्तृत करनेवाले प्रसाद की ऐतिहासिक - चेतना को आदर्श मूलक कहा जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा कवि सारे विश्व को सुखी देखने की लालसा व्यक्त करता है --

" विश्व धौरिणि विश्व पालिनि जयति जय विश्वेशि।"[1]

दुःख में ही परमात्मा को याद करने वाले मानव-मन के सहज मनोविज्ञान को लेकर प्रसाद मानवता के कष्ट को दूर करने की प्रार्थना करते हैं -- " सुख में न तुम को याद करता है मनुज की गति यही पर नाथ, पड़कर दुख में किसने पुकारा है नहीं।"[2]

ऐसा मानवतावादी स्वर पूर्ण रूप से मध्य कालीन हिन्दी कविता की सन्त तथा भक्ति परम्परा में है। प्रसाद की इतिहास चेतना ने अपनी परम्परा के उदात्त एवं गौरिमामय तत्वों को अपने कवि व्यक्तित्व में अच्छी तरह पा लिया है और इसके प्रमाण प्रसाद की रचनाओं से भरे पड़े हैं। उनकी रचनाओं की आत्माभिव्यक्ति और प्रेमाभिव्यक्ति में उनकी समकालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया से उत्पन्न अनुभूतियों और संवेदनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन कविताओं में कवि के निजी जीवन-सन्दर्भ अपने समय की सामान्य सामाजिक स्थिति तथा जन मानस की वेदना को भी समाहित कर चलते प्रतीत होते हैं।

---

1. चित्राधार (शारदीय महापूजन) प्रसाद - पृ. 35.
2. काननकुसुम (करुण क्रन्दन) प्रसाद - पृ. 152.

एक सच्चे छायावादी कवि के रूप में प्रसाद ने किसी भी विषय को बिलकुल प्रत्यक्ष रूप से नहीं कह कर आध्यात्मिकता और कलात्मकता के सहारे उपस्थित किया है, किन्तु इसके पीछे तार्किक विचार, दर्शन और ऐतिहासिक चेतना भी पहचान हो सकती है ।

इतिहास विषयक कविताएँ :-

प्रसाद की आरंभिक काव्य रचना " चित्राधार " से लेकर अन्तिम रचना " कामायनी " तक के सभी काव्यों में इतिहास पुराण के अंश थोड़ा-बहुत मिलते हैं । पुराण को भी इतिहास के विशिष्ट रूप में स्वीकार कर सकते हैं। जयशंकर प्रसाद ने इतिहास और पुराण के विषयों पर आधारित निम्नलिखित कविताएँ लिखी हैं --

1· अयोध्या का उद्धार, वन मिलन, प्रेमराज्य (चित्राधार)
2· महाराणा का महत्व
3· चित्रकूट, भरत, शिल्प सौन्दर्य, कुरुक्षेत्र, वीर बालक, श्रीकृष्ण जयन्ती (कानन कुसुम)
4· अशोक की चिन्ता, शेर सिंह का शस्त्र समर्पण, प्रलय की छाया, पेशोला की प्रतिध्वनि (लहर)

इनमें अयोध्या का उद्धार, वन मिलन, चित्रकूट, भरत, कुरुक्षेत्र, श्रीकृष्ण जयन्ती आदि पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित घटनाओं पर आश्रित होकर लिखी गयी रचनाएँ हैं तो प्रेमराज्य, महाराणा का महत्व, शिल्प सौन्दर्य, अशोक की चिन्ता, शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया आदि ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित रचनाएँ हैं जिनको निश्चित प्रामाणिकता प्राप्त नहीं है, फिर भी जनता को प्रेरणा देने के लिए ऐसी रचनाएँ लिखी गयी हैं । लेकिन प्रसाद का सजग इतिहास बोध पौराणिक रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करने को सदा समुद्यत रहा है ।

" अयोध्या का उद्धार " की प्रेरणा कालिदास के रघुवंश का सोलहवाँ सर्ग माना जाता है । अपनी इस कथा की प्रामाणिकता देते हुए प्रसाद ने काव्य के आरंभ में लिखा है -- " महाराज रामचन्द्र के बाद कुश को कुशावती और लव को श्रावस्ती इत्यादि राज्य मिले तथा अयोध्या उजड़ गई । वाल्मीकि रामायण में किसी ऋषभ नामक राजा द्वारा उसके फिर से बसाए जाने का पता मिलता है, परन्तु महाकवि कालिदास ने अयोध्या का उद्धार कुश द्वारा होना लिखा है । उत्तर काण्ड के विषय में लोगों का अनुमान है कि वह बहुत पीछे बना । हो सकता है कि कालिदास के समय में कुश द्वारा अयोध्या का उद्धार होना प्रसिद्ध रहा हो । अस्तु, इसमें कालिदास का ही अनुसरण किया गया है ।"[1]

कुमुद्वती के कहे अनुसार राजा कुश अयोध्या का उद्धार करने जाता है । अयोध्या पर बलपूर्वक अधिकार करने वाले राजा को सन्देश भेजता है --

किनु बूझि तुम अधिकृत कियो
यह अवधि नगरि सुहावनो ।
देहि छोड़ि कै दीन ज्यहु,
नतु संगर करौं लै के अनी ।।"[2]

इस बात से प्रसाद ने शायद भारत की वर्तमान दुर्दशा बताने और उसे सुधारने की प्रेरणा के लिए ऐसी रचना की होगी इस प्रवृत्ति का विकास प्रसाद के नाटकों में विशेष रूप से हुआ । मुक्तक रचना के कारण कालिदास की तरह प्रसाद को विशद वर्णन के लिए अवकाश नहीं था । जहाँ तक कथा की उपयोग का प्रश्न है वहाँ तक कालिदास से प्रसाद ने ग्रहण किया है । डॉ॰प्रेमशंकर ने लिखा है -- " प्रसाद के वर्णन में विकासशील प्रवृत्तियाँ हैं । उसमें उपमायें अधिक नहीं मिलती । कवि वर्णनात्मक हो गया है । किन्तु उसमें अधिक

1· चित्राधार में अयोध्या का उद्धार - आमुख, प्रसाद
2· - वही - पृ· 15·

शिथिलता नहीं दिखाई देती । कालिदास को प्रबन्ध के क्षेत्र में विशद वर्णन का अवसर था । प्रसाद आख्यानक काव्य के सीमित क्षेत्र में अधिक विस्तार से न लिख सकते थे । "1

" वनमिलन " कथा की प्रेरणा भी कालिदास है । इसमें शकुन्तला, दुष्यन्त के पुनर्मिलन के बाद की घटनाएँ वर्णित हैं । काव्य के आरंभ में अनसूया और प्रियंवदा अपने को भूलकर गयी शकुन्तला की बात करती हैं । उसी समय शकुन्तला वहाँ आती है और उन दोनों को अपने साथ राजधानी ले जाती है । डा॰प्रेमशंकर लिखते हैं -- " प्रसाद के " वन-मिलन " की कथा देखने से स्पष्ट होता है कि " शकुंतला " कथा की समाप्ति ही " वन-मिलन " का आरम्भ है । कवि प्रसाद ने कालिदास के नाटक को आगे बढ़ाया है ।" [2] इस कथा के पात्रों को प्रसाद ने जिस तरह से चित्रित किया है उसे पढ़ने से सहज ही हम यह अर्थ निकालते है कि प्रसाद अतीत को कभी भूल नहीं पाते । वे अतीत को साथ लेकर चलना ही उचित समझते हैं ताकि अतीत से सीखें और उसकी भूलों को कहीं न दुहरायें ।

चित्रकूट, भरत, कुरुक्षेत्र, श्रीकृष्ण जयन्ती, कानन कुसुम के काव्य इसी प्रकार के है ।" चित्रकूट " के द्वारा प्रसाद ने प्राचीन भारतीय सामाजिक और पारि - वारिक संस्कृति का आदर्श रूप उपस्थित किया है । इस कविता में पति-पत्नी का आपसी प्रेम, भ्रातृ प्रेम आदि सब को दिखाकर, उसी आदर्शवादी पारिवारिक धारणा को लेने का सन्देश व्यक्त करते दिखाई पड़ते है जिसे तुलसीदास से लेकर मैथिलीशरणगुप्त तक प्रस्तुत करते रहे हैं । प्रसाद को पहले से ही हमारी संस्कृति मे गहरी श्रद्धा और आस्था थी । अपने देश की वर्तमान स्थिति से चिन्तित होकर, प्रसाद ने प्राचीन संस्कृति के गौरव के प्रति एक बार फिर से भारतीय

1· प्रसाद का काव्य - प्रेमशंकर - पृ· 89·

2· - वही - पृ· 90·

जनता की दृष्टि आकर्षित करने का प्रयत्न किया । भारतीय नारी का कर्तव्य हमेशा सुख-दुखों में पति का साथ निभाना ही है । विदेशी सभ्यता की तथाकथित चमक से प्रभावित होकर उजडनेवाली आधुनिक नारी मानसिकता को मानो उचित समय जगाने का प्रयत्न प्रसाद ने किया है । " चित्रकूट " में सीता राम से कहती है —

" ... " नाथ ! यह क्या कहते हैं
नारी के सुख सभी पति के रहते हैं
कहो उसे प्रियप्राण । अभाव रहा फिर किसका
विभव चरण का रेणु तुम्हारा ही है जिसका । " [1]

राम और भरत का मिलन, गुप्त जी ने जिसे अपने " भरत-मिलाप " मे बड़े विस्तार से लिखा है, उसे प्रसाद ने चार पंक्तियों में वर्णित किया है । इसमें प्रमुखतः भारतीय सभ्यता, संस्कृति के त्याग, प्रेम, उदारता आदि की प्रवृत्तियों को दिखाना ही प्रसाद जी का उद्देश्य रहा होगा ।

प्रसाद ने दुष्यन्त-शकुन्तला के पुत्र " भरत " का वर्णन " भरत " शीर्षक कविता मे वर्णन किया है । इसी "भरत" के पराक्रम के चलते हमारा देश का नाम भारत रखा गया ।[2] बाल भरत की वीरता और साहस वर्णन करके हमारे अतीत के महान गौरव का व्यावहारिक सृजन उन्होंने किया है । इस काव्य की आरंभिक पंक्तियों मे ही प्रसाद की देश के प्रति यह परम गरिमा-भावना स्पष्ट झलकती है —

" हिमगिरि का उत्तुंग शृंग है सामने
खडा बताता है भारत के गर्व को ।"[3]

1· कानन कुसुम { चित्रकूट } प्रसाद - पृ· 209·

2· यही "भरत" वह बालक है, जिस नाम से
"भारत" संज्ञा पड़ी इसी वर भूमि की " भरत, प्रसाद -- पृ· 215·

3· - वही - पृ· 214·

"कुरुक्षेत्र" कविता में प्रसाद ने श्रीकृष्ण चरित्र से आरंभ करके पांडव और कौरवों के बीच प्रसिद्ध महाभारत युद्ध की ढेर-सारी घटनाओं का उल्लेख किया है। प्रसाद की समकालीन स्थितियाँ भी संघर्षों से पूर्ण ही थी। प्रसाद ने ऐसी स्थिति में किसी स्वार्थ को सामने न रखकर, कर्मरत होकर आगे बढ़ने का सन्देश " कुरुक्षेत्र " के माध्यम से (कृष्ण और अर्जुन के गीतोपदेश द्वारा) अपने समय के समाज को दिया। कृष्ण गीता में अर्जुन को जो उपदेश देते हैं प्रसाद उनको उनका पद्यानुवाद प्रस्तुत करते हैं — " कर्म जो निर्दिष्ट है, जो हो धीर, करना चाहिये।

" कर्म जो निर्दिष्ट है, जो हो धीर, करना चाहिये
पर न फल पर कर्म के कुछ ध्यान रखना चाहिये।"[1]

भारतीय मनुष्य अर्जुन के समान कर्त्तव्यरत हो ऐसी अभिलाषा प्रसाद ने "कुरुक्षेत्र" के माध्यम से रखी है। "श्रीकृष्णजयन्ती" कृष्ण के जन्म के बारे में लिखी गयी कविता है। कृष्ण का जन्म कंस की जेल में, कंस-वध के निमित्त हुआ था। उस समय कृष्ण के इस जगत में आगमन की खबर जानकर प्रकृति जिस प्रकार पुलकित हो रही है उसका विशेष रूप से चित्रण किया गया है। ऐसी पौराणिक तथा धर्म-सम्बन्धी रचनाओं से प्रसाद की भारतीय राष्ट्र और संस्कृति के प्रति ही आस्था और गौरव नहीं बल्कि संस्कृत साहित्य के प्रति उनकी गहरी रुचि की भी आभास हमें मिलता है।

ऐतिहासिक चरित्रों या घटनाओं से सम्बन्धित रचनाओं पर दृष्टि डाले तो प्रेमराज्य (चित्राधार), महाराणा का महत्व, शिल्प सौन्दर्य, वीर बालक (कानन कुसुम), अशोक की चिन्ता, शेर सिंह का शस्त्र समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया (लहर) आदि महत्वपूर्ण रचनायें हमें उपलब्ध होती है।

---

1. कुरुक्षेत्र (कानन कुसुम) प्रसाद - पृ. 222.
2. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गीता)

" प्रेमराज्य " का आधार दक्षिणभारत की एक नीति प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है । " इतिहास के अनुसार 1564 ई. में विजयनगर और अहमदाबाद के बीच टालीकोट युद्ध हुआ था । इस छोटे से कथा-सूत्र को लेकर कवि ने काव्य का निर्माण किया ।"[1]

अवश्य ही इसमें जयशंकर प्रसाद को कवि की अपनी स्वतंत्र कल्पना का पुट भी है क्यों कि राजा सूर्यकेतु द्वारा अपना बालक भील को देना, सेनापति के विश्वासघात से राजा का मरना, सेनापति का साधु बन जाना, राजकुमार चन्द्रकेतु और ललिता का प्रेम, उनके द्वारा प्रेमराज्य की स्थापना आदि वर्णन इतिहास-सम्मत प्रतीत नहीं होते । हाँ, टालीकोट युद्ध की घटना अवश्य प्रामाणिक है । ऐसी प्रामाणिक घटना को लेकर प्रसाद ने उसके चारों ओर अपनी कल्पना और अनुमान से इस कथावस्तु की रचना की । इस कविता के पीछे हमारे देश के तत्सामयिक देशद्रोही लोगों को सबक सिखाना प्रसाद का एक उद्देश्य रहा होगा ।

" महाराणा का महत्व " में आदर्श राष्ट्रीय नायक के रूप में महाराणा प्रताप की वीरता, प्रसाद ने दिखायी है मेवाड का राजा महाराणा प्रताप राज्य खोजाने के बाद भी देश के लिए हमेशा मुगल शासकों से लड़ता रहा । मेवाड राज्य की परंपरा की प्रामाणिकता को आधुनिक इतिहासकार की दृष्टि से देखें तो ये बातें स्पष्ट होती हैं -- "सन् 1509 ई. में राणा साँगा मेवाड़ का राजा बना और दिल्ली की सत्ता का विरोध करने लगा । लोदी सम्राट अपने आन्तरिक मामलों में इतने उलझे हुए थे कि वे मेवाड़ की ओर ध्यान न दे सके और साँगा ने दिल्ली पर आक्रमण करने का विचार किया । साँगा ने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर से मैत्री कर ली थी, ... साँगा को यह जानकर बहुत निराशा हुई कि बाबर भारत में रहकर दिल्ली पर राज्य करना चाहता था

---

1. प्रसाद का काव्य - प्रेमशंकर - पृ. 92.

इस बात पर साँगा की बाबर से मैत्री समाप्त हो गयी और सन् 1527 ई॰ में॰ साँगाने बाबर से युद्ध छेड़ दिया । उसकी पराजय हुई और साँगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ धीरे-धीरे एक छोटा राज्य बन कर रह गया ।"[1]

प्रस्तुत कविता में महाराणा प्रताप की ऐतिहासिक स्थिति की प्रामाणिकता को सिद्ध करना प्रसाद का लक्ष्य नहीं था । वे तो राणा प्रताप की वीरता के माध्यम से अपने वर्तमान को एक क्रान्तिकारी नायक की छवि सौंपना चाहते थे । भारतीय जनता जीवन-मूल्यों की महत्ता को प्रसाद बड़ी गंभीरता से महसूस करते थे । सच्ची वीरता छल-कपट आदि के सहारे जीत हासिल कर लेने में नहीं है, बल्कि वीरता आचरण से प्रकट होने वाली वस्तु है । ऊँचे आदर्शों से परिचालित आचरण वाला व्यक्ति पराजय के पश्चात् भी गरिमामय बना रहता है । सच्चे वीर अपने सिद्धान्तों और जीवन मूल्यों से समझौता नहीं करते और उसकी कीमत चुकाते हैं । शत्रुराजा की पत्नी बेगम जब बन्दी बनाकर लायी जाती है तब महाराणा प्रताप इस पर क्रोधित होते है -- कहते है --

-- किया किसने उसे
बंदी ? स्त्री को क्षत्रिय देते दुःख नहीं ।"[2]

इससे कृतज्ञता महसूस कर बेगम और रहीमखाँ दिल्ली चले जाते हैं । इस घटना को अकबर के सम्मुख कहते हुए रहीमखाँ, महाराणा की प्रशंसा से भर उठता है --

" मुझे बनाकर सैनप भेजा आपने
वीरभूमि मेवाड़ विजय के हेतु, हाँ --
उस दिन सचमुच मुझे असीम प्रसन्नता
हुई कि, मैं भी देखूँगा उस वीर को,"[3]

1· भारत का इतिहास - रोमिला थापर - पृ॰ 216·

2· महाराणा का महत्व - प्रसाद - पृ॰ 134·

3· - वही - पृ॰ 141·

रहीम खाँ अक्बर से यही निवेदना करता है कि बिना कारण उनके छोटे राज्य पर आक्रमण करना न्याय संगत नही है --

" राणा ने कभी --
किया नही आक्रमण आप के राज्य पर !
अपने छोटे राज्य मात्र से सन्तुष्ट है, "[1]

प्रसाद का संकेतार्थ वर्तमान को स्थिति को हमेशा मद्दे-नजर रखता है। केवल अपने वाणिज्य के लिए भारत मे आये हुए अंग्रेजो ने स्वार्थ लोलुपता वश भारत पर छल प्रपंच से कब्जा कर लिया। कविता पढ़ते समय पाठक के मन मे अतीत की घटना के द्वारा परतंत्र भारत के वर्तमान का चेहरा उभर-उभर कर आता रहता है। महाराणा का महत्व भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की समृद्धि की गाथा है।

" वीर बालक " मे प्रसिद्ध सिक्क बालक भाइयों जोरावरसिंह और फतेहसिंह की कुर्बानी की कथा है। कवि कविता के आरंभ मे ही भारत के गौरव का गान करता है --

" भारत का सिर आज इसी सरहिन्द में
गौरव मंडित ऊँचा होना चाहता।"[2]

दुर्ग के बाहर सूबा उन दोनो बालकों से इस्लाम धर्म स्वीकार करके अपने प्राण बचा लेने की सलाह दे रहा है। पर वे दोनो भाई अपने धर्म, जाति और देश के नाम पर शहीद होने को तैयार हैं। जोरावर सिंह कहता है --

" भ्रात! क्यों व्यर्थ मुझे समझा रहे
बाहगुरु की शिक्षा मेरी पूर्ण है
उनके चरणों की आभा हृत्पथल पर
अंकित है, वह सुपथ मुझे दिखला रही ..."[3]

---

1. महाराणा का महत्व - प्रसाद - पृ. 141.
2. वीरबालक { कानन कुसुम } प्रसाद - पृ. 223.
3. - वही - पृ. 224.

इस ऐतिहासिक कथानक का उपयोग प्रसाद हिन्दू सिक्ख को एकप्राणता बनाने के लिए करते हैं। प्रसाद के समय अंग्रेजों ने हिन्दू, मुसलमान और सिक्खों के साथ " फूट डालो और राजकरो " Divide & Rule की दुर्नीति का इस्तेमाल किया। इस कूटनीति से प्रेरित हो अनेक हिन्दू धर्म परिवर्तन करके ईसाई बनने लगे। अपने राष्ट्र और धर्म की रक्षा के लिए प्रसाद ने ऐसी कथावस्तु को चुना होगा यह सहज ही अनुमेय है।

" शिल्प सौन्दर्य " भी एक मध्य युगीन ऐतिहासिक घटना को लेकर लिखी गयी कविता है। अत्याचारी आलमगीर ने अनेक मन्दिर तुड़वाडाले और भारतीय संस्कृति के प्रतीक नष्ट होते चले गये। दुर्गमल्ल नामक वीर इस बात को लेकर बड़ा क्रोधित होता है और मुसलमानों की इमारतों को अपने प्रतिशोध का शिकार बनाना चाहता है। परन्तु प्रतिहिंसक विचार-क्रम में अचानक वह रुक जाता है और सोचता है --

> " कहा - नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से
> इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की
> सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही
> हो जायेगी लुप्त ! बड़ा आश्चर्य है।" [1]

बाबरी मस्जिद और राम जन्मभूमि के वर्तमान विवाद पर अब भी इसे एक टिप्पणी के रूप में देखा जा सकता है। कवि सन्देश देता है कि क्रूरता कभी वीरता नहीं होती। शासन और वीरता का मुख्य उद्देश्य चाहिए जीवन के शिल्प सौन्दर्य की रक्षा करना। इसमें वर्तमान की गांधीवादी विचार धारा का प्रभाव भी कवि पर आंशिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। अंग्रेजी शासक हमारा शोषण कर रहे थे। प्रतिशोध में विध्वंस करते हैं तो हमारी ही संस्कृति नष्ट हो जायगी। इसी का संकेत प्रसाद देते हैं।

---

1. शिल्प सौन्दर्य " कानन कुसुम । प्रसाद - पृ. 217.

" लहर " मे अशोक की चिन्ता, शेर सिंह का शस्त्र समर्पण, प्रलय की छाया, पेशोला की प्रतिध्वनि जैसी ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित महत्वपूर्ण रचनाएँ है ।

" अशोक की चिन्ता " मे कलिंग युद्ध के बाद उसके भीषण रक्तपात को देखकर अशोक का मन विचलित हो जाता है । वह विजयी होकर भी चिन्तित होता है । वह सोचता है --

" है ऊँचा आज मगध शिर -
पदतल मे विजित पड़ा गिर,
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर
क्यो गूँज रही है अस्थिर --
कर विजयी का अभिमान भंग ।" [1]

अशोक मे बौद्ध दर्शन का प्रभाव दिखाई पड़ता है । बाद में सम्राट अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी होकर अहिंसावादी बन जाता है । वह सोचता है --

" इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से,
उन हिंसक हुंकारों से,
नतमस्तक आज हुआ कलिंग ।" [2]

अशोक मानव मन पर शासन करना ही सच्ची वीरता समझता है । इस प्रकार की कविता में प्रसाद की निजी अनुभूति भी व्यक्त होती है । प्रथम विश्वयुद्ध की उथल-पुथल से प्रसाद परिचित थे । भयंकर युद्ध का विरोध करके

1• अशोक की चिन्ता { लहर } प्रसाद - पृ• 37।
2• - वही -

अहिंसा की भावना को अपनाने की प्रसाद की भावना के पीछे गांधीवादी प्रभाव इसमें भी दृष्टिगोचर होता है ।

" शेरसिंह का शस्त्र समर्पण " में प्रसाद ने निकट अतीत समय की घटना पर ही आधारित कविता लिखी हैं । सिक्खों ने अंग्रेजी सेना का सामना किया । एक सिक्ख सेनापति के देशद्रोह से वे हार जाते हैं । शेरसिंह ने अन्त में शस्त्र-समर्पण किया । उसने सिक्खों की गौरव-गाथा गाते हुए सतलज के तट पर मर मिटनेवाले वृद्ध वीरमूर्ति श्यामसिंह को याद किया । उसी प्रकार शहीद हो जाना ही युद्ध में सच्ची विजय पाना है । प्रसाद ने ऐसी घटना के द्वारा अंग्रेजों से हाथ मिलानेवाले देशद्रोहियों की निन्दा करते हुए प्राण न्योछावर करके देश की आन बचाने का सन्देश देते हैं ।

" पेशोला की प्रतिध्वनि " भी इतिहासाश्रित कविता है । जहाँ महाराणा प्रताप की वृद्धावस्था का सन्ताप चित्रित है । अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध प्रताप के उसी मेवाड़ में आज वीरता नहीं रह गयी । उसी जन्मभूमि में पैदा होकर भी जनता उस वीरता को भूलकर कायरों के समान रह गयी । उन वीरों की गौरवपूर्ण वीरता की प्रेरणा का रूप प्रसाद देते हैं । वे कहते हैं --

> " गौरव की काया पड़ी माया है प्रताप की वही मेवाड़ ।
> किन्तु आज प्रतिध्वनि कहाँ ? " [1]

प्रसाद यहाँ पर केवल मेवाड़ या प्रताप की बात नहीं कह रहे हैं । वस्तुतः सारे देश की बात कह रहे हैं । इतिहास में भारत जिस वीरता और वीरों के लिए प्रसिद्ध है और उस वीरता की कमी हो गई है । फिर प्राचीन भारत की वीरता को पुनः स्थापित कराने की भावना वे यहाँ व्यक्त कर रहे हैं ।

" प्रलय की छाया " में गुर्जर की रानी कमला के मनोगत भावों का विकास-क्रम वर्णित है । गुजरात की रानी कमला को अपने सौन्दर्य पर असीम गर्व था । अपनी सतीत्वरक्षा के लिए मरनेवाली पद्मिनी की बात करती हुई वह सोचती है-

" पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले ।"[1]

यह वस्तुत: इतिहास से सीख लेकर परिवर्तित आधुनिक नारी का सोच है । कमला युद्ध में पहले अपने पति का साथ देती है । लेकिन जब वह सुलतान के यहाँ बन्दी बनायी जाती है तो पहले वह महारानी होने का स्वप्न देखती है । जब फिर सुलतान की मृत्यु हो जाती है तब कमला विचलित हो जाती है और स्वयं अपने चरित्र को कोसती है --

" नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं ।"[2]

नारी का यह नवीनतम विश्लेषण प्रसाद ने इतिहास की घटना के आधार पर प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार प्रसाद की काव्य रचना की आधार भूमि जो भी हो, सभी में उनकी समकालीन स्थिति और अंग्रेजों के शोषण, सामाजिक-राजनीतिक स्थिति, उसमें सुधार लाने की भावना व्यक्त होती है दिखायी देती है । ये सब प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना के अंग बनते हैं ।

1· प्रलय की छाया { लहर } प्रसाद - पृ· 384·
2· - वही - पृ· 395.

प्रबन्ध काव्य "कामायनी" में ऐतिहासिक चेतना :-

"कामायनी" जयशंकर प्रसाद की अंतिम प्रौढ़ महाकाव्यात्मक रचना है जो 15 सर्गों में रची गयी है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द। सारी कथावस्तु मनु, श्रद्धा और इडा के चारों ओर ही घूमती है। प्रसाद का इतिहास बोध मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक दोनो स्तरों में व्यक्त हुआ है। "कामायनी" की कथा जलप्लावन की घटना से शुरू होती है और आनन्दवाद में परिणति पाती है। इस पौराणिक जलप्लावन की घटना की "ऐतिहासिकता" को प्रसाद ने "कामायनी" के आमुख में स्पष्ट किया है। पर इस घटना पर अनेक आधुनिक अवधारणाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस घटना के सन्दर्भ में रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है -- "जलप्लावन की घटना कोलेकर कवि ने इतिहास और देवसृष्टि के पतन की गहराई को प्राप्त किया। उसने यज्ञ की ज्वाला तथा केन्द्रोन्मुख सुख की विषमता के मूल्यबोध को मनु में ईर्ष्या की ज्वाला और सामाजिक विप्लव में रूपांतरित किया है।"[1]

मुक्तिबोध ने इसी देवसभ्यता के नष्ट हो जाने और सारस्वत प्रदेश की घटनाओं को क्रमशः सामन्तवाद के अन्त और पूंजीवाद के उदभव के रूप में स्वीकार किया है जिसका आगे विवेचन किया जायेगा। प्रसाद ने सबसे पहले मनु की "ऐतिहासिकता" का प्रमाण देते हुए "कामायनी" के "आमुख" में लिखा है - "आर्य साहित्य मे मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासो मे बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल मे मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासो के साथ निरुक्त के द्वारा किया गया, किन्तु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु को

1· मिथक और स्वप्न - रमेशकुन्तल मेघ - पृ· 139 - 140·

कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है । इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है ।"[1]

जलप्लावन की घटना को भी प्रामाणिक मानते हुए वे आगे लिखते हैं - " जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है, जिसने मनु को देवों से विलक्षण मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया । वह इतिहास ही है ।"[2] प्रसाद शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख होने की बात करते हैं -- " मनवे वै प्रातः " इत्यादि से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के आठवें अध्याय में मिलता है ।"[3]

मनु से ही मानव जाति के विकास होने का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं - " मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं । राम, कृष्ण और बुद्ध उन्हीं के वंशज हैं ।"[4] कवि चाहे जिस काल को लेकर भी काव्य की रचना करे, किन्तु वह अपनी वर्तमान स्थिति से दूर नहीं रह सकता । प्रसाद तो अपने वर्तमान में देश की दुर्दशा से क्षुब्ध थे और उसमें सुधार लाने की भावना से प्रमुखतः अतीत की ओर आकृष्ट हुए थे । इसलिए वैदिक तथा पुराणकालीन उस कथावस्तु में भी आधुनिकता की पर्याप्त झलक दिखाई पड़ती है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जैसे आलोचक ने भी लिखा है - " कामायनी काव्य आधुनिक युग की कृति है । इसके निर्माता प्रसाद जी यद्यपि भारतीय अतीत और उसकी प्राचीन संस्कृति के प्रेमी थे, परन्तु कामायनी में उन्होंने नवीन वैज्ञानिक तथ्य का भी यथेष्ट उपयोग किया है ।"[5]

---

1. कामायनी - आमुख, जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली-1, पृ. 274.
2. - वही - पृ. 275.
3. - वही -
4. - वही -
5. कामायनी - एक सर्वेक्षण, नन्ददुलारे वाजपेयी, " कामायनी : मूल्यांकन और मूल्यांकन " में उद्धृत - पृ. 19.

प्रसाद अतीत के इस विषय के आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता के प्रति जागरूक थे। "कामायनी" के आमुख के अन्त में उन्होंने लिखा है -- "हाँ "कामायनी" की कथा - श्रृंखला-मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूं।"[1] यह कल्पना अतीत को वर्तमान से जोड़ने के लिए एक प्रकार के सिमेंट का काम भी करती है।

प्रसाद पुराग्रंथों के गंभीर तथा सजग अध्येता थे और उनके इस अध्ययन का उपयोग उन्होंने अपनी संपूर्ण रचनात्मकता में बड़े ही सूक्ष्म ढंग से किया है। वे कल्पनाशील तथा प्रतिभावान कवि थे। कवि की मौलिकता का विवेचन करते हुए डा॰शान्तिस्वरूप गुप्त ने लिखा है -- "इतना ही नहीं, मनु का उल्लेख तो ग्रीक और रोमन पुराणों में भी मिलता है। श्रद्धा, इड़ा, आकुलि और किलात के नाम भी आरण्यक ग्रन्थों और पुराणों में मिलते हैं। काम का वर्णन भी शिव और पार्वती के प्रसंग में मिलता है, पर लज्जा और काम का वह स्वरूप जो कामायनी में प्रस्तुत किया गया है, प्रसाद जी की मौलिक दृष्टि है।"[2] प्रसाद अपनी मौलिक कल्पना के सही उपयोग से पुराण और इतिहास की नीरसता तथा शुष्कता को सरसता एवं रमणीयता में परिवर्तित कर देते हैं। इस प्रकार काव्य वर्णनात्मकता को मरुभूमि से निकलकर मनोरम शाद्वल (oasis) में प्रवेश करता है। प्रसाद के काव्यात्मक वर्णनों में हृदय ग्राहिता का एक प्रमुख रहस्य है।

कामायनी में प्रसाद के अपने व्यक्तित्व, समय और समाज का प्रभाव दिखायी पड़ता है। उनका शैशव उनके जीवन का स्वर्णकाल था पर बाद में उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। उन्होंने अपने परिवार में सामन्ती सम्बन्धों के सुखद भोगवादी पद का प्रत्यक्ष अनुभव किया। उनका बचपन समृद्ध व्यावसायिक परिवार के सुखों में बीता था, पर शीघ्र ही उनपर अपने परिवार का दायित्व भी आ गया। कामायनी का नायक मनु भी जल प्रलय होने के बाद देवसभ्यता से अलग हो जाता है। उस प्रकार अतीत के विलासमय जीवन से दूर कर दिये

---

1. कामायनी - आमुख, जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली - 1, पृ. 277.

जाने से वह अपने को अकेला महसूस करता है और बहुत निराश हो जाता है। उसकी परम्परागत विलास- प्रवृत्ति जीवन की वास्तविक कठोरता का सामना नहीं कर पाती। लेकिन तब भी मनु जीवन से भागना नहीं चाहता, वह किसी एक साथी को ढूंढने के प्रयत्न मे लग जाता है। उसे श्रद्धा के रूप में एक साथी मिल जाती है जो मनु के अकेलेपन को दूर करने मे सहायक होती है। मनु का टूटा हुआ मन श्रद्धा के प्रेमपूर्ण सहयोग से जुड़ने लगता है। मनु की निराशा छिटती है और श्रद्धा की आशा से जुड़ जाती है।

"... प्रसाद निराशा के कवि नहीं है। वेदना निराशा नहीं है। मनु की निराशा श्रद्धा की आशा को तीव्र करने के लिए आयी है।"[1] मनु देव सभ्यता (सामन्ती सभ्यता ?) की देन था, जिसने वैभव और भोग से जुड़ा जीवन देखा था। उस वैभव के ध्वंस की कल्पना भी सिहरा देनेवाली थी। मनु अपने अतीत की स्मृति करते हुए निरन्तर चिंतित हो जाता है। वह सोचता है -- चिंता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की उस सुख की, उतनीही अनंत मे बनती जाती रेखायें दुख की।"[2]

भोगवादी व्यक्ति सुख-भोग से तृप्त और संतुष्ट नहीं हो पाता। यही कारण है कि जब मनु श्रद्धा के सम्पर्क में आ जाता है तब वह थोड़े दिन तो अपने को सुखी समझता है, लेकिन उसकी भोग लालसा गर्भवती श्रद्धा से तृप्त नही होती। उसी समय आकुली किलात के संपर्क मे आने से उनके भीतर दबी हुई लोलुप हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ जाती है। तन और मन के लिए और अधिक सुख पाने की लालसा मे मनु पशुबलि भी देने लगता है। उसकी स्वार्थभावना को दूर हटाने के लिए श्रद्धा भरसक प्रयत्न करती है और उसको समझाती है --

---

1. प्रसाद काव्य का नया मूल्यांकन - भुवनेश्वर - पृ. 19.
2. कामायनी - प्रसाद ग्रन्थावली । - पृ. 279.

" अपने में सबकुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा ।"[1]

लेकिन मनु अपनी विलासमय प्रवृत्ति से विवश है । वह अपने भीतर कुछ अभाव महसूस करने लगता है । इसीलिए श्रद्धा को छोड़कर चल देता है । वह श्रद्धा के "समर्पण" का मूल्य नहीं समझ पाता।वह कुछ नया और उत्तेजनात्मक अनुभव प्राप्त करना चाहता है । इसी खोज में उसे इड़ा मिलती है । वह इड़ा पर अपना संपूर्ण अधिकार कायम करना चाहता है । इड़ा में श्रद्धावाली समर्पण भाव नहीं है, अतः वह मनु की अधीनता नहीं मानती । यदि मन अशान्त रहता है तो हमारा जीवन वैसा ही रहेगा । मनु हमेशा स्वयं में कुछ कमी महसूस करता रहता है । अपने जीवन अभावग्रस्त समझता है । मनु पुराणकथा का मिथकीय चरित्र है, किन्तु प्रसाद की "कामायनी" में वह सामंतवाद और पूंजीवाद की संधिवेला का ऐतिहासिक व्यक्तित्व बन जाता है । इसे स्पष्ट करते हुए रमेशकुन्तल मेघ ने लिखा है -- " कामायनी " के कर्म सर्ग में मिथकीय मनु में पहली बार ऐतिहासिक चेतना अभ्युदित होती है, जबकि चंचल जीवन में प्रतिष्ठित " स्वर्ग " की ललक वर्तमान जीवन में मिलकर "अभाव" बन जाती है ।"[2] मनु के जीवन के"अभाव" का यह सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है ।

श्रद्धा को छोड़कर मनु सारस्वत प्रदेश चला जाता है और जहाँ की रानी इड़ा है । यह मुलाकात महत्वपूर्ण है । इड़ा का अर्थ है बुद्धि । इड़ा का प्रसंग भी " शतपथ ब्राह्मण " आदि ग्रंथों में आया है, पर वहाँ मनु की दुहिता के रूप में होने का उल्लेख मिलता है । इड़ा के चरित्र के संदर्भ में स्वयं प्रसाद ने लिखा है - " अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया । फिर तो इड़ा पर भी अधिकार पाने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोपभाजन होना पड़ा ।"[3]

1· कामायनी - प्रसाद ग्रन्थावली । - पृ· 310·

2· मिथक और स्वप्न - रमेशकुन्तल मेघ - पृ· 140·

3· कामायनी आमुख - प्रसाद ग्रन्थावली । - पृ· 277·

मनु सारस्वत प्रदेश मे इड़ा की सहायता से यान्त्रिक एवं वैज्ञानिक युग {पूँजीवाद} की स्थापना करता है । औद्योगीकरण के पश्चात् वर्ग तथा वर्ण विभाजन भी समाज मे होता है ।

" चार वर्ण बन गये बँटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यंत्र बन चले, देखा जिनका सपना ।"[1]

यह वर्ग पूर्णतः आधुनिक युगीन मार्क्सवादी वर्ग भेद नहीं है । इसको स्पष्ट करते हुए निर्मला जैन ने लिखा है - "प्रसाद जी के पास वर्ग-भेद के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक कल्पना नहीं है । वे वर्ग-भेद के साथ सभी भेद-विषमताएँ मिला देते हैं जो उन्हें दिखायी पड़ती हैं । वास्तविकता तो यह है कि वर्ग-भेद के यथार्थ स्वरूप को समझते नही ।"[2] ऐसा इसलिए संभव है क्योंकि जयशंकर प्रसाद के समय भारतीय समाज मे सामंती संबंध ढह तो गये थे पर पूँजीवाद अपने शैशव मे ही था । इड़ा की सहायता से एक औद्योगीकृत यंत्र प्रधान समाज का निर्माण करने वाले मनु मे स्वार्थ बुद्धि और बढ़ जाती है । सारस्वतदेश पर अधिकार पाने के लिए वह इड़ा को बलपूर्वक अपनाना चाहता है ।

मनु की इस स्वार्थभावना के विरुद्ध सारी जनता विद्रोह कर देती है - यह एक प्रकार से उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी, तथा विस्तारवादी नीति की छाया भी है, जिसके विरुद्ध प्रसाद की ऐतिहासिक चिन्ता अनजाने व्यक्त होने लगती है । इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए शांति स्वरूप गुप्त कहते हैं -- "इस कथा द्वारा प्रसादजी ने आधुनिक शासन और शासितों में वर्ग-संघर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तथा जनता को विजय दिखाकर जनता को शासकों का नियंता बनाया है ।[3] लेकिन प्रसाद पर मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष को

---

1. कामायनी - जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली । - पृ. 342.
2. आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन - निर्मला जैन - पृ. 101.
3. हिन्दी काव्य के आलोक स्तम्भ, शान्ति स्वरूप गुप्त - पृ. 169.

मुखर रूप में देखना उचित नहीं है । यह वर्णन प्रसाद बहुत कुछ अचेतन-स्तर पर करते हैं । असल में प्रसाद में इस प्रकार की वर्ग-भावना या आधुनिक युगीन सामाजिक संघर्ष के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है । मानवता का क्रमिक विकास दिखाना अगर उनका प्रधान लक्ष्य रहा होगा तो उसी क्रम में वे सामाजिक - ऐतिहासिक स्थितियों का भाववादी विवेचन करते चले हैं, ऐसा माना जा सकता है ।

सारस्वत देश से मनु निकाल बाहर कर दिया जाता है और वह एक बार फिर अकेला हो जाता है । वह देह और मन दोनों स्तरों पर निर्वासित होकर कैलाश पर्वत पर पहुँचते हैं जहाँ उसका मन "पूर्ण" बन जाता है । यहाँ से मनु इतिहास-विच्छिन्न तथा अवर्ण्य दर्शन-रहस्य से जुड़ा व्यक्तित्व बन जाता है । श्रद्धा मनु को ढूँढते हुए हिमालय पहुँचती है । फिर शैव दर्शन का महत्व और सृष्टि का रहस्य त्रिपुर ज्ञान के द्वारा ... व्यक्त करता जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय से प्राप्त होता है । मनुष्य यदि अपने मन पर अधिकार पाले और समस्त वृत्तियों को अपने काबू में रखे तो वह अलौकिक आनन्द की प्राप्ति कर सकता है । उसी दार्शनिक तत्व को प्रसाद ने कामायनी के अन्त में दिखाया है । जीवन में सामरस्य से आनंद मिलता है और इस आनन्द की प्राप्ति के द्वारा सृष्टि में समरसता की स्थापना करना ही प्रसाद का दार्शनिक लक्ष्य रहा है ।

"समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था ।"[1]

---

1. कामायनी - प्रसाद ग्रन्थावली । - पृ. 379.

प्रसाद इस प्रकार वैदिक कालीन युग के चित्रण से लेकर यान्त्रिक युगीन वातावरण का विवेचन करते हैं। लेकिन फिर यहाँ अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के मध्यकालीन "दर्शन" तक जाने में उनकी ऐतिहासिक चेतना विसलती प्रतीत होती है। यह मानवता के विकास की वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टि नहीं है। प्रसाद की इस असफलता का चित्रण करते हुए रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है -- "प्रसाद ने वेदना के आधार पर केवल सहानुभूति की अभिव्यक्ति की है। लेकिन भिन्नता, दुख और विवेक के सह अस्तित्व को नामंजूर कर देते हैं। यह भी उनका एक अन्य जबर्दस्त अन्तर्विरोध (contradiction) है कि वे संघर्ष सर्ग के बाद इड़ा के विवेक को भावुकता से, समाज के दुख को कैलाश के आनंद से तथा चरित्र के वैचित्र्य को समरसता से स्थानांतरित कर डालते हैं। अपने इस सृजनात्मक कार्य को कीमत उन्हें ऐतिहासिक चेतना को खो देने में चुकानी पड़ी है।"[1]

इसका अर्थ यह नहीं कि कामायनी में प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना व्यक्त नहीं हुई है। वैदिक कालीन समाज से लेकर आधुनिक समाज के निर्माण तक उन्होंने काव्य सृजन में इतिहास बोध का अच्छा परिचय दिया है। "कामायनी" के अंतिम चार सर्गों में कवि प्रसाद आधुनिकता से विच्छिन्न हो जाते हैं और यह उनके दर्शन तथा चिंतन पक्ष की सीमा है। इसी सीमा का विश्लेषण करते हुए डा० इन्द्रनाथ मदन ने लिखा है -- "उसने वैदिक मॉडल तथा आधुनिक मॉडल दोनों को अस्वीकृत करके मध्यकालीन रोमांटिक मॉडल को स्वीकार किया है। इस चुनाव में प्रसाद की वैयक्तिक मनोवृत्ति, छायावादी जीवन-बोध तथा वर्गीय चरित्र-तीनों का प्रभाव परिलक्षित होता है।"[2]

---

1. मिथक और स्वप्न, रमेशकुन्तल मेघ - पृ० 144.
2. "कामायनी" मिथक से स्वप्न की ओर, "रमेशकुन्तल मेघ - कामायनी : मूल्यांकन और मूल्यांकन, में उद्धृत - पृ० 157.

अन्यथा पूरे काव्य में मानव-विकास की काव्यात्मक तथा-प्रस्तुति के द्वारा प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना व्यक्त हुई है। सृष्टि के आरम्भ मे मनु अकेला मनुष्य था। उसे श्रद्धा मिली, जिससे "मानव" उत्पन्न हुआ तथा बाद में सारी मानवता का विकास हुआ। वैसे ऐतिहासिक तथ्यता, की दृष्टि से अनेकों प्रश्न उठ सकते है किन्तु कामायनी एक तथ्यपरक इतिहास-ग्रंथ नही होकर कल्पनाप्रवण काव्य - सृष्टि है। यही कारण है कि सृष्टि के आरंभ मे मनु अकेला मनुष्य बचा था। पर सारस्वत प्रदेश मे एक राज्य मौजूद थी जहाँ इडा के शासन मे जनता रहती थी। इन सभी के चित्रण पर तर्क-प्रवण पाठक अनेकों प्रश्न चिह्न लगा सकते हैं। शायद उत्तर भी दिया जा सकता है कि प्रसाद ने प्रलय के बाद के किसी एक ऐसे निर्जन प्रान्त का चित्रण किया होगा जहाँ मनु अकेला था जिससे सारी सृष्टि का विकास हुआ। किन्तु प्रलय के उपरान्त अन्य प्रान्त भी रहे होंगे जिसका चित्रण सारस्वत प्रदेश के रूप में किया गया। लेकिन यह तर्क-वितर्क कामायनी काव्य की व्यंजनात्मकता के आगे तुच्छ ठहरता है। पहले मनु मे प्राचीन मानवीय संस्कृति के लक्षण दिखाई पडते हैं जिसे "देव संस्कृति" कहा गया है। यह भोगवाद की चरम सभ्यता थी जिसका विनाश हुआ। धीरे-धीरे श्रद्धा के सम्पर्क मे आने से मनु में गृहस्थ जीवन के प्रति उत्सुकता दिखायी देती है। किन्तु वह पुरानी आदते छोड़ नही पाता। शिकार करना, सुख प्राप्ति के लिए पशु बलि देना उत्तर स्वार्थ भावना की तीव्रता आदि का क्रमिक रूप से उसमें विकास दिखाया गया है। इस मानवता के ऐतिहासिक विकास मे कई मोड आते हैं और सभ्यता तथा संस्कृति के कई स्तर खुलते हैं। कामायनी में मनु की तथा मानव-विकास की कथा भी बनती है। इस मानव सभ्यता के विकास को विवेचित करते हुए रमेशकुन्तल मेघ ने लिखा है --- "... "कामायनी" में कई संक्रमण (transitions) हैं, वैदिक युग से कृषि युग में, कृषि युग से औद्योगिक युग में, सामंतवादी युग से पूंजीवादी युग मे तथा सामूहिक सामाजिकता से वैयक्तिक मुक्ति के युग में।" [1] सभ्यता और संस्कृति में भिन्नता भी है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य उपयोग तथा उपभोगवादी पक्षों से जुड़ती है तो संस्कृति मानवमन की रचनात्मकता से। डा॰मेघ

1· मिथक और स्वप्न, रमेशकुन्तल मेघ - पृ॰ 173·

कामायनी के सभ्यता विकास वाले पक्ष को महत्व देते है तो डा॰रामस्वरूप चतुर्वेदी संस्कृति धर्मी तत्वों पर विशेष बल देते हैं। मानव संस्कृति के विकास को " कामायनी " की कथा मे दर्शाते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है - " कामायनी " की रचना के केन्द्र मे मानवीय संस्कृति का विकास, उसके मान-मूल्यों की प्रक्रिया औरउसमें वर्तमान क्रियाओं का विश्लेषण हैं। और मानवीय संस्कृति मे वैशिष्ट्य का सन्दर्भ उसकी पिछली देव-संस्कृति की तुलना में उभरता है। देवता, स्वर्ग और परलोक प्रधान मध्य कालीन भारतीय विचारधारा से हटकर मनुष्य की संस्कृति की यह आत्मविश्वासपरक व्याख्या समकालीन राष्ट्रीय संदर्भ में जितनी महत्वपूर्ण है, उतनी ही महत्वपूर्ण संपूर्ण मानवीय संदर्भ मे है।"[1] प्रो॰रामस्वरूप चतुर्वेदी सभ्यता और इतिहास की बात नहीं करते किन्तु फिर भी वे कामायनी के "सांस्कृतिक संदर्भ " को वर्तमान सभ्य और समाज से जोडकर देखते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हिन्दी के आलोचकों ने कामायनी-कथा में प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि को स्पष्टत: परिलक्षित किया है। इसी मानवता के क्रमिक विकास मे ऐति-हासिकता के बारे में विचार करते हुए डा॰गिरिजा राय ने नामवरसिंह का कथन उद्धृत किया है -- " कामायनी मे मानवता का क्रमिक विकास दिखाया गया है और इस क्रम में ही आधुनिक युग एवं उसकी समस्या का चित्रण किया गया है। सारस्वत नगर के वर्णन में आधुनिक औद्योगिक संस्कृति की प्रतिच्छवि पायी जाती है।"[2]

इस प्रकार कामायनी के द्वारा सामान्यत: मानवता का और विशेषत: भारतीय समाज, सभ्यता और संस्कृति का काव्यात्मक विवेचन हुआ है। श्रद्धा के द्वारा भारतीय नारी के आदर्श रूप चित्रण करना भी प्रसाद की एक आकांक्षा रही है। कुल मिलाकर कामायनी के केन्द्र में मानव अर्थात् मनुष्य ही रहा है।

1· कामायनी का पुनर्मूल्यांकन - रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ· 27·

2· कामायनी की आलोचना प्रक्रिया, गिरिजा राय, पृ· 158 मे उद्धृत।

देवीशंकर अवस्थी ने सही लिखा है -- "कामायनीकार का प्रमुख उद्देश्य है मानवता की प्रतिष्ठा । मानव उसकी प्रमुख समस्या है । मानव में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व सदैव हुआ करता है । कामायनी उसका समाधान है । "[1]

इस मानवता के क्रमिक विकास को व्यक्त करनेवाले काव्य को मनोभावों का रूपकत्व प्रदान करने का संकेत करते हुए स्वयं प्रसाद ने लिखा है --
" यह इड़ा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनाने में सहायक होता है । फिर बुद्धिवाद के विकास में अधिक सुख की खोज में, दुख मिलना स्वाभाविक है । यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है । इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं । मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है । "[2]

प्रसिद्ध आलोचक रामचन्द्र शुक्ल भी कामायनी में रूपक का आश्रय लिये जाने का उल्लेख करते हुए लिखते हैं -- " कवि ने मनु, श्रद्धा और इड़ा को कथा के लिए इतिहास का आधार लिया है तथा मानवीय संस्कृति के विकास और उसकी समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के लिए रूपक का आश्रय लिया । "[3] किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या कामायनी काव्य की संपूर्णता में इस रूपक का निर्वाह हो सका है ? " कामायनी " के पूर्ण रूप से रूपक काव्य होने पर शंका करते हुए शुक्लजी ने लिखा है - " रूपक सामान्यतः द्वयर्थक कथा होती है, जिसमें एक पक्ष प्रस्तुत तथा दूसरा अप्रस्तुत होता है । प्रस्तुत कथा स्थूल रूप अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म होती है । कामायनी में मनु और श्रद्धा के माध्यम से

---

1. कामायनी अनुशीलन, देवीशंकर अवस्थी - पृ. 29.
2. कामायनी आमुख - प्रसाद ग्रंथावली । - पृ. 277.
3. कामायनी की आलोचना प्रक्रिया, गिरिजा राय - पृ. 29.

सृष्टि के विकास की कथा को प्रस्तुत, मनु की आनन्द की अनुभूति देनेवाली कथा अप्रस्तुत माना जाता है । प्रसाद जी ने कामायनी में रूपक का आश्रय लिया है । लेकिन यह पूर्णतया रूपक काव्य नहीं है । रूपक काव्यों में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत कथा का अलग अलग अस्तित्व रहता है, कामायनी में ऐसा नहीं है ।"[1] किन्तु छायावाद के एक अन्य आलोचक डा॰नन्ददुलारे वाजपेयी शुक्ल जी के इस कथन से सहमत नहीं प्रतीत होते । वे कामायनी में रूपकत्व अथवा प्रेमीकत्व का पूर्ण विस्तार पाते हैं । इस काव्य में प्रतीकात्मकता को महत्व-पूर्ण मानते हुए वाजपेयी जी ने लिखा है - "यदि यह कथा मनु और कामायनी की केवल व्यक्तिगत कथा होती और इसमें कुछ भी संकेत न होता तो भी यह विलनो[illegible]परिष्कृत, स्वाभाविक तथा आधुनिक कथा थी, किन्तु यह पूर्ण रूप से सांकेतिक भी है । यह आधुनिक मानव-मात्र, नर-नारी मात्र की एक प्रतिनिधि कथा या जीवनी का स्वरूप भी है। आज का मनुष्य मनु से भिन्न नहीं है, आज की नारी भी तो कामायनी से कुछ भिन्न हो ।"[2]

इसी प्रकार मनु को मन का, श्रद्धा को हृदय का, इडा को बुद्धि का प्रतीक मानते हुए डा॰नगेन्द्र ने लिखा है — "... कामायनी निस्सन्देह ही रूपक है । प्रसाद जी ने कथा के मूलतत्वों को ऐतिहासिक मानते हुए उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था । किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में आरम्भ से अन्त तक वर्तमान था, और मन के विकास का प्राचीन वैदिक रूपक उनको वैसे भी अत्यन्त प्रिय था ।"[3]

---

1. कामायनी की आलोचना प्रक्रिया, गिरिजा राय - पृ॰ 29॰
2. जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी - पृ॰ 39॰
3. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, नगेन्द्र - पृ॰ 43॰

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से " कामायनी " का अध्ययन होता आया है। मुक्तिबोध जैसे आधुनिक आलोचकों ने कामायनी का मार्क्सवादी दृष्टि से अध्ययन किया है। वे प्रसाद के जीवन, विचार, दृष्टिकोण तथा उनके समय और समाज का गहरा विश्लेषण किया है। वे कामायनी में प्रसादकालीन जीवन संदर्भों को अंकित पाते हैं। कामायनी के महाकाव्यत्व को स्वीकार करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं -- " .. कामायनी ऐतिहासिक महाकाव्य है। अतएव उसमें वैदकालीन युग-प्रवृत्तियों को अंकित किया गया है न कि प्रसादकालीन। यह मत निराधार और भ्रामक है।"[1]

प्रसाद ने मनु को मानवजाति के प्रतिनिधि और आदि पुरुष माना है। किन्तु उनकी इस " व्याख्या " का विरोध करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है -- " वैदकालीन मनु कामायनी का मनु नहीं। प्रसाद का मनु उसी वर्ग का मनु है जिस वर्ग के स्वयं प्रसाद जी हैं। उसे मनन-मात्र का, मन-मात्र का, मानव-मात्र का, प्रतिनिधि कहना सरासर गलत है।"[2] कामायनी का मार्क्सवादी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करते हुए मुक्तिबोध मनु के व्यक्तित्व पर सामन्तवादी लक्षणों का आरोप करते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है -- " मनु एक टाइप है, उस वर्ग का टाइप है, जिसकी शासन-सत्ता तथा ऐश्वर्य छिन गया है। इस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ मनु में हैं। अहंकार, विलासिता, आत्मोह, निर्बाध उच्छृंखलता, व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखण्ड और ऐसा आत्म ग्रस्त, निविड़ आत्म-विश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयों की ओर ले जाता है, मनु की विशेषता है।"[3]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली - 4, कामायनी - एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध -पृ.227.
2. - वही - पृ. 231.
3. - वही -

मुक्तिबोध के इस सटीक विश्लेषण के विपरीत अनेक आलोचक " कामायनी " में अतीत की पुराकथा के चित्रण की बात पर ही बल देते आये हैं । उदाहरण स्वरूप देवसंस्कृति और मानव संस्कृति - इन दो संस्कृतियों की टकराहट को कामायनी में प्रमुखत: चित्रित मानते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है —
" इन चीजों की परस्पर टकराहट की पृष्ठभूमि में देव-दानवों के सांस्कृतिक संघर्ष का रूप है तथा मानवीय संस्कृति पिछली संस्कृतियों से कैसे भिन्न और अधिक सार्थक रूप से विकसित होती है, इसका आख्यान है ।"[1] प्रश्न उठता है कि संस्कृति कोई हवाई चीज नहीं होती । वह समाज में, समाज के निवासियों की रचना - त्मकता से जुड़ी होती है । उसका संबंध जीवन की वास्तविकताओं से घनिष्ठ रूप से होता है । फिर उसे ऐतिहासिक वास्तविकता से अलग करके देखना क्या उचित है ? आर्थिक विषमता को कामायनी के मूल में भले ही प्रसाद दिखाना नहीं चाहते रहे हों । लेकिन क्या वे अपने समय की चुनौतियों से अपने को बचा सकते थे ? आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों से संस्कृति के प्रश्नों को अलग करना सुसंगत चिन्तन नहीं कहा जा सकता । पूंजीवादी यंत्र युग के आर्थिक तथा राजनीतिक संदर्भों से काटकर केवल सांस्कृतिक संकट को ही दिखाते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है - " मानवीय संस्कृति के आधुनिक संकट को प्रसाद ने " कामायनी " में अच्छी तरह पहचाना है । सच तो यह है कि " कामा- यनी " अब से प्राय: पैंतीस वर्ष पूर्व जब प्रकाशित हुई थी तब से उसकी अर्थ - संगति वर्तमान युग-युग में कुछ अधिक ही हुई है । अतिभौतिकता, अतियांत्रिकता और अतिबौद्धिकता के जिस खतरे की ओर प्रसाद संकेत करते हैं, उसका संदर्भ पहले से अधिक फैला है ।"[2] स्वयं यह संदर्भ अधिक गहरे समाजशास्त्रीय विश्लेषण एवं व्याख्या की अपेक्षा रखता है, जैसा कि मुक्तिबोध ने " कामायनी " एक पुन - र्विचार पुस्तक में किया है ।

1· कामायनी का पुनर्मूल्यांकन - रामस्वरूप चतुर्वेदी - पृ· 19·
2· - वही - पृ· 25·

इस प्रकार अनेक आलोचकों ने " कामायनी " मे सामंतवाद के पतन तथा पूंजीवादी सभ्यता की शुरुआत के उल्लेख होने का विवेचन अथवा संकेत किया है। श्रेष्ठ आधुनिक कवि एवं समीक्षक स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने " कामायनी " का अत्यन्त महत्वपूर्ण विवेचन तथा विश्लेषण किया है। वे प्रसाद की मानसिकता को पहचान करने में सफल हुए हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है — "... प्रसाद जी स्वयं अपने अनजाने हो, कामायनी को प्राचीन इतिहास के रूप में उपस्थित न कर, वर्तमान पूंजीवादी समाज के विकास का छोटा-सा इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें उस समय की प्रमुख समस्या - अहं, व्यक्ति, कुंठा-को काव्यरूप में, उसके नग्न रूप मे उपस्थित किया गया है।"[1] कोई भी रचना काव्य को स्थूल रूप में नहीं रख देती। कामायनी की अन्तर्वस्तु को प्रसाद ने कल्पना और फैंतासी के माध्यम से व्यक्त किया है। इस ओर भी हिन्दी जगत का ध्यान सर्व प्रथम मुक्तिबोध ने ही आकृष्ट किया। कामायनी की कथावस्तु में पूंजीवादी सभ्यता की विषमता को फैंटेसी के माध्यम से उपस्थित किया गया है। फैंतासी का माध्यम बीसवीं सदी की जटिल जीवन-व्यवस्था के चित्रण के लिए कारगर शिल्प है। मुक्तिबोध तथा रमेशकुन्तल मेघ ने इस तथ्य का उल्लेख किया है। मुक्तिबोध ने कहा है - " कभी कभी फैंटेसी जीवन की विस्तृत वास्तविकता के लिए, और उसको लेकर, उपस्थित होती है। कामायनी में यही हुआ है। ऐसी स्थिति में फैंटेसी के रूप में जो कथा प्रस्तुत होती है, और कथा के अन्तर्गत जो पात्र, चरित्र और कार्य प्रस्तुत होते हैं, वे सब प्रतीक होते है — वास्तविक जीवन-तथ्यों के।"[2] इसका अर्थ है कि फैंटेसी इतिहास का निषेध नहीं करती, बल्कि इतिहास की जटिलता के भीतर छिपे सत्य की खोज करती है। जीवन की जटिल स्थितियों को अपनी समकालीनता के सन्दर्भ मे प्रासंगिक बनाते हुए फैंटेसी इतिहास के किसी भी छोर का चक्कर लगा सकती है। कामायनी में भी

---

1. मुक्तिबोध रचनावली - 4, कामायनी - एक पुनर्विचार मुक्तिबोध - पृ.270.
2. - वही - पृ. 221.

प्रसाद अपने ऐतिहासिकसमय को ही रचनात्मकता के केन्द्र में रखते हैं ।

इस दृष्टि से कामायनी एक जीवन-समस्या का समाधान प्रस्तुत करनेवाला काव्य है । यह समाधान क्या और कैसा है, यह महत्वपूर्ण नहीं । महत्वपूर्ण है समस्या स्वयं । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है -- " मुझे बार-बार लगा कि प्रसाद जी फैण्टसी द्वारा, जीवन-ज्ञान, इच्छित विश्वास और अपनी मूल्य-भावनाओं के अतिरिक्त एक जीवन-समस्या प्रकट कर रहे हैं ... वह जीवन-समस्या व्यक्तिवाद की समस्या है, जो एक विशेष समाज और काल में विशेष रूप और प्रकार से उपस्थित हो सकती है ।"[1] व्यक्तिवाद आधुनिक पूंजीवाद का एक अनिवार्य 'बाइ-प्रोडक्ट ' है । पूंजीवाद ने मध्यवर्ग के माध्यम से व्यक्तिवाद को पैदा किया । यहाँ तक ठीक ही लेकिन, किन्तु प्रसाद से कामायनी में मानव-समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चूक हो गयी है । इसी समाधान को प्रस्तुत करने की जिद में वे मिथक से इतिहास में आकर पुन: इतिहास से मिथक में घुस जाते हैं । सामंत युग (पूर्व मध्य युग पुराण कथाओं का युग) मिथक का युग था, पूंजीवादी आधुनिक युग इतिहास का युग है । कवि रमेशकुन्तल मेघ ने लिखा है - " मिथक सत्य और इतिहास-सत्य में मौलिक अन्तर है । मिथक-सत्य श्रद्धा पर आश्रित है, जबकि इतिहास सत्य विज्ञान पर ।"[2]

इस प्रकार आधुनिक आलोचकों के विवेचन से भी स्पष्ट होता है कि प्रसाद का उद्देश्य मानवता का इतिहास प्रस्तुत करना ही है । अतीत के प्रति अपनी श्रद्धा के कारण ही उन्होंने वैदिककालीन कथावस्तु को आधारभूमि के रूप में चुना होगा । इसी मानवता के चिरन्तन सत्य को उद्घाटित करते हुए रमेशकुन्तल मेघ ने लिखा है - " कामायनी में प्रसाद ने अपने सामाजिक जीवन के तनावों तथा समस्याओं को आर्केटाइपल बिम्बों में गर्भित करके 'मानवता के चिरन्तन सत्य ' की तलाश ही की है ।"[3]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली -4, कामायनी - एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध - पृ.221.
2. कामायनी, मिथक से स्वप्न की ओर, रमेश कुन्तल मेघ, कामायनी-मूल्यांकन और मूल्यांकन, इन्द्रनाथमदन में उद्धृत - पृ. 149.
3. - वही - पृ. 149.

तृतीय अध्याय

प्रसाद के गद्य साहित्य में ऐतिहासिक चेतना

प्रसाद की कहानियों में ऐतिहासिक चेतना

साहित्य के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं जैसे नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि में सृजन किया है। इनका साहित्य-क्षेत्र में आगमन द्विवेदी युग में हुआ तथा अप्रत्यक्षतः भारतेन्दु युग का भी प्रभाव उन पर रहा है। इस कारण प्रसाद का आरम्भिक काव्य लेखन ब्रजभाषा में हुआ लेकिन आगे चलकर द्विवेदी युग के खड़ी बोली आन्दोलन से प्रेरित प्रसाद ने खड़ीबोली को पूरी तरह अपना लिया। अपनी रचना-यात्रा मे प्रसाद ने छायावाद की मंजिलें तय की, पर साथ ही वे भविष्य में आने वाले प्रगतिवाद की ओर अनजाने ही कदम बढ़ाते नजर आते हैं। उनके साहित्य में छायावादी प्रवृत्तियों के साथ-साथ प्रगतिशीलता की प्रवृत्तियों का भी आंशिक रूप मिलता है।

प्रसाद की कहानियाँ मूलत: छायावादी धरातल पर विकसित होती हैं लेकिन अपनी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों में वे यथार्थवाद को भी मुखरित करती हैं। प्रसाद पुनरुत्थानवादी या रीतिवादी (neoclassical) साहित्यकार नहीं थे। उनके कलात्मक व्यक्तित्व में क्लासिकल और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व दिखायी पड़ता है। इनके व्यक्तित्व के विकास में उदात्त और यथार्थवादी चेतना की भावना के साथ मानवतावादी भावना का भी रूप मिलता है।

छायावादी काव्यधारा में वैयक्तिकता को प्रधानता होती है जिसमें वेदना के साथ पलायनवाद का भी चित्रण मिलता है जिसके कारण लेखक जीवन की समस्याओं से आँख मूँद लेते हैं तथा जीवन की कठिनाइयों से दूर हो जाते हैं। लेकिन प्रसाद पलायनवाद के विरोधी जान पड़ते हैं। वे जीवन की वास्तविकता से संघर्षरत होने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। उनकी ऐतिहासिक तथा सामाजिक विषय-प्रधान कहानियों में यही चेतना उभर आती है।

आत्मनिष्ठता छायावादी काव्यधारा की प्रधान विशेषता थी। यह व्यक्तिप्रधान थी और व्यक्तिप्रधान होने के कारण समाज की भावनाएँ तथा समूह की कल्पनाएँ वहाँ उपेक्षित बनकर रह गई हैं। प्रसाद को पूर्णत: व्यक्तिवादी कहे जाने का विरोध करते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने अपने लेख में लिखा है -- "प्रसाद स्व में केन्द्रित हो जाने के व्यक्तिवाद के प्रबल विरोधी हैं।"[1] प्रसाद जी आत्मनिरीक्षण और आत्मसमीक्षा के

---

1. "प्रसाद का काव्य : परम्परा और आधुनिकता के सन्दर्भ में", विश्वनाथ प्रसाद तिवारी "दस्तावेज" 44, पृ. 7-8.

कायल थे । सुधार, परिवर्तन, प्रगति के संदर्भ में उनका समाज-बोध अत्यन्त सक्षम था । इसी को लक्ष्य करते हुए डा॰शम्भुनाथ ने लिखा है -- " वह भाववादी जरूर थे, पर व्यक्तिवादी नहीं ।"[1] प्रसाद ने व्यक्ति के स्थान पर समष्टि को अधिक महत्त्व दिया है । व्यक्ति की कमजोरियों के लिए समाज को उत्तरदायी ठहराते हुए उसमें सुधार लाने का प्रयत्न किया है । आलोचक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रसाद को विद्रोही कवि ठहराते हुए कहा है - " प्रसाद जी की यह विशेषता थी कि वे कुछ विशेष आदर्शों के उपासक हुए हैं, प्राचीन सहानुभूति का, नये युग की स्वस्थ मनुष्यता का, संचार करने वाले प्रथम पुरुष थे । उन्होंने अपने समय के आदर्शों की सीमा को, जो संकुचित हो रही थी, इतिहास और मनोविज्ञान की सहायता से बढ़ाने, अथवा न बढ़े तो तोड़ने की चेष्टा की; इसलिए वे इस युग के सबसे पहले विद्रोही कवि हुए ।"[2] पर वेदप्रकाश अमिताभ जैसे अध्येता प्रसाद को विद्रोही मानने के पक्ष में नहीं हैं । वे प्रसाद में संघर्ष भावना का मानो अभाव पाते हैं - 'प्रसाद नकारात्मक मूल्यों के लिए पूरी सामाजिक व्यवस्था को जिम्मेदार ठहराते हैं । उन्होंने इस दूषित और वैषम्यिक समाज को तोड़ने की बात नहीं कही है, तोड़ने की बात अवश्य बराबर करते हैं ।"[3] ऐसा लगता है कि प्रसाद ने अपनी रचनाओं में कहीं समाज से विद्रोह किया है तो कहीं उसे सुधारने का प्रयत्न । उन्होंने मनुष्य की दुर्बलताओं के लिए समाज को, व्यवस्था को, उत्तरदायी समझा है और

---

1. " प्रसाद कथा साहित्य में यथार्थवाद ", शम्भुनाथ, " मधुमती ", अगस्त 1989, पृ॰ 5.
2. जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ॰ 27.
3. प्रसाद की कहानियाँ - लोकोन्मुखी मूल्य - दृष्टि - वेदप्रकाश अमिताभ- मधुमती, अगस्त 1989, पृ॰ 13.

वर्तमान की दुर्दशा को देखकर समाज पर व्यंग्य भी किया है । " विजया " कहानी मे समाजपर ऐसा ही व्यंग्य किया गया है ।[1] प्रसाद की कहानियों मे समाज अनुपस्थित नही है । व्यक्तियों के उसमे शामिल होने की प्रक्रिया सूक्ष्म होती है । इसलिए ऐसे समाज का अध्ययन करना ही तो गहराई तक झाँकना पड़ता है ।

" जयशंकर प्रसाद " मे रमेशचंद्र शाह ने लिखा है – " प्रसाद ने जिस युग मे कविता करना आरम्भ किया । वह युग, प्रसाद जिस संस्कृति के कवि है – " उस संस्कृति की संध्या – सरीखा है । ... अतीत भी उनकी रचनाओं मे कुछ इस तरह बोलता है मानो वह वर्तमान की ही बात हो । कुछ कवियों मे अतीत से तादात्म्य की अतीत के माध्यम से आत्म स्वाभाविक स्थितियों के साक्षात्कार की क्षमता और जन्मजात होती है । प्रसाद ऐसे ही कवि है ।[2]

मोटे तौर पर छायावाद मे जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति उपेक्षा तथा विमुखता का भाव मिलता है । छाया-वादी रचनाकार वास्तविक जीवन से पलायन कर सुन्दर कल्पनामय लोक मे प्रवेश करता है । लेकिन प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों मे राजा, महा-राजाओं के साथ साधारण जनता की भी तकलीफ मिलती है । कल्पना का उन्होने अतीत और वर्तमान के तादात्म्य के लिए उपयोग किया है ।

1· समाज से डरो मत : अत्याचारी समाज पाप कहकर कानों पर हाथ रखकर चिल्लाता है, वह पाप का शब्द दूसरों को सुनाई पड़ता है, पर वह स्वयं नही सुनता ।" – " विजया, आँधी संग्रह, प्रसाद वाङ्मय 4 पृ· 266·

2· " जयशंकर प्रसाद " रमेशचन्द्र शाह – पृ· 31·

इसलिए उनकी कल्पना को आकाश कुसुमों का गुलदस्ता नहीं कह सकते। अतः उन्होंने सार्थक कल्पना का उपयोग किया है। इसलिए प्रकृति, समाज और जीवन के प्रति सौन्दर्यवादी, मानववादी तथा आदर्शवादी धारणाओं और दृष्टियों का कल्पनात्मक रूप उनकी कहानियों में मिलता है।

प्रसाद की कहानियों में गतिशीलता और गतिशील तत्वों को रेखांकित करते हुए डॉ॰एस॰टी॰नरसिंहाचारी लिखते हैं -- "उसकी गतिशीलता यथार्थता की भूमि पर मानवीय संवेदना की अभिव्यंजना में और प्रगतिशीलता तथाकथित सभ्य समाज से बाहर जाकर पतित और निम्न-वर्गीय मानवता की मानवीय महानता के निरूपण तथा जीवन के विकास में बाधा देने वाले रूढ़ सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोह की भावना में दिखाई देती है।"[1]

प्रगतिशीलता पलायनवाद में विश्वास नहीं करती है। जीवन से संघर्षरत होकर भी उसी में रहकर जीने का सन्देश देती है। इतना ही नहीं, छायावाद की दृष्टि आत्मवादी है तो प्रगतिवादी दृष्टि वस्तुवादी। प्रगतिशील रचनाकार भौतिक जगत में आस्था रखता है और भौतिकता लेखक को वास्तविकता तक ले जाती है।

---

1. प्रसाद की कहानियाँ - प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण - एस॰टी॰ नरसिंहा - चारी - पृ॰ 12.

प्रसाद की कहानियों में इतिहास दृष्टि :-

प्रसाद की कहानियों की यही विशेषता है कि वे जिस युग की कथावस्तु को अपनी कहानियों का आधार बनाते है, उसी युग में प्रवेश कर लेते है और उस समय की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक स्थितियों का कलात्मक चित्रण करते हैं। इस प्रकार से विभिन्न कालों की युगीन परिस्थितियों तथा उनसे संबंधित व्यक्तियों के चित्रण से उनकी वर्तमान के प्रति भावना स्पष्ट होती है। प्रसाद वर्तमान को नहीं छोड़ते। सच तो यह है कि वे वर्तमान को पाने के लिए ही अतीत मे जाते हैं। हर युग का मानव बाहरी रूप से भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ने पर भी अपनी आन्तरिकता तथा मूल स्वभाव में एक ही है। प्रसाद की वर्तमान के प्रति सजगता उनकी ऐतिहासिक चेतना को अधिक प्रासंगिक तथा धारदार बनाती है।

प्रसाद ने अपनी रचनाओं में ऐतिहासिक तिथियों, नामो आदि की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन के यथार्थ को अधिक महत्व दिया है। श्री राजमणिशर्मा का कहना है कि "प्रसाद को यह विश्वास था कि अतीत की ओर दृष्टिपात करना वर्तमान के प्रति विश्वासघात नहीं अपितु वर्तमान राष्ट्रीय परिस्थिति में यह अधिक उपयुक्त था।"[1] उनकी सारी ऐतिहासिक कहानियाँ सुदूर अतीत की पृष्ठभूमि पर निर्मित होने पर भी वर्तमान से ही जुड़ी है। नवलकिशोर मानते है कि "अतीत उनके लिए कोरा समय नहीं, जीवित स्मृति है, जिसमें जीवनगत

---

1. प्रसाद का गद्य साहित्य : राजमणिशर्मा - पृ. 176.

द्वन्द्वों और मानवीय प्रवृत्तियों को वे एक सनातनता में देखते हैं और कुछ नैतिक लक्ष्यों अथवा आदर्शों को वरेण्य बनाते हैं।"[1] इतिहास लिखना उनका लक्ष्य नहीं रहा, भारत के अतीतकालीन गौरवमय इतिहास को दिखाकर वर्तमान की दुर्दशा के प्रति वेदना और सुधार की भावना व्यक्त करना ही उनका उद्देश्य था। उनकी कहानियों में इतिहास की आधारभूमि लेने की ओर संकेत करते हुए "प्रसाद साहित्य और समीक्षा" की लेखिका का कहना है कि "प्रसाद ने अपने युग की समस्याओं का निदान अतीत से खोजा है जिसके लिए उन्होंने इतिहास के अछूते पृष्ठों को पलटकर देखा है और उनसे अपनी कहानियों के लिए सामग्री चुनी है। .... प्रसाद ने इतिहास और कल्पना की चित्रपटी पर मानवमन के विविध चित्र उतारे हैं।"[2] पर कभी-कभी उन्होंने अपनी युगीन समस्या से परे जाकर भी युग-युग के मन-मस्तिष्क को मथने-वाले सांस्कृतिक प्रश्नों को उठाया है। उदात्त मानवमूल्यों के प्रति विशेष आत्मीय भाव उनकी कहानियों में देखा जा सकता है। समीक्षकों ने बताया है कि प्रसाद के कवि-मन पर पड़े हुए बौद्ध-दर्शन एवं भारतीय-संस्कृति के प्रभाव इसके लिए उत्तरदायी हैं।

इस प्रकार प्रसाद-साहित्य के समीक्षकों को प्रसाद में छायावादी रूपों के अतिरिक्त आदर्शवाद और यथार्थवाद के रूप भी मिलते हैं। एक अध्येता के शब्दों में - "वे आदर्शवाद की उपेक्षा नहीं करते उसकी ओर ध्यान देते हैं और खूब देते हैं। पर, उनका यथार्थ ही अधिक प्रबल हो

---

1. प्रसाद के उपन्यास - सही माध्यम की खोज का सवाल - नवलकिशोर "मधुमती" मई 1990, पृ. 13.
2. प्रसाद साहित्य और समीक्षा - उर्मिला देवीशर्मा - पृ. 83.

उठा है, यथार्थ का स्वर ही अधिक तीव्र हो गया है। यही कारण है कि उनके साहित्य में प्रेमचन्द के विपरीत यथार्थोन्मुख आदर्शवाद मिलता है।"[1] यह सच है कि प्रसाद की कहानियों में भावुकता, कल्पना, आदर्श, त्याग तथा कर्तव्य-पालन की प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है, पर साथ ही जीवन की वास्तविकता से उलझने तथा समस्याओं का आर्थिक विश्लेषण करने की भावना भी वहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों में अपने अतीत के साथ-साथ अपने वर्तमान की पहचान का गंभीर प्रयत्न मिलता है। अपने समकालीन वर्तमान का सीधा साक्षात्कार उन्होंने "विरामचिह्न", "मधुआ" जैसी कहानियों में प्रभावशाली ढंग से किया है, मगर अतीत के माध्यम से वर्तमान को समझने में उन्हें सुविधा होती थी। यहाँ हमारा विवेच्य अतीत के फलक पर रची गयी प्रसाद की वे कहानियाँ हैं जिनमें प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना के वैशिष्ट्य उपलब्ध किये जाते हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि साहित्यकार पर उसकी समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव जाने-अनजाने पड़ता ही है। इसलिए आश्चर्य नहीं कि प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों में कहीं छायावाद का, कहीं आदर्शवाद का तो कहीं यथार्थवाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसलिए उनकी ऐतिहासिक कहानियों को इन्हीं दृष्टिकोणों से देखना समीचीन होगा।

---

1. हिन्दी साहित्य : सर्वेक्षण और समीक्षा - श्यामनन्दन प्रसाद सिंह-पृ.138

प्रसाद ने कुल मिलाकर 70 कहानियाँ लिखी हैं जिनको पाँच संग्रहों में संग्रहीत किया गया है - छाया [1913], प्रतिध्वनि [1926] आकाशदीप [1929], आँधी [1931] और इन्द्रजाल [1936]। इतिहास को आधार बनाकर या इतिहास का आभास देनेवाली कहानियाँ लगभग आधी यानी कम से कम 31 हैं।

अगर प्रसाद की इन ऐतिहासिक कहानियों को एक क्रम में रखकर देखा जाय तो प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान अर्थात् अंग्रेजी शासन के समय तक के विकास की मोटी रूपरेखा मिल जाएगी। प्रागै-तिहासिक काल को लेकर लिखी गयी कहानियाँ हैं "प्रलय" और "चित्रमन्दिर"। अतीतकालीन गौरवमय भावना तथा देश के लिए मर मिटनेवाले वीरों के प्रति श्रद्धा की भावना तथा भारत पर यवनों के आक्रमण के समय की कहानी है "सिकन्दर की शपथ"। "अशोक" में मौर्यकालीन शासन का परिवेश है। उत्तर मौर्यकाल तथा बौद्ध धर्म के ह्रास होने की कथावस्तु को लेकर लिखी गयी कहानियाँ हैं - "चक्रवर्ती का स्तम्भ" और "देवरथ"। "भिखारी" और "दासी" में तुर्क लोगों के आक्रमण की घटना वर्णित है। "स्वर्ग के खण्डहर में" मंगोलों के राजा चंगेजखाँ के भारत पर आक्रमण के समय की कहानी कल्पना के साथ सजीवरूप में चित्रित हुई है। मुसलमानों के शासन समय की कहानियाँ हैं - "सलीम", "गुलाम", "ममता", "शरणागत", "नूरी", और "जहाँनारा"। "पुरस्कार", "सालवती", "समुद्रसंतरण", "रसियाबालम", "अपराधी" आदि में इतिहास का आभास देनेवाले पात्रों और स्थानों का उल्लेख हुआ है।

ऐसी अतीताभास की कहानियों में देशप्रेम, राष्ट्रीयता आदि के भावों का वर्णन मिलता है। राजपूतों के काल की कहानी है "चित्तौर-उद्धार" जिसमें राजपूतों के परम्परागत मूल्यों की ओर दृष्टि डाली गयी है। "शरणागत", "गुण्डा" जैसी अंग्रेजी शासन समय की कुछेक कहानियाँ हैं।

प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों में उनकी ऐतिहासिक चेतना का अध्ययन करने के लिए यह जानना जरूरी है कि प्रसाद का इतिहास के प्रति कैसा दृष्टिकोण रहा है और उसका वर्तमान से क्या सम्बन्ध है? इन सवालों के उत्तर से प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का स्पष्ट आभास हो जाता है।

प्रागैतिहासिक काल खण्ड को लेकर लिखी गयी "प्रलय" तथा "चित्रमन्दिर" जैसी कहानियों में प्रसाद का दृष्टिकोण ऊपर से आध्यात्मिक और आंतरिक रूप से सामाजिक रहा है। डा॰ राधाकृष्णन् ने इतिहास की ऐसी ही अध्यात्मवादी व्याख्या देते हुए कहा है - "इतिहास का अभिप्राय सब मनुष्यों को पैगम्बर बनाना है ताकि स्वतन्त्र आत्माओं का राज्य स्थापित हो सके। इतिहास की मंजिल असीमित तौर पर सफल तथा आध्यात्मिकता से भरपूर भविष्य का एक ऐसा नाटक है जिसमें धीरे-धीरे बुद्धि का आत्मा में परिवर्तन होता है और मनुष्य का पुत्र भगवान का पुत्र माना जाता है।"[1]

भारतीय दृष्टि लोकायतवादी के अतिरिक्त आत्मवादी भी है जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त चेतना का साक्षात्कार करती है। भारतीय अद्वैत सम्पूर्ण जीव व पदार्थ जगत को एक और अभिन्न मनानेवाला दर्शन है। अहिंसा, करुणा, प्रेम, त्याग आदि मूलतः इसी आत्मवादी-अद्वैतवादी चिंतन से विकसे हैं। इन्हीं अद्वैत भावनाओं के रूप उनकी " प्रलय ", " चित्रमन्दिर " कहानियों में मिलते है और यही भावनाएँ आगे चलकर " कामायनी " महाकाव्य में दार्शनिक धरातल पर विकसित होती है। सृष्टि के रहस्य और उसके उत्थान-पतन को लेकर युवती-युवक के बीच इस प्रकार का वार्तालाप चलता है --

" यदि नाश न हो, खेल ज्यों-का-त्यों बना रहे, तब तो वह बेकार हो जायगा।" ....

" तब हृदय में अमर होने की कल्पना क्यों थी ? "

" सुख-भोग-प्रलोभन के कारण। " [1]

" चित्रमंदिर " कहानी में प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित कथा को लेकर सृष्टि के आरंभ, मानवीय गुणों की शुरुआत तथा वर्गगत समाज के बीज रूप को चित्रित किया है -

" यदि समस्त प्राणियों की व्यवस्था एक-सी ही की जाती, तो तुम्हारी सृष्टि कैसी नीरस होती और फिर वह तुम्हारी क्रीड़ा कैसे चलती ? ..... " [2]

---

1. " प्रलय - " - " प्रतिध्वनि संग्रह ", प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 110.
2. " चित्रमंदिर " - आँधी संग्रह " प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 343.

"प्रलय" कहानी का विश्व-प्रसिद्ध जल-प्लावन मिथक भारतीय सन्दर्भ में वर्णित हुआ है। वेद-पुराण, बाइबिल, आदि ग्रन्थों में तथा मिस्र तथा अनेक यूरोपीय-एशियायी देशों में जल-प्लावन की एवं तत्पश्चात् सृष्टि के आरम्भ की कहानी प्रचलित है। अनेक विद्वानों का मत है कि वेद और पुराण के तथ्य इतिहास-स्वीकृत नहीं हो सकते क्योंकि वहाँ कल्पना, मिथक और प्रतीकों का साम्राज्य है और तथ्यों की पड़ताल संभव नहीं है। लेकिन प्रसाद इतिहास और पुराण के सत्यों में बहुत अन्तर नहीं मानते। वे तथ्य और सत्य को अपने प्राचीन शास्त्रों, पुराणों तथा काव्य ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से प्राप्त करना चाहते थे। उन्होंने प्रागैतिहासिक कथानक को अपने गहन अध्ययन के कारण स्वाभाविक रूप से कई कहानियों का आधार बनाया है। "प्रलय" और "चित्र मंदिर" कहानियां एक दूसरे की पूरक है। "प्रलय" में विनाश-कथा तथा सृष्टि के "आरंभ की बात कही गयी है। "चित्र मंदिर" में सृष्टि के विकास की कहानी है। इस सुदूर प्रागैतिहासिक अतीत को रचने में प्रसाद ने कल्पना का सहारा खूब लिया है। यहाँ विधाता-धाता जैसे देवताओं (चित्रमंदिर) की सृष्टि करके कथानक को आगे बढ़ाया गया है और घटनाक्रम से नारी के मन में करुणा की भावना उपस्थित कर दी गयी है। सदियों से जीवन, साहित्य और कला में यह बात चली आ रही है कि नारी दया, करुणा, क्षमा की मूर्ति है। नारी के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना वाले संस्कार के अनुकूल ही प्रसाद यहाँ नारी का गुणगान करते हैं।

छायावादी प्रवृत्तियों के अनुसार रोमाण्टिक आकर्षण, आदर्शवादी रंग, अतीत मोह, कल्पना का सुन्दर रूप, वेदनानुभूति आदि के दर्शन भी प्रसाद की कहानियों में होते हैं। वे अतीत-चित्रण में केवल कल्पना को ही नहीं, अपने साथ ब्राह्मण और बौद्ध धर्म की तात्त्विक और व्यावहारिक

विकृतियों का वास्तविक विश्लेषण लेकर भी आते हैं। यदि पहले उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण को देखें तो इसमें देशप्रेम, अतीत के प्रति गौरव, भारतीयता आदि अनेक उदात्त भावनाओं का सम्मिश्रण पायेंगे।

यह कैसा है का उत्तर यथार्थवाद में मिलता है, तो " कैसा होना चाहिए " का सुझाव आदर्शवाद देता है। श्यामनन्दन प्रसाद सिंह के अनुसार "···· आदर्शवाद को दो कदम आगे की चीज कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि वास्तविकता या यथार्थ का परिचय पा लेने पर ही आगे के कार्यक्रम पर विचार किया जाता है, यही काम आदर्शवाद का है।"[1]

प्रसाद की अतीतकालीन अन्तर्वस्तुवाली कहानियों में राजा-महाराजा और साधारण जनता अपने सही स्थान पर मिलते हैं। प्रसाद इतिहास को राजाओं का इतिहास नहीं मानते। वे सामान्य जन को सदैव अपनी चिन्ता के केन्द्र में रखते हैं। " सलीम " में सांप्रदायिकता के विरुद्ध आपसी सामाजिक, आर्थिक सद्भाव और बन्धुत्व-जैसे नैतिक मूल्यों का उद्घाटन मिलता है तो " चक्रवर्ती का स्तम्भ " में हिंसा का मुखर विरोध मिलता है। धर्मशीलता की बातों में राजाओं का आदर्श किस प्रकार कालचक्र के नीचे कुचला जा रहा है उसकी ओर संकेत मिलता है — "···· महाराज चक्रवर्ती अशोक ने इसे कब बनवाया था। इस पर शील और धर्म की आज्ञा खुदी है। चक्रवर्ती देवप्रिय ने यह नहीं विचार किया कि ये आज्ञाएँ बक-बक मानी

1· हिन्दी साहित्य : सर्वेक्षण और समीक्षा - श्यामनन्दन प्रसाद सिंह - पृ· 135·

जायेंगे । धर्मोन्मत्त लोगों ने इस स्थान को ध्वस्त कर डाला । अब विहार में दूर से कोई-कोई भिक्षुक ही कभी दिखाई पड़ता है ।"[1]

"देशप्रेम" की भावना प्रसाद की लगभग सारी कहानियों में मिलती है । "चित्तौर-उद्धार", "सिकन्दर की शपथ", "ममता", "दासी", "पुरस्कार", "नूरी", "गुण्डा" आदि कहानियों में इसी आदर्श की स्थापना की गयी है । अधिकांश कहानियों में व्यक्ति-प्रेम के स्थान पर समष्टि प्रेम को महत्व दिया गया है । "पुरस्कार" कहानी की मधूलिका अपने देश की रक्षा के लिए अरुण के प्रति प्रेम का बलिदान कर देती है । वैसे मधूलिका पुरस्कार के रूप में मृत्युदण्ड मांगकर व्यक्ति-प्रेम को भी महत्व देती है । प्रसाद सच्चे प्रेम को त्याग के आइने में देखते थे । "नूरी" और "गुण्डा" कहानियों में क्रमशः याकूब खाँ और नन्हकूसिंह देश के लिए सबकुछ त्याग कर देते हैं । याकूब खाँ अपने देश को स्वतन्त्र रखने के लिए अकबर को बन्दी बनाना चाहता है और उस रास्ते में नूरी के प्रति प्रेम को अवरोध मानकर उसको भी त्यागने के लिए तैयार होता है । नन्हकूसिंह अंग्रेजों के हाथ से पीड़ित जनता की रक्षा के लिए जमींदारी छोड़कर गुण्डा बन जाता है और अन्त में अपने राजा की रक्षा के लिए शहीद हो जाता है । "सिकन्दर की शपथ" में भारतीय सैनिक अपने देश को छोड़ने से अपने प्राण छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं - "इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने प्राण-पण से युद्ध किया और जब तक कि उनमें एक भी बचा, बराबर लड़ता गया ।

---

1. चक्रवर्ती का स्तम्भ - छाया कहानी संग्रह - प्रसाद वाङ्मय खण्ड -4 पृ. 102.

.... ग्रीकों की तलवारों ने उनके बच्चों को भी रोने न दिया, क्यों कि पिशाच सैनिकों के हाथ सभी मारे गये । " [1]

" दासी " कहानी का तिलक यश और नाम पाने के लिए तुर्कों की सहायता के लिए चला जाता है और अन्त में पश्चात्ताप करता है --- " ... मैं हिन्दू हूं, फिरोजा ! आज तक अपनी आकांक्षा में भूला हुआ, अपने आराम में मस्त, अपनी उन्नति में विस्मृत, गजनी में बैठा हुआ । हिन्दुस्तान को, अपनी जन्मभूमि को और उसके दुःख-दर्द को भूल गया हूं । सुलतान महमूद के लूटों की गिनती करना, उस रक्त-रंजित धन की तालिका बनाना, हिन्दुस्तान के ही शोषण के लिए सुलतान को नयी-नयी तरकीबें बताना, यही तो मेरा काम था. .... " [2]

" ममता " तथा " चित्तौर - उद्धार " में आत्मसम्मान की भावना मिलती है तो " जहाँनारा " में व्यक्ति प्रेम को अधिक महत्त्व दिया गया है । औरंगजेब गद्दी की प्राप्ति के लिए अपने भाई की हत्या कर देता है, पिता और उसका विरोध करनेवाली बहिन जहाँनारा को बन्दी बना लेता है । प्रसाद ने देश प्रेमियों के साथ स्वाभाविक रूप से देशद्रोहियों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है, ताकि वर्तमान की जनता उनका अन्जाम जान ले । प्रसाद देशद्रोह और देशप्रेम का मनो - विज्ञान प्रस्तुत करते वक्त वर्तमान के प्रति अत्यन्त सजग रहते हैं, इसे आसानी से महसूस किया जा सकता है ।

---

1. सिकन्दर की शपथ " " छाया कहानी संग्रह - प्रसाद वाङ्मय-ख-4, पृ-31
2. " दासी " आँधी संग्रह, प्रसाद वाङ्मय - खण्ड-4, पृ- 236.

भारतीय संस्कृति तथा अतीत के प्रति गौरव का भाव भी प्रसाद के देशप्रेम का अनिवार्य तत्व है । उन्होंने अतीत के स्वर्ण युग का सहारा लेकर पुनरुत्थान परक भावनाओं द्वारा राष्ट्रीय जागरण का शुभारंभ किया । प्रसाद हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों में से थे । उनकी रचनाओं में अतीत के गौरव का बोध एक प्रमुख स्वर बनकर उभरा है । उन्होंने आत्मगौरव का ओजस्वी उद्बोधन देकर वर्तमान में पराधीन देश के भीतर नई जागृति व चेतना का मंत्र फूंकने का प्रयत्न किया है । अतीत को प्रेरणा-सूत्र के रूप में ग्रहण कर उन्होंने इतिहास और परम्परा का उपयोग अपने युग की समस्याओं को सुलझाने हेतु किया है । इसी उद्देश्य से " सिकन्दर की शपथ " कहानी में सिकन्दर के अत्याचारों के उल्लेखों के साथ, भारतीय वीरों का गुणगान किया गया है । प्रसाद ने वर्तमान को सन्देश देने का प्रयत्न किया है कि हम असंख्य ज्ञात-अज्ञात वीरों के बलिदान से प्राप्त देश को विदेशी के हाथों में जाने से रोकें । प्रसाद यह भी कहना चाहते हैं कि देश द्रोही भय, लोभ और स्वार्थ से परिचालित होता है । उसके समकालीन और भावी देशवासी उससे घृणा करते हैं । जो सच्चे देशभक्त होते हैं । उन्हें किसी भी प्रकार का भय या लोभ नहीं होता, यहाँ तक कि यश का भी नहीं । उन्हें देश की चिन्ता होती है, अपनी नहीं । "सिकन्दर की शपथ " में अज्ञात देश प्रेमी शहीदों को मानों प्रसाद श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं --

" अज्ञात स्थान में निराश्रय होकर उन सब वीरों ने प्राण दिये । भारतीय लोग उनका नाम भी नहीं जानते ।"[1]

---

1. " सिकन्दर की शपथ " - छायाद संग्रह - प्रसाद वाङ्मय 4 -पृ॰31॰

" शरणागत " में पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृतियों का तुलनात्मक चित्रण करके भारतीय संस्कृति को दया, क्षमा, करुणा आदि गुणों के कारण ऊँचा स्थान दिया गया है। एलिस पाश्चात्य स्त्री होकर भी भारतीय गृहिणी धर्म की ओर आकर्षित होती है और उसका अनुकरण करना चाहती है।

" ममता " कहानी में भारतीय संस्कृति में जो अतिथि सत्कार की भावना है उसका सुन्दर चित्र उभरता है। ममता अपने पिता के हत्यारे होने पर भी मुगलशासक को आश्रय देती है।

" मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे तो अपने धर्म-अतिथिदेव की उपासना - का पालन करना चाहिए। .... परन्तु यह दया तो नहीं .... कर्तव्य करना है।"[1]

प्रसाद ने इतिहास के जाने अनजाने पृष्ठों में से नारी के विभिन्न उज्ज्वल रूपों को उपलब्ध किया है। नारी की सामाजिक स्थिति की ओर संवेदनशील दृष्टि डालते हुए उन्होंने नारी को पुरुष की अपेक्षा विशिष्ट अधिक महत्व दिया है। इसलिए उनकी कहानियों के समुचित अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ अक्सर नारी के प्रेम और त्याग के आगे पुरुष का व्यक्तित्व फीका पड़ गया है। ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से देखें तो नारी के विभिन्न, क्रमशः विकसित, रूप भी हमारे सामने आते हैं।

---

1. " ममता " - आकाशदीप संग्रह, प्रसाद वाङ्मय - पृ. 125.

प्रागैतिहासिक काल की नारी का चित्रण " प्रलय " कहानी में हुआ है । " चित्रमंदिर " में नारी के मन में करुणा की भावना जगाकर अबला मानस के साथ-साथ उसका कोमल स्वभाव भी व्यक्त हुआ है । इतिहास कहता है कि नारी को लेकर अतीत में अनेक लड़ाइयाँ हुई हैं । इसमें भी एक नारी के लिए दो युवक आपस में लड़ते हैं और जान गँवाते हैं । इसी नारी का एक अबला-रूप " सिकन्दर की शपथ " में है जहाँ उसकी अपनी कमजोरी के कारण उसे देशद्रोही बनना पड़ता है । पति सरदार के मरने के बाद वह स्त्री विवश होकर सिकन्दर से सन्धि कर लेती है और उसी के वश में चली जाती है । " दासी " कहानी में पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति कितनी दयनीय बन गयी है इसका अहसास होता है । नारी का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा । मध्यकालीन पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की बड़ी दयनीय दशा थी । " दासी " में इरावती अपने भाई और होनेवाले पति (बलराज) के चले जाने के बाद जब अकेली रह जाती है तो समाज में उसकी स्थिति बड़ी करुण बन जाती है । उसे कभी लूटा और कभी बेच दिया जाता है । " ..... मैं क्रीत दासी हूँ । म्लेच्छों ने मुझे मुलतान की लूट में पकड़ लिया । मैं उनकी क्रूरता में जीवित रहकर बराबर उनका विरोध ही करती रही । नित्य कोड़े लगते । .... एक दिन कन्नौज के चतुष्पथ पर घोड़ों के साथ ही बेचने के लिए उन आततायियों ने मुझे भी खड़ा किया । ..... एक महाजन ने मुझे दासी बना लिया । "[1]

---

1. " दासी " आँधी संग्रह, प्रसाद वाङ्मय - 4, पृ. 238.

सामाजिक कुरीतियों की अग्नि में नारी जिस प्रकार झुलस रही है उसका चित्रण राजपूतकालीन कहानी " चित्तौर-उद्धार " तथा मुगलकालीन कहानी " ममता " में वर्णित है । नारी चाहे धनी परिवार की हो या गरीब परिवार की, सामाजिक-धार्मिक-नैतिक अंधविश्वासों और कुरीतियों की बलिवेदी पर उसे चढ़ना पड़ता है । स्त्री की यही दशा " चित्तौर उद्धार " में राजकुमारी की है जो अपने विधवा जीवन की करुण कहानी इन शब्दों में कहती है - " मैं विधवा हूँ । सात वर्ष की अवस्था में सुना है कि मेरा ब्याह हुआ और आठवें वर्ष विधवा हुई । यह भी सुना है कि विधवा का शरीर अपवित्र होता है । "[1]

" ममता " कहानी की ममता एक मंत्री की पुत्री होने पर भी सामाजिक कुरीतियों से बच नहीं पाती -- " वह रोहतास - दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था, परन्तु वह विधवा थी - हिन्दू - विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है .... "[2]

मुगलकालीन कथानवाली " जहाँनारा " कहानी की ऐति - हासिक चरित्र जहाँनारा एक संवेदनशील नारी और कवयित्री थी । वह मुगलों के घर में स्त्रियों की दयनीय दशा की जीवित दास्तान भी थी । उस समय की नारी की स्थिति की ओर प्रसाद संकेत करते हैं । नारी चाहे जितनी भी बुद्धिमान और नीतिवान हो मगर पुरुष-प्रधान सामंती

---

1. " चित्तौर उद्धार " - छाया संग्रह, प्रसाद वाङ्मय-4, पृ. 32-33.
2. " ममता " - आकाशदीप संग्रह, प्रसाद वाङ्मय-4. पृ. 123.

समाज में उसका स्थान घर तक ही सीमित रहता है । इसलिए खुले दरबार में आयी हुई जहाँनारा को देखकर क्षोभ से औरंगजेब यही सामन्ती भावना व्यक्त करता है - " .... मालूम होता है कि बादशाह-बेगम का कुछ दिमाग बिगड़ गया है, नहीं तो इस बेशर्मी के साथ इस जगह पर न आतीं । .... "।

प्रसाद के अपने समय में, सामन्तवाद के खंडहर पर खड़े समाज से भी, नारियों के प्रति पुरुषों की मनोवृत्ति में फर्क नहीं, आया था - इसे वे गंभीरता से महसूस करते थे । जहाँनारा के रूप में पुरुष प्रभुत्व वाले सामन्तवादी कोलाहल में एक व्यक्ति-नारी की करुण चीख को रेखांकित करने में वे सफल हुए हैं ।

" आकाशदीप ", " पुरस्कार ", " नूरी " कहानियों की नारीपात्रों चम्पा, मधूलिका, नूरी के व्यक्तित्व के सामने पुरुष पात्र जैसे बुद्धगुप्त, अरुण, याकूबखाँ के व्यक्तित्व फीके पड़ जाते हैं । " सालवती " कहानी में वेश्या - प्रथा का चित्रण हुआ है । उनका समाज में कोई सम्मान नहीं रहता । प्रसाद ने इस प्रथा के आगमन से लेकर उसके अन्त की कल्पना तक का चित्रण किया है । उन्होंने वेश्याओं का विवाह करवाकर उनके सुधार की ओर संकेत किया है । स्वतन्त्रता की भावना लेकर नारी जब सब प्रकार की सामाजिक मर्यादा के बन्धनों को तोड़कर उच्छृंखल बनती है, तो वहीं से सालवती की तरह उसके स्त्रीपन का पतन आरम्भ हो जाता है । वर्तमान काल तक आकर नारी सम्मान की प्राचीन धारणा का रूप वास्तविकता में उभर आता है ।

---

1. जहाँनारा - छाया संग्रह, प्रसाद की वाङ्मय 4, पृ. 52.

नारी को भारतीय पारिवारिक तथा सामाजिक संस्कृति का मूलाधार समझा गया है। नारी के प्रति प्रसाद की ऊँची धारणा है। प्रसाद साहित्य में नारी के विविध रूप अंकित हुए हैं। "शरणागत" में सुकुमारी को पति की इच्छाओं के सामने सिर झुकानेवाली भारतीय गृहिणी के रूप में चित्रित किया गया है। प्रसाद उनके व्यक्तित्व में कमजोरी नहीं, महानता दिखाते हैं। उनके प्रति पाश्चात्य नारी एलिस पहले असहमति प्रदर्शित करती है, पर अन्त में उसकी ओर आकर्षित भी हो जाती है। यहाँ स्पष्टतः प्रसाद परम्परागत नैतिकता का पक्ष लेते हैं। सूक्ष्मता से देखने पर पता चलता है कि प्रसाद ने इतिहास के विकसित रूपों के साथ-साथ नारी के इतिहास को भी क्रमबद्ध रूप में चित्रित किया है। इस प्रक्रिया में उनका नारीगत दृष्टिकोण भी स्पष्ट होता है। उनकी दृष्टि में नारी की दुस्थिति का कारण पुरुष प्रधान समाज तथा सामन्ती नैतिकता है। नारी किसी विषय में पुरुष से कम नहीं है। करुणामयी, मृदुस्वभाववाली, त्यागमयी ऐसे अनेक नारी रूपों को कथाचरित्रों में प्रस्तुत कर प्रसाद ने मानो उसकी महानता प्रमाणित कर दी है। उन्होंने इतिहास के विभिन्न समयों में से वर्तमान को प्रेरित करनेवाले लावण्यमान नारी-चरित्र ढूँढ़ निकाले हैं, यह उनकी सही ऐतिहासिक चेतना का प्रमाण भी है।

छायावादी आंदोलन व्यष्टि मुखी ही नहीं, अन्तर्मुखी भी था। यहाँ संघर्ष बाहर से अधिक अपने भीतर होता रहता है। मनुष्य का मन अन्तर्द्वन्द्व का युद्धक्षेत्र बन जाता है। प्रसाद की कहानियों में आन्तरिक द्वन्द्व स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। डा॰रामदरश मिश्र लिखते हैं - "प्रसाद की अधिकांश कहानियों की संवेदना व्यक्ति और

परिवेश की टकराहट से नहीं पैदा हुई, इनकी टकराहट अपने ही मन की अपने ही मन से होती है, बाहरी टकराहट कहीं होती भी है तो वह एक बार मन पर आघात करके लुप्त हो जाती है और उस आघात से उत्पन्न मानसिकता ही शेष रहती है।"[1] यह मानसिक संघर्ष बाह्य संघर्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं होता। समाज व्यक्तियों से बनता है और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व उसके व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इस तरह मनुष्य की भीतरी लड़ाई उसके सामाजिक संघर्ष से जुड़ जाती है। प्रभाकर श्रोत्रिय के शब्दों में "वास्तव में प्रसाद ने सामाजिक भीतियों (टैबू) को व्यक्ति के भीतर पहचान लिया था। वे जानते थे कि समाज की बनाए व्यक्ति के मन में जमें संस्कार उसकी मुख्य बाधा है। इसलिए उन्होंने बाहरी लड़ाई को उतना महत्व नहीं दिया, जितना आदमी के भीतर बैठे समाज के विरुद्ध उसकी लड़ाई को।"[2]

इसी अन्तश्चेतना और मानसिक द्वन्द्व को लेकर लिखी गयी कहानी है "आकाशदीप"। चम्पा का मन अन्तर्द्वन्द्व,, वेदना भाव से ओतप्रोत था। वह अपने को हमेशा किंकर्तव्य विमूढ़ अवस्था में पाती है। उसके मन में बुद्धगुप्त के प्रति प्रेम और उसे अपने पिता का हत्यारा समझने के कारण घृणा दोनों भावों का द्वन्द्व होता रहता है जिससे वह कभी-भी छुटकारा नहीं पाती। वह बुद्धगुप्त की लालची महत्वाकांक्षा से भी कुंठित है। चम्पा बुद्धगुप्त से शिकायत करती है --

---

1. हिन्दी कहानी - अंतरंग पहचान - रामदरश मिश्र - पृ. 24.
2. जयशंकर प्रसाद - कहानियाँ यथार्थ संसार "प्रभाकर श्रोत्रिय, "दस्तावेज" 44 -पृ. 54.

" मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो । अब तो बालो, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक ! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चंपा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे .... "[1]

इस सम्बन्ध में शंभुनाथ का कहना है - " आकाशदीप " में चंपा बुद्धगुप्त की पूंजीवादी लिप्सा के प्रतिवाद में अपने छोटे से द्वीप में ही रह जाती है और विलगाव के अंधकार में मानवीय मूल्यों का आकाशदीप प्रज्ज्वलित करती है ।"[2] बुद्धगुप्त को पूंजीवादी संस्कृति का व्यक्ति ठहराते हुए नीरा नाहटा ने भी चम्पा की मानसिकता का विश्लेषण करते हुए उसे सराहा है - " बुद्धगुप्त की पूंजीवादी व्यावसायिक प्रसारवादी वृत्ति के विरोध में चंपा को जनसेवा से प्राप्त छोटे-छोटे सुखों से जीवन को अर्थ देने की इच्छा वही " स्माल इज ब्यूटिफुल " की ही सुन्दर अभिव्यक्ति है - "[3]

यह सच है कि प्रसाद ने सभ्यता का विश्लेषण मार्क्सवाद के आधार पर बिलकुल ही नहीं किया । सभ्यता-संस्कृति के प्रति उनकी अपनी जो दृष्टि थी वो गहन अध्ययन और ऐतिहासिक समझ से निर्मित हुई थी । प्रसाद पर मार्क्सवाद के सिद्धान्त आरोप करने वाले मतों का

1• " आकाशदीप " - आकाशदीप संग्रह, प्रसाद वाङ्मय-4, पृ• 119•

2• " प्रसाद-कथा साहित्य में यथार्थवाद ", शंभुनाथ, "मधुमती " अगस्त 89•पृ•8

3• " संस्कृति की जमीन पर नव-युग की चेतना ", " नीरा नाहटा, " मधुमती " अगस्त 89 - पृ• 57•

विरोध करते हुए नवलकिशोर ने कहा है कि " प्रसाद राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी-विरोधी लेखक निश्चय ही थे, पर वे समाजवादी विचारों से बहुत परिचित हो सके थे - इसका कोई अन्त: साक्ष्य उनके लेखन में नहीं है। ... क्या कहानीकार ने चंपा के प्रणयी को साम्राज्यवादी - पूंजीवादी दस्यु दिखाया है ? जो संकेत रचना नहीं देती, उसे लेखक पर आरोपित करने की प्रवृत्ति क्या उचित करती है ? "[1] फिर भी कहानी के संकेतों को पकड़ना और उनकी व्याख्या करना समीक्षक का काम है। क्या बुद्धगुप्त की प्रवृत्ति पूंजीवादियों के समान लोभी-लालची नहीं ? पर, साथ ही प्रसाद ने उसमें मनुष्यता की लालसा को भी चित्रित किया है। बुद्धगुप्त एक जलदस्यु था। अन्त में परिश्रम करके चम्पा द्वीप का नायक बन जाता है। वह एक व्यक्ति, एक प्रेमी भी है। वह चम्पा से प्रेम करता है और उसको पाने के लिए आजीवन तड़पता रहता है -- " महानाविक - जिसके नाम से बाली, जावा और चंपा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था - घुटनों के बल चंपा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था। "[2] प्रसाद उसके मन में भी भारतीयता के प्रति श्रद्धा, गौरवमय भावना भरने से नहीं चूकते -- " चंपा, हम लोग जन्मभूमि - भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित हैं। ... स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश। वह महिमा की प्रतिमा ? "[3]

---

1. प्रसाद के उपन्यास - सही माध्यम की खोज का सवाल ", नवलकिशोर, " मधुमती " मई 1990, पृ. 13-14.
2. " आकाशदीप " - आकाशदीप संग्रह, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 120.
3. - वही - पृ. 121.

पर चंपा है कि अपने मानसिक द्वन्द्व को शान्त कर नहीं पाती। इसी द्वन्द्व में बुद्धगुप्त से प्रेम रहने पर भी अपने पिता का हत्यारा समझकर उसे अपने जीवन से दूर कर देती है और जन सेवामें ही अपना जीवन बिताती है। इसी द्वन्द्व का एक रूप "चित्तौर-उद्धार" में भी मिलता है। राजकुमार हम्मीर अपनी जन्मभूमि को वापस पाने के लिए युद्ध करना चाहता है। पर मालदेव इस युद्ध से बचने के लिए छल करके अपनी विधवा कन्या को विवाह में दे देता है। इससे हम्मीर में द्वन्द्व भाव पैदा हो जाता है जिसका अन्त स्वयं राजकुमारी कर देती है।

व्यक्ति के मानसिक द्वन्द्व का कारण बाहरी संघर्ष होता है। "व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्षधारी प्रसाद ने अपने पात्रों को पहले-पहले स्वतंत्र व्यक्तित्व दिया। अत्यंत संवेदनशील होने के कारण बाह्य जीवन का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है उससे पात्रों के मन में संघर्ष उत्पन्न होता है।"[1] यही द्वन्द्व भाव "आकाशदीप" में मिलता है। चम्पा के अन्तर्द्वन्द्व, वेदना और बिखराव की मूलवजह निजी नहीं ऐतिहासिक है। एक ओर चंपा का सादगीपूर्ण जीवन, व्यापक मानवीय प्रेम और लोकमंगल से भरा हुआ हृदय है तो दूसरी ओर बुद्धगुप्त है जो एक जलदस्यु से प्रमुख प्रणयी बन जाता है। इस तरह प्रेमोदय की दो अलग दिशाएँ हैं - एक की दिशा त्याग है तो दूसरे की निजी स्वार्थ।

---

1. "संस्कृति की जमीन पर नवयुग की चेतना" नीरा नाहटा, "महकती" अगस्त 1989 - पृ. 59.

प्रसाद की कहानियों में छायावादी प्रवृत्तियों के अनुरूप रोमांटिक आकर्षण, आदर्शवादी भावना का रंग, अतीत-मोह, कल्पना का साकार रूप, वेदनानुभूति आदि वैशिष्ट्य उपस्थित मिलते हैं। छायावादी रचनाकारों को अक्सर कल्पना में ख्याली पुलाव पकाने वाले या आकाश-कुसुम से गुलदस्ता सजाने के रूप में देखा जाता है। यह दृष्टिकोण एकांगी है। वास्तव में साहित्य में कल्पना का बड़ा उपयोग है। अतृप्त वासनाएँ और अपूर्ण आकांक्षाएँ कल्पना का सहारा लेकर छायावाद में सुन्दर रूप में प्रकट हुई है। यह ठीक है कि उनकी रचनाएँ अति काल्पनिकता के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविकता से पूर्ण जान पड़ती हैं। लेकिन यह सच है कि कल्पना के कारण रचनाओं में रागात्मकता भी बढ़ी है। प्रसाद की रचनाओं में बौद्धिकता की प्रबलता भी कम नहीं मिलती है। हालाँकि प्रसाद जी ने कल्पना को अपने साहित्य में विशेष आदर दिया है। वे अतीत चित्रण केवल कल्पना के सहारे ही नहीं करते बल्कि वहाँ अपने साथ ब्राह्मण और बौद्ध धर्म की सात्विक और व्याव-हारिक विकृतियों का वास्तविक विश्लेषण लेकर भी जाते हैं। प्रसाद की इस कल्पना-प्रवणता पर विरोध करते हुए " स्कन्दगुप्त - समीक्षा " में प्रकाशित, लेख में रेवतीरमण ने लिखा है - " तीन हजार वर्ष पहले के चरित्रों, परिस्थितियों भावों की कल्पना करना लोहे के चने चबाना है। x x x x x x x हम प्रसाद जी से यही निवेदन करेंगे कि आपको ईश्वर ने जो शक्ति दी है, उसका उपयोग वर्तमान सामाजिक और राज-नीतिक समस्याओं को हल करने में लगाइए। स्टेज का आज यही ध्येय मानना पड़ता है। इन गड़े मुर्दों को उखाड़ने से आज कोई फायदा नहीं।"[1] लेकिन प्रसाद का उद्देश्य अतीत से सन्देश प्राप्त कर अपने

---

1. स्कन्दगुप्त की समीक्षा " - रेवतीरमण - दस्तावेज 44

वर्तमान को समझना है । इससे प्रसाद का आदर्शोन्मुख यथार्थवादी का रूप भी स्पष्ट उभरता है । प्रसाद ने स्वर्णिम अतीत के आदर्श को लेकर वर्तमान से उसका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है ।

प्रसाद ने " तानसेन " कहानी में रामप्रसाद का तानसेन में रूपान्तरित होने का चित्र उपस्थित किया है । संभव है, ऐतिहासिक तथ्य इससे भिन्न हो । प्रसाद तथाकथित हिन्दूवादी नहीं थे । उन्होंने सांस्कृतिक दृष्टि से मुगलकाल को ऊँचा दिखाया है । इसी तरह अनेक कहानियों में उन्होंने ऐतिहासिक परिवेश की पकड़ में से मुक्त होकर एक कल्पना निर्मित चित्र का अपने अन्तर्जगत में सृजन किया है । " आकाशदीप " जैसी कहानी में मानवीय भावनाओं को काल और स्थान के वास्तविक बन्धनों से मुक्त कर देखने का प्रयास है । " आकाशदीप " कहानी पहले तो एक कल्पना निर्मित कथा है ।

" स्वर्ग के खंडहर में " कहानी के आरम्भ में एक स्वर्ग की कल्पना की गई है जिसके लोभ में पड़कर अनेक लोग अपने देश की बात भूल जाते हैं । उनको कल्पनागत संसार से ऊपर लाकर वास्तविकता से पहचान करवाने के लिए कहानी के पात्र लगातार प्रयत्न करते हैं । उसकी बातों से वर्तमान की दुर्दशा का भी आभास होता है । अंग्रेजी शासन के लोभ और भय में पड़कर लोग अपने देश की बात भूल रहे हैं । अतः प्रसाद की तरफ उनको चेतावनी-जैसी देने का प्रयत्न इसमें प्रकट होता है - " स्वर्ग ! इस पृथ्वी को स्वर्ग की आवश्यकता क्या है, शेख ? ना, ना, इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा ।

पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायगा । इसकी स्वाभाविकता साधारण स्थिति में ही रह सकती है । पृथ्वी को केवल वसुंधरा होकर मानव-जाति के लिए जीने दो, अपनी आकांक्षा के कल्पित स्वर्ग के लिए, क्षुद्र स्वार्थ के लिए इस महती को, इस धरणी को नरक न बनाओ, जिसमें देवता बनने के प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जाय, ... "।

साहित्य में कल्पना यथार्थ के चित्रण के लिए एक जरूरी शर्त भी होती है । इस तरह कल्पना यथार्थवादी अंकन की पूरक बनती है । कल्पना और भावुकता यथार्थ-विरोधी नहीं । इनका वास्तविक अस्तित्व है । अतः इनके उचित मेल से यथार्थ चित्रण विश्वसनीय बनता है ।

स्वच्छन्दतावाद तथा यथार्थवाद दोनों का रूप प्रसाद के साहित्य में मिलता है । यथार्थवाद उनकी समकालीन जीवन-दृष्टि, चिन्तन और वर्तमान से लगाव के कारण व्यंग्यात्मक रूप लेकर प्रकट हुआ है । उनका यथार्थवाद लघु मानवों की ओर अवश्य दृष्टिपात करता है, परन्तु उनका आदर्शवाद उन्हें जीवन की लघुता से ऊपर उठकर भावना जगत की महानता में अभिन्न बनाकर बार-बार देखता है । सच तो यह है कि मानवतावादी-आदर्शवादी तथा यथार्थवादी भावना तीनों का मिश्रण उनकी कहानियों में मिलता है ।

---

1. स्वर्ग के खंडहर में " - आकाशदीप संग्रह - प्रसाद वाङ्मय 4 पृ. 135.

डा॰बच्चनसिंह के विचार में, " प्रसाद जहाँ यथार्थवादी समस्याओं से टकराते हैं वहाँ असफल हुए हैं ।"[1] बच्चनसिंह के अनुसार प्रसाद ने केवल समाज की वास्तविक स्थिति से जान पहचान तो कर ली है, पर इसकी गहराई तक नहीं गये । इसलिए उनका यथार्थवाद यथार्थोन्मुख आदर्शवाद कहा जायगा । लेकिन यह सच नहीं है । विराम-चिह्न, मधुआ, गुंडा आदि उनकी सफल यथार्थवादी कहानियाँ हैं । अपनी समस्त भावुकता और कल्पनाशीलता के बावजूद प्रसाद यथार्थ की जमीन पर खड़े थे । वे वर्तमान की यथार्थ पीड़ा को समझने के लिए अतीत में गये थे और वहाँ से बार-बार वर्तमान-सामाजिक सन्दर्भों में ही लौटे थे । चंद्रकांत बांदिवडेकर का कहना है कि -- " समस्त आधुनिक भारतीय लेखकों की यह नियति थी कि वे मूलतः सांस्कारिक स्तर पर स्वच्छन्दतावाद से जुड़े हुए थे परन्तु परिवेशीय मार से यथार्थोन्मुख होने को बाध्य थे -- " न प्रेमचन्द इसके अपवाद थे, न प्रसाद ।"[2]

यथार्थवादी नजरिए से प्रसाद जी ने धर्म का बहुआयामी आडम्बर देखा है और अभिजात वर्ग पर आर्थिक मठाधीशों पर, कुलीनता के दंभ पर, बाह्याडम्बरों पर, व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करने वाली और उसके विकास को अवरुद्ध करने वाली प्रवृत्तियों पर, नारी के बहु-विध शोषण की सामाजिक और धार्मिक रीतियों पर उन्होंने

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, बचनसिंह - पृ॰ 26॰
2. जयशंकर प्रसाद और कथा - साहित्य में स्वच्छंदतावादी यथार्थवाद ", चंद्रकांत बांदिवडेकर, " दस्तावेज 44 ", पृ॰ 44॰

करारे आधार लिए हैं। भिन्न धर्मवाले समाज को "एकधर्म" बनाने की इच्छा उनकी कहानियों में स्पष्ट होती है। उनकी कहानियों में आर्यधर्म, हिन्दूधर्म, जैन, ब्राह्मण धर्म, इस्लाम धर्म आदि के विकास-संघर्ष का संकेत मिलता है। उनकी कहानियों में धर्म-मैत्री और मानवऐक्य का संदेश है - ब्राह्मण बौद्ध, आर्य-अनार्य, हिन्दू-यवन को एक ही रागात्मक भावना से बाँधा गया है। यहाँ पर उनकी विश्व मानवतावादी दृष्टि का स्पष्ट रूप मिलता है। वे मानवतावादी धर्म के पक्षधर थे। "आर्य-धर्म" को व्यापक धर्म मानते हुए उन्होंने "सालवती" के माध्यम से कहा है -- "आर्यों का यह दल, जो माधव के साथ ज्ञान की अग्नि मुँह में रखकर सदानीरा के इस पार पहले-पहल आया, विचारों की स्वतंत्रता का समर्थक था। कर्मकाण्डियों की महत्ता और उनकी पाखण्डप्रियता का विरोधी यह दल, सब प्रकार की मानसिक या नैतिक पराधीनता का कट्टर शत्रु था।"[1]

मानव मूलतः यानी जन्मतः मानव है। तदनन्तर ही चाहे हिन्दू हो, मुसलमान हो या अन्य। इसी सत्य की स्थापना करके एकता की भावना जगाना प्रसाद का उद्देश्य रहा है। धार्मिक एकता नष्ट होने से जिस प्रकार देश की स्थितियाँ बदली हैं, कहानियों में उनका भी चित्रण किया गया है। धर्म, समाज के हित के लिए होता है, उसकी हानि के लिए नहीं। "अशोक" कहानी में जैन-बौद्ध धर्मों के संघर्ष का चित्रण करते यही स्पष्ट किया गया है कि धर्म की स्थापना [illegible] मानवीय गुणों की रक्षा के लिए होनी चाहिए। हर एक व्यक्ति अगर अपने धर्म

---

1. "सालवती" इन्द्रजाल संग्रह, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 369.

की उन्नति के लिए दूसरों के धर्म के विनाश की बात सोचता है तो उसका स्वयं का विनाश भी हो जाता है। अशोक के आज्ञानुसार प्रारम्भ हुए धर्मविरोधी संघर्ष में स्वयं उसके भाई वीतशोक की हत्या हो जाती है। प्रसाद ने उस समय के विनाश का चित्रण इस प्रकार किया है - "पौण्ड्रवर्धन नगर में हाहाकार मचा हुआ है। नगर - निवासी प्राय: उद्विग्न हो रहे हैं। पर विशेषकर जैन लोगों ही में खलबली मची हुई है। ... जिधर देखती है, उधर ही सशस्त्र उन्मत्त काल बौद्ध लोग उन्मत्तों की तरह दिखाई पड़ते हैं। ..."[1]

पर आखिरकार अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म, अहिंसा और शान्ति की स्थापना हो चुकी थी। आगे चलकर अंध इस्लाम धर्मी लोगों द्वारा अन्य धर्मों की अवहेलना तथा अपमान का जिक्र किया गया है। इस स्थिति का ही एक रूप "चक्रवर्ती का स्तम्भ" में मिलता है - "... महाराज चक्रवर्ती अशोक ने इसे तब बनाया था। इस पर शील और धर्म की आज्ञा खुदी है। चक्रवर्ती देवप्रिय ने यह नहीं विचार किया कि ये आज्ञाएँ बलपूर्वक मानी जायेंगी। धर्मोन्मत्त लोगों ने इस स्थान को ध्वस्त कर डाला। अब विहार में डर से कोई-कोई भिक्षुक भी कभी दिखाई पड़ता है।"[2] "देवरथ" में भी बौद्ध धर्म के ह्रास होने की कथा वर्णित है। सुजाता बौद्ध धर्मावलम्बिनी होकर भी स्वयं बौद्ध स्थविर और उनके धर्म के नाम पर किये गये अत्याचारों का विरोध करती है — "स्थविर! तुम्हारा धर्मशासन घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि करता है - कुचक्र में जीवन को फँसाता है। पवित्र

---

1. "अशोक" "छाया संग्रह", प्रसाद वाङ्‌मय 4, पृ. 40.
2. "चक्रवर्ती का स्तम्भ", छाया संग्रह, प्रसाद वाङ्‌मय 4, पृ. 102.

गार्हस्थ बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो । ..... मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता ।"[1]

धर्म के परिवर्तन में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का चित्रण "सलीम" कहानी में हुआ है । इसमें भारतीय संस्कृति का भी परिचय मिलता है । प्रेमकुमारी पर अत्याचार करने वाले सलीम को मुसलमान होने के बावजूद अमीर सह नहीं पाता बल्कि उसका हाथ कलम कर देता है । यहाँ पर धर्म के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम संघर्षों के खोखलेपन को दिखाया गया है । लोग व्यक्तिगत दुश्मनी निकालने के लिए धर्म की आड़ और मदद लेते हैं । कोई भी धर्म मनुष्यों को नफरत नहीं सिखाता । हर धर्म में अन्तर्निहित मानवीय गुणों के आधार पर प्रसाद विश्व-प्रेम की स्थापना के लिए उद्यत होते हैं -- "मनुष्यता का एक पक्ष वह भी है, जहाँ वर्ण, धर्म और देश को भूलकर मनुष्य मनुष्य के लिए प्यार करता है । उसके भीतर की कोमल भावना, शायरों की प्रेम-कल्पना, चुटकी लेने लगी । ... "[2]

मुगलकालीन चित्र उतारनेवाली "ममता" कहानी में ब्राह्मण धर्म के उत्थान पतन की ओर, संकेत मिलता है । हिन्दू धर्म में त्याग, तप, दया, क्षमा आदि भावों का श्रद्धा चिंता की बात थी । ममता अपने पिता चूड़ामणि से कहती है ---

---

1. "देवरथ" इन्द्रजाल संग्रह - प्रसाद वाङ्मय 4 पृ. 363.
2. "सलीम", इन्द्रजाल संग्रह - प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 302.

" हे भगवान् ! -- क्या कोई हिन्दू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके .... " ।

इतिहास की ओर पलटकर देखें तो पता चलता है कि धर्म के उत्थान-पतन में अनेक राजवंशों का भी ऊँचा-नीचा कर्म कारण-स्वरूप रहा है । अनेक विद्वानों का मत है कि प्रसाद हिन्दू धर्म पर पूर्ण आस्था करने वाले हैं । पर उनकी कहानियों की सांस्कृतिक चेतना से स्पष्ट होता है कि युगीन परिस्थितियों के अनुसार धर्म में जो परिवर्तन हुए हैं, सब की ओर उन्होंने ध्यान दिया है । " मदनमृणालिनी " में प्रसाद पार करने से धर्मच्युत होने जैसे मूढ़ आचारों पर व्यंग्य किया है ।

प्रसाद ऐतिहासिक कहानियों में अतीत-जीवी नहीं हैं । उन्होंने वर्तमान की दुर्दशा को भी अतीत में देखा-दर्शाया है और उसका विरोध कर वर्तमान को भी सुधारने की माँग रखी है । " गुलाम " कहानी में मुगलकालीन गुलामी प्रथा का चित्रण हुआ । शाहआलम का गुलाम कादिर अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के उबर रुहेलों को साथ लेकर उसके वंश का नाश कर देता है । इसमें प्रसाद के वर्तमान समय की, अंग्रेजों के शासन काल की गुलामी देखी जा सकती है । धार्मिक विडम्बना के कारण भी यहाँ देश के नाश होने का संकेत मिलता है । शाहआलम से हिन्दूवीर सिंधिया को प्राप्त होने वाले गौरव से जलकर बादशाह का प्रधान कर्मचारी मंसूर देश की बात छोड़कर रुहेलों के साथ कादिर की सहायता करता है और शाहआलम का नाश करवाता है । इसमें अंग्रेजों

---

1. " ममता " आकाशदीप संग्रह, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 124.

को मदद देने वालों की ओर दिया गया व्यंग्यात्मक संकेत देखा जा सकता है। प्रसाद यही कहना चाहते हैं कि ऐसी घटनाएँ किसी एक काल तक सीमित नहीं रहतीं बल्कि हर एक युग में उनको देखा जा सकता है।

वर्तमान सामाजिक दुर्दशा के प्रति मानवीय वेदना की भावना "पत्थर की पुकार" कहानी में मिलती है -- "इससे विशेष और हम भारतीयों के पास धरा क्या है। स्तुत्य अतीत की घोषणा और वर्तमान की करुणा, इसी का गान हमें आता है। बस, यह भी एक भाँग-गाँजे की तरह नशा है।"[1] जो प्रसाद को केवल अतीत का अंध पूजक और अंध गौरवगायक समझते हैं, उपरोक्त पंक्तियाँ उनकी आँखें अच्छी तरह खोल देंगी। ये पंक्तियाँ प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का सही परिचय देती हैं।

"दासी" कहानी में तुर्कों के शासनकाल की सामाजिक स्थिति वर्णित है। लेकिन यहाँ भी प्रसाद को अपने वर्तमान की चिन्ता का आभास मिल जाता है --

"हमारी धार्मिक भावनाएँ बँटी हुई हैं, सामाजिक जीवन दम्भ से और राजनीतिक क्षेत्र कलह और स्वार्थ से जकड़ा हुआ है। शक्तियाँ हैं, पर उनका कोई केन्द्र नहीं।"[2] लगता है, प्रसाद अपने समय के सामाजिक राजनीतिक परिवेश पर ही टिप्पणी कर रहे हों।

---

1. "पत्थर की पुकार", आँधी संग्रह -- प्रसाद वाङ्मय, पृ. 92.
2. "दासी" - आँधी संग्रह, पृ. 234.

" अमिट स्मृति " में अंग्रेजों के पहले के भारत की सामाजिक स्थिति की ओर संकेत मिलता है -- " ... तब बम्बई की दूकान न थी और न तो आज जैसी रेलगाड़ियों का " जाल " भारत में बिछा था ... "।

" जाल " कहकर प्रसाद ने अंग्रेजों के द्वारा मुहैया की गयी तथाकथित सुविधाओं पर व्यंग्य कर के पतनोन्मुख परिवर्तन की ओर इंगित किया है। " ग्राम ", शरणागत, गुण्डा आदि कहानियों में अंग्रेजों के शासन काल के समाज का चित्रण हुआ है। ग्राम में महाजनों के कर्ज न चुका पाने का दुष्परिणाम, पूँजीवादी प्रथा का बीज रूप तथा शरणागत में सिपाही-विद्रोह के समय के अस्तव्यस्त भारतीय समाज का और गुण्डा में अंग्रेजों के अधीन राजा, जमींदारों के और उनसे त्रस्त भारतीय जनता के शोषण आदि का चित्रण हुआ है।

प्रसाद की ऐसी अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ हैं जिनमें केवल राजा, जमींदारों का उल्लेख, कोसल, वैशाली, मगध जैसे ऐतिहासिक नाम वाले देशों का उल्लेख किया गया है। इतिहास सम्बन्धी तथ्यों और घटनाओं का याथातथ्य चित्रण नहीं होने पर भी यहाँ कल्पना के सहारे इतिहास का आभास दिया गया है। इसमें वर्तमान के मन को मथनेवाली समस्याएँ उठायी गयी हैं। प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व, जाति प्रथा, धार्मिक रूढ़ियाँ और आडम्बर आदि समस्याएँ यहाँ लायी गयी हैं। रसियाबालम में परम्परागत प्रेम की ओर और मदनमृणालिनी में मूढ़ आधारों की ओर संकेत मिलता है। इसमें अन्तर्जातीय विवाह की

---

1. अमिटस्मृति - आँधी - पृ. 267.

और भी संकेत किया गया है । समुद्रसंतरण, अपराधी, बिसाती आदि में राजाओं के साथ साधारण जनता को भी इतिहास में अभिन्न स्थान दिया गया है । रमला में सभ्य समाज से दूर व्यक्ति के जीवन का चित्रण हुआ है । मधुआ, ग्राम-गीत, आदि में जमींदारों के द्वारा साधारण जनता के शोषण की तस्वीर खींची गयी है ।

इस प्रकार प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियों के विवेचना मूलक अध्ययन से उनपर स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद तीनों का प्रभाव परिलक्षित होता है । प्रसाद पुरातन पंथी बिल्कुल नहीं हैं। वे भाग्यवादी भी नहीं हैं । देश प्रेम, राष्ट्रीयता, अतीत के प्रति गौरव, नारी के प्रति आदर्शवादी दृष्टि, मानवतावादी धार्मिक-सांस्कृतिक चेतना आदि तत्त्व उनकी कहानियों में बहुत कुछ यथार्थवादी रूप में उपस्थित हैं ।

प्रसाद के निबन्ध साहित्य में ऐतिहासिक चेतना --

भारतीय साहित्य की आधारभूत मान्यताओं को लगभग पुन: स्थापित करते हुए भी प्रसाद ने कुछ मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किए हैं । राजमणि शर्मा का कहना है कि " प्रसाद ने प्रत्येक घटना को हर दृष्टिकोण से इतिहास की कसौटी पर परखा है । अपने कथन की पुष्टि के लिए वे वैदिक ग्रन्थों, पुराणों एवं पूर्ववर्ती ऐतिहासिक कृतियों का साक्ष्य उपस्थित करते हैं । "[1] प्रसाद की इतिहास-सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करते हुए शर्मा जी का, आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इन्द्र निबन्ध के सन्दर्भ में कहना है - " अनुश्रुतियों में प्रचलित वैदिक साहित्य के साक्ष्य के आधार पर

---

1. प्रसाद का गद्य साहित्य - राजमणि शर्मा - पृ. 219.

तात्त्विक विवेचन कर इन्द्र के स्वरूप का प्रामाणिक निर्धारण हुआ है। वस्तुत: इसने एक इतिहास का स्वरूप ग्रहण कर लिया है।"[1] प्रसाद का यह निबन्ध आगे चलकर उनके नाटकों के प्राक्कथन रूप में आनेवाली ऐति - हासिक तथ्यों से सम्बन्धित अनेक मौलिक उद्भावनाओं की पृष्ठभूमि-सा है।

प्रसाद की सारी निबंध कला को एक क्रम रूप में रखकर देखें तो लगभग प्रागैतिहासिक युग से लेकर वर्तमान तक की ऐतिहासिक क्रमिकता का आभास मिलता है। यह इतिहास सम्मत है कि आर्यों का पहले आगमन हुआ था और उसके बाद वेदों, पुराणों, महाकाव्यों आदि का प्रणयन हुआ। प्रसाद साहित्य में एक प्रकार से देखें तो मोटे तौर पर भारतीय संस्कृति का इतिहास ही हमें मिल जाता है। प्रसाद ने अपने " आदि पुरुष " और " आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध " लेखों के द्वारा आदि पुरुष मनु और आर्यों के इतिहास का एक प्रामाणिक रूप उपस्थित करना चाहा है।

जलप्लावन इतिहास की एक ऐसी घटना है जिसने मनु को देवों से भिन्न, एक विलक्षण, मानव संस्कृति के निर्माण का अवसर प्रदान किया। जलप्लावन की कथा का संबंध भारतीय संस्कृति के आदिकाल से और इसलिए मनु से भारतीय संस्कृति का आरंभ माना जा सकता है। प्रसाद ने अपने निबंध में मनु को आदिपुरुष और इतिहास का आरंभक मानते हुए कहा है — " मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं। .... भागवत में इन्हीं वैवस्वत

---

1. प्रसाद का गद्य साहित्य - राजमणि शर्मा - पृ. 219.

मन और श्रद्धा से मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ माना गया है ।"[1] इसी का समर्थन करते हुए, सुधाकर पाण्डेय कहते हैं -- " मानव इतिहास, पुराण एवं गाथाओं में उपलब्ध सामग्री के गंभीर अध्ययन, संभावनाओं, मनन एवं चिन्तन द्वारा प्रसाद जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनु आधुनिक मानवीय सभ्यता के आदिपुरुष हैं । इस सत्य की सहज उपलब्धि का मूल जल-प्लावन की घटना, इस मान्यता के मूलाधार के रूप में है ।"[2]

प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन पुरातत्व सामग्रियों, पुराकथाओं, महाकाव्यों आदि के अत्यन्त सावधान मनन-चिन्तन से ही संभव है । प्रसाद ने संस्कृत के ग्रंथों का इतिहासकार की दृष्टि से गहन अध्ययन किया था । उन्होंने इस तरह भारतीय मानस का आविष्कार किया । मनु की कथा आर्यों की अनुभूति में दृढ़ता से इस तरह से रच-बस गयी है कि वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है । " कामायनी के पात्र " पुस्तक की लेखिका के अनुसार - " पुराणों में चौदह मनु उल्लिखित हैं, प्रत्येक मन्वन्तर के लिए अलग-अलग मनु निर्दिष्ट है, ऐसा वर्णन भी पुराणों में हुआ है । आधुनिक और सप्तम मन्वन्तर के प्रवर्तक वैवस्वत मनु हैं । इन्हीं को भारतीय इतिहास के आदि पुरुष के नाम से जाना जाता है ।"[3] महाभारत में मनु के इक्ष्वाकु आदि दस पुत्रों से मानववंश विकसित होने की बात कही गयी है । इस कारण मानवों से संबंध रखनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रियादि सब को मनु के वंश से जोड़कर देखा गया है । कामायनीकार

---

1. आदिपुरुष - काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय-4, पृ. 579.
2. प्रसाद की कविताएँ - सुधाकर पाण्डेय, पृ. 247.
3. कामायनी के पात्र, सरोज मेहता - पृ. 42.

ने मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही नहीं, भारतीय इतिहास के आदिपुरुष के नाम से पुकारा है । अथर्ववेद में भी मनु को ऐतिहासिक पुरुष माना गया है ।[1] इसके अनुसार पृथ्वी रूपी गाय से अन्न धान्य आदि का दोहन कर्म करनेवाला मनु है । जिससे मनु के पृथ्वी के प्रथम कृषक व मानव-जाति के रक्षक होने का पता चलता है । मनु को मनुष्य के स्वभाव का ज्ञाता, मानव वंश व पृथ्वी का विस्तारक और शासक भी कहा गया है ।

भारत में आर्यों के सूर्यवंशी और चंद्रवंशी नामक दो वर्गों में विभाजन के विचार का विरोध करते हुए प्रसाद का मानना है कि यह सुसंगत नहीं है कि भरत सूर्य-वंशी राजा थे, या उनके वंशज सुदास से नवागत चंद्रवंशी आर्यों का युद्ध हुआ था । उनका कहना है --

" ... भरत को सूर्यवंशी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पुराणों के अनुसार सूर्यवंश के आदिपुरुष वैवस्वत मनु थे । स्वायंभुव मनु के वंशज का सूर्य-वंशी बनना असंभव है ।"[2]

आदि पुरुष मनु के चित्रण के बाद प्रसाद ने भारत में आर्य्य संस्कृति को ही प्रथम संस्कृति ठहराते हुए उसकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है । प्रसाद को अपनी सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता पर गर्व था । उन्होंने अपने निबन्ध में ईसा से 4000 वर्ष पहले सृष्टि का प्रारम्भ तथा 2000 वर्ष पहले जलप्रलय होने की ओर संकेत किया है । आर्य्य संस्कृति को बहुत पुरातन प्रमाणित करते हुए उन्होंने लिखा है --

---

1· तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ।। - अथर्ववेद, अष्टमम्, काण्डम्, 10 वाँ सूक्तम, 10 वां श्लोक, अनु, भारतेन्द्रनाथ, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली - 5·

2· आर्य्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र-दाशराज्ञ युद्ध " - काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ· 559·

"हर्ष का विषय है कि पुरातत्त्व और भाषा शास्त्र के नये-नये अन्वेषणों और आविष्कारों ने मानव जाति के प्राग्-ऐतिहासिक काल को और उसके साथ ही आर्य संस्कृति को भी अधिक पुरातन सिद्ध कर दिया है ।"[1]

आर्य संस्कृति को वेदों से भी पुराना सिद्ध करते हुए उन्होंने लिखा है - "तिलक ने ज्योतिष के आधार पर अपने अन्वेषणों से यह प्रमाणित किया है कि बहुत से वेदमंत्र छः हजार वर्ष ईसा पूर्व से पीछे के नहीं हैं । मेगास्थनीज के भारतीय इतिहास के विवरण से अविरुद्ध होने के कारण भी हमारी सभ्यता उक्त काल से और पहले की मानी जा सकती है ।"[2]

अनेक विद्वानों का मत है कि भारत में आर्यों का आगमन सिन्धु-सभ्यता के समय हुआ था । मध्य एशिया को आर्यों का उद्गम स्थान माना गया है जिससे एक शाखा भारत की ओर और एक शाखा यूरोप की ओर गयी । तदनन्तर भारत में यह शाखा सूर्यवंश और चंद्रवंश में विभक्त हो गयी । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए सी॰वी॰ वैद्य महोदय का कहना है कि "जो आर्य पंजाब में आकर पहले बसे थे, सूर्यवंश के थे । भरत सूर्यवंशी हैं और प्रथम आनेवाले वे ही हैं। ... पहले के आये हुए सूर्यवंशी और पीछे के आये हुए चंद्रवंशी आर्यों का भूमि-लिप्सा के लिए पारस्परिक युद्ध हुआ, जिसमें सूर्य-वंशी भरतों की ही

---

1. आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र-दाशराज्ञ युद्ध " - काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ॰ 530.
2. - वही - पृ॰ 533.

विजय रही ।"[1] इसका विरोध प्रसाद ने पहले ही किया है और कहा है कि भरत-सूर्य-वंशी राजा नहीं थे । वे पुराणों से भरत को स्वायंभुव मनु के पौत्र होने का प्रमाण देते हैं ।

अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य्य लोग भारत के मूल निवासी नहीं थे तथा वे बाहर से इस देश में आये । इस मत के मुख्य प्रवर्त्तक तथा समर्थक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान सर विलियम जेम्स तथा जर्मन विद्वान डाक्टर मैक्समूलर माने जाते हैं । इन्होंने भारतीय और यूरोपियन भाषनाओं के शब्दों की परस्पर समानता का अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अतीत में इन सभी क्षेत्रों में एक ही प्रजाति के लोग रहते थे । उनके मतों का निष्कर्ष यह है कि उत्तरी भारत से लेकर यूरोप के पश्चिम में आयरलैण्ड तक बोली जानेवाली प्राय: सभी प्रमुख भाषाओं के शब्दों में संस्कृत के शब्दों से संस्कृत के शब्दों से समानता पाई जाती है तथा भारत एवं ईरान की प्राचीन भाषाओं में ऋग्वेद तथा अवेस्ता की भाषाओं में तो बहुत अधिक समानता दिखाई देती हैं ।"[2] प्रोफेसर मैक्समूलर के शब्दों में किसी प्रागैतिहासिक काल में एक ऐसा समय था जबकि भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, स्लैवों, केल्टों और जर्मनों के पूर्वज एक ही छत के नीचे रहते थे ।"[3]

---

1. आर्य्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय-4, पृ. 556-557.
2. भारतीय संस्कृति का विश्वव्यापी प्रभाव - गौरीशंकर पंड्या-पृ. 32.
3. - वही -

क्योंकि प्रसाद यह नहीं मानते कि आर्य भारत में किसी और स्थान से आये थे। उनका कहना था कि आर्य सदा से भारतवासी ही थे। प्रसाद कतिपय विद्वानों की स्थापित आर्य-द्रविड़ युद्ध की कल्पना का भी स्पष्ट विरोध करते हैं। प्रसाद ने अपने निबंध में लिखा है - 'वर्तमान भारत के मानचित्र को सामने रख कर ऋग्वेद काल की ऐतिहासिक आलोचना असंभव है। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं को समझने के लिए ऊपर कहे हुए त्रिकोणक प्रदेश के आर्यावर्त्त (जो हिमालय और विंध्य के मध्य में था) को आँखों के सामने रखना होगा। तब यह कहना व्यर्थ है कि, आर्य लोग कहीं दूसरे स्थान से आये थे। क्योंकि कैसर की घाटी तक भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिम की सीमा नहीं थी। ऐसा समझ लेने पर दाशराज्ञ युद्ध को विदेशी आर्यों और भारतीय द्रविड़ों का युद्ध न कहकर आर्यावर्त्त के आर्यों का ही गृह-युद्ध कहना संगत होगा।'[1]

प्रसाद जी ने द्रविड़ों को एक भिन्न जाति के रूप में नहीं माना है। वे मानते हैं कि प्राचीनकाल में इन्द्र के समर्थन करनेवालों को आर्य और उसके विरोधियों को अनार्य कहा गया है। उनका यही कहना है "···· किन्तु अत्यंत प्राचीनकाल में आर्य-द्रविड़ सभ्यता का संघर्ष असंभव था, क्योंकि द्रविड़ (कृष्ण) जाति की जन्मभूमि दक्षिणी महाद्वीप, राजपूताना समुद्र के द्वारा, प्राचीन आर्यावर्त्त से अलग था और वह महाद्वीप वर्तमान अरब, दक्षिणी भारत और आफ्रिका

---

1. "आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध" काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 557-558.

को एक में मिलाए था । .... मूलतः आर्य्य संस्कृति एक थी, जिसे न माननेवाले उसी प्राचीन जाति के लोग भी अनार्य्य कहलाते थे। ऋग्वेद के आर्य्यावर्त्त में वैदिक सभ्यता वाले आर्य्यों को इन्हीं उपर्युक्त धर्म-विहीनों से युद्ध करना पड़ता था, जो प्रायः दस्यु जीवन की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे।"[1]

इस प्रकार प्रसाद ने आर्य्यों के संबंध में पश्चिमी विचारकों द्वारा फैलायी गयी कई भ्रांतियों के विरोध का साहस किया। उन्होंने पुराण आदि प्राचीनग्रंथों से प्रमाण उपस्थित कर आर्य्यों के अग्रजन्मा देव और उनके अधिपति इन्द्र आदि का भी चित्रण किया है। अतः उनके इस निबन्ध में पूरा इतिहास मिलता है।

प्रसाद के मतानुसार आर्य्यों के अग्रजन्मा देव थे और उनका देश था मेरु। विश्व में सर्व प्रथम अति प्राचीन वैदिक अथवा प्राक्-ऐतिहासिक काल में आर्य्यावर्त्त के आर्य्यों में आकाशी देवताओं की उपासना प्रचलित थी। पूजा में पहले वरुण को प्रधानता दी गयी। लेकिन धीरे-धीरे उनका स्थान इन्द्र ने ग्रहण कर लिया जो आत्मवाद के समर्थक थे। तब देवगण में दो वर्ग हुए - एक प्राचीन वरुण के अनुयायी असुर और दूसरे इन्द्र के नेतृत्व में देवगण। त्वष्टा के नेतृत्व में भी असुर लोग रहने लगे थे। सोम को लेकर इन्द्र और त्वष्टा के बीच संघर्ष चला जो देवासुर संग्राम के रूप में परिणत हो गया। इतना ही नहीं,

---

1. आर्य्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध", काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 543.

भारत में आये हुए आर्यों के अनेक कबीलों में एक कबीले का राजा सुदास का अन्य दस राजाओं से युद्ध हुआ था जो दाशराज्ञ युद्ध कहलाया । इसमें इन्द्र ने सुदास की सहायता की । इसका कारण बताया गया है कि देवासुर संग्राम (त्वष्टा से होने वाले युद्ध) में सुदास के पिता देवदास वृत्र के अनुयायी शंबर से लड़े थे । साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि यदु, तुर्वसु, पुरु तथा भरतों के प्रमुख आर्य-वंश इंद्र के पक्ष अथवा विपक्ष में, वृत्र-युद्ध के समय लड़ चुके थे । इसी देवासुर-संग्राम के फलस्वरूप आर्यावर्त्त में आंतरिक कलह भीषण हो चला । इससे आर्यों में कुल-शासन-प्रथा प्रचलित हुई जिसमें कुल मुख्य था, और पुरोहितों की प्रधानता हो गयी थी । इससे इन्द्र के समर्थक विश्वामित्र को पुरोहित पद प्राप्त हुआ था । वशिष्ट का वरुणोपासक होने के कारण विरोध किया जाने लगा । वसिष्ठ और विश्वामित्र के बीच का संघर्ष अनेक पुराणों में वर्णित हुआ है ।

अब प्रश्न वेद, पुराण, महाकाव्य की ऐतिहासिकता को लेकर उठता है । वेदों की प्रामाणिकता को लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं - " कुछ आस्तिक लोगों का विश्वास है कि वेद अनादि या अपौरुषेय हैं, किसी ने उनकी रचना नहीं की । भारत के नैयायिकों ने कहा कि वेदों को ईश्वर ने बनाया । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि विराट् पुरुष से वेदों की उत्पत्ति हुई । ... लेकिन सब विद्वान यह मानते हैं कि वेद मानव जाति का सर्वप्रथम साहित्य है । यह कम से कम आज से चार हजार वर्ष प्राचीन है ।"[1] पहले ऋग्वैदिक सभ्यता पर अनेक विवाद थे, किन्तु सिन्धु-घाटी की सभ्यता के प्रकाश में आने पर

---

1. भारतीय जीवन और संस्कृति, शंभुनाथ पाण्डेय - पृ. 37.

यह स्पष्ट हो गया है कि आर्यों से ही वेदों का सृजन हुआ है कि उसमें आर्यों की संस्कृति का ही प्रतिफलन हुआ है। दाशराज्ञ युद्ध का भी उल्लेख ऋग्वेद के अनेक संदर्भों में हुआ है। प्रसाद ने लिखा है - " इसमें स्कन्दकारों का एक और भी उद्देश्य था, वह था वेदों का अपौरुषेयत्व प्रमाणित करना। किन्तु स्वयं निरुक्तकार अपने पूर्ववर्ती - वेदों के अर्थ-निर्णय में एक ऐतिहासिक मत भी मानते थे ... वैदिक मन्त्रों के ये अर्थ उपनिषद् और ब्राह्मण-काल की कल्पनायें हैं। जब बहुदेववाद और कर्मकांड-संबंधी मंत्रों का एकेश्वरवाद के साथ समन्वय होने लगा था और जब " उगे वा मेऽयस्य शिर: के सिद्धान्त का प्रचार हुआ, प्राचीन ऋग्वेद आदि की मात्राएँ तक गिनी गयी और वे अपौरुषेय बना दिये गये। यद्यपि ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद तो क्या शुद्ध दार्शनिक विचारों तथा आत्मानुभूति की भी झलक दिखाई देती है, किन्तु वेदों का स्वतंत्र अस्तित्व और उनका इतिहास मान लेने के लिए पिछले काल के एकेश्वरवाद और अपौरुषेयवाद प्रस्तुत न हुए।"[1]

पश्चिमी विद्वानों के द्वारा यह बराबर कहा जाता रहा कि पुराणों में इतिहास-तत्व नहीं है और वे महाकाव्यों के समान काल्पनिक हैं। किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य में इतिहास-पुराण को मिलाकर देखा गया है। पुराण और इतिहास में क्या साम्य है? या दोनो एक दूसरे से विपरीत और पृथक हैं? " अथर्ववेद " में इतिहास और पुराण दोनो शब्दों का एक साथ उल्लेख हुआ है --

---

1. आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध - काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 544.

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीना ।"[1]

ब्रह्माण्डपुराण आदि में भी यही कहा गया है कि प्राचीन काल में ऐसा हुआ। इसलिए पुराण को भी मूलत: अतीत की घटित घटना से ही संबंध मान सकते हैं। इस प्रकार प्राचीन ग्रंथों में पुराण और इतिहास शब्द एक साथ ही आए हैं — "इतिहास-पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।" प्रसाद का मत था कि पुराणों से इतिहास को रूप प्राप्त हुआ है। वे लिखते हैं — "ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी के ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज ने भारतीय इतिहास का समय तत्कालीन पुराणों के आधार पर ही निर्धारित किया है और उस पूर्व काल में भी भारतीयों के प्राचीन इतिहास का विवरण महीनों और वर्षों के साथ राजाओं की संख्या के उल्लेख से पूर्ण है।"[2] इतिहास, पुराण तथा अन्य शास्त्रों में परस्पर-निकटता दिखाई देती है। इस सम्बन्ध में डा॰रामशंकर भट्टाचार्य का कहना है - "इतिहास भी पहले पुराण से पृथक था, सम्भवत: रामायणकाल से ही ऐतिहासिक सामग्री क्रमश: पुराणों में अनुप्रविष्ट होने लग गई थी। मनु के समय में भी इतिहास-आख्यान-पुराण-खिलानि पृथक पृथक विद्या के रूप में थे। .... लोकरुचि को लक्ष्य कर तथा विषयों के साम्य के कारण इतिहास आदि का सम्मिश्रण पुराण में किया गया है।"[3] इतिहास के तथ्य तो हमें वेदों में भी उपलब्ध होते हैं। पुराण, आख्यान और इतिहास एक जमाने में बहुत

1· अथर्ववेद, 15/6/12, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली - 5·
2· आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ-युद्ध, काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ॰ 533·
3· पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, डा॰श्री॰ रामशंकर भट्टाचार्य - पृ॰ 22·

कुछ परस्पर-पूरक ही थे। काव्य भी ऐतिहासिक सन्दर्भ को लेकर लिखे जाते थे। इस विषय में शांतिस्वरूप गुप्त का कहना है -- "यद्यपि कुछ विद्वानों ने वेद को इतिहास नहीं माना है और उनमें आये हुए नामों के प्रतीकात्मक अर्थ लगाये हैं, परन्तु इन पात्रों का उल्लेख वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और पुराणों में इतनी बार मिलता है कि उन्हें ऐतिहासिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इतनी ही नहीं, मनु का उल्लेख तो ग्रीक और रोमन पुराणों में भी मिलता है।"[1]

अमरकोश में पुराण की पंचलक्षणात्मक व्याख्या की गयी है अर्थात् "... पुराण के पाँच लक्षणों -- सर्ग (महाभूतों की सृष्टि का वर्णन), प्रतिसर्ग (प्रलय और उसके उपरान्त पुनः सृष्टि), वंश (वंशावलियाँ), मन्वन्तर (कल्पान्तरों तथा मन्वन्तरों का वर्णन) तथा वंशानुचरित (वंशों के प्रधान विशिष्ट महापुरुषों के चरित्रों का वर्णन)"[2] प्रायः उपलब्ध होते हैं? इतिहास को पुराण से बिलकुल भिन्न (अलग) मानने वाले विद्वानों के मत में पुराणों में कल्पना का अंश बहुत होता है। श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार, "इतिहास का क्षेत्र इससे सर्वथा भिन्न है। इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है, परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नहीं है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का संकलनमात्र नहीं है, प्रत्युत नाना विधियों की शिक्षा देकर तथा लोक-व्यवहार के तत्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय से मोह

---

1. हिन्दी काव्य के आलोक स्तम्भ - शांतिस्वरूप गुप्त - पृ. 167.
2. "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
   वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥" - हिन्दी के पौराणिक नाटक, देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ. 6 पर उद्धृत।

तथा अज्ञान का भी निवारण करता है ।"[1] इसी तरह वेदादि ग्रंथों को इतिहास-तत्व से रहित मानते हुए एक अध्येता का कहना है कि - " ऋग्वेद इतिहास ग्रन्थ नहीं है, वह तो सृष्टिविद्या का विधान है । वहाँ प्रत्येक आख्यान का होना आवश्यक भी नहीं है ।"[2] किन्तु ऐसे मत से सहमत होना कठिन है । सजग और सावधान अध्ययन से हमें वेदों और पुराणों की ही नहीं काव्यों में भी ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं । हमें आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का क्रमिक विकास ऋग्वेद में वर्णित मिलता है । अतः ऋषियों के द्वारा लिखे गये वेदों और पुराणों को इतिहासात्मक तथ्यों के उपजीव्य के रूप में स्वीकार कर लेने से हम अपने इतिहास के खालीपन को भर सकते हैं । प्रसाद का मत भी बहुत कुछ ऐसा ही है ।

भारत में आर्यों ने वेदों को अपौरुषेय तथा पवित्रतम ग्रंथ माना । किसी भी महत्वपूर्ण ग्रंथ की तुलना वेदों से करने की प्रथा रही है । इतिहास और पुराण को पंचमवेद कहकर इनके महत्व को प्रकट किया गया है । इनमें कतिपय साम्य का भी कथन किया गया है । इतिहास और पुराण दोनों की विधाएं अलग होते हुए भी दोनों में एक दूसरे की प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं । श्रीरायकृष्णदास के मतानुसार " इतिहास और पुराण एक समय समानार्थक शब्द थे, किन्तु आगे चलकर पुराणों में अनैतिहासिकता का समावेश तथा साम्प्रदायिकता का सम्मिश्रण हो जाने से,

---

1. पुराणविमर्श, बलदेवउपाध्याय, पृ॰ 7 पर उद्धृत ।
2. इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना । लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् संप्रकाशितम् ।। - कामायनी की कथा का गवेषणात्मक अनुशीलन, वीर सिंह, पृ॰ 1.

दोनों में पार्थक्य बढ़ता गया और अब तो इतिहास और पुराणों के एकीकरण की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।"[1] इतिहास में कल्पना से नहीं, तथ्यात्मकता से काम लिया जाता है । यह सत्य है कि पुराण प्राय: कल्पना तथा अतिशयोक्ति पर ही आधारित होते हैं । लेकिन कल्पना, मिथक, किंवदन्तियों के जाल को हटाकर पुराणों को पढ़ा जाए तो इतिहास की सामग्री हमें प्राप्त हो सकती है । काशी प्रसाद-जायसवाल, वी॰डी॰भिशाशी जैसे इतिहासकारों की मान्यता ऐसी ही थी । इतिहास और पुराण में समानताएँ लक्षित करना कठिन नहीं । "इतिहास" का अर्थ आज परिवृत्त का तथ्य बोध करानेवाला साहित्य है और पुराण अंशत: या पूर्णत: ऐतिहासिक घटनाओं का सहारा लेकर आध्यात्मिक रहस्यों और तथ्यों का बोध करानेवाला वाङ्‌मय है । पुराण में जो पुराना नया होकर आता है, वे वेद, श्रुति, स्मृति आदि के पुराने सिद्धांत हैं। पुराण में अपनी दृष्टि से इन्हीं सिद्धांतों को नया करके लाया गया है ।"[2]

घटना इतिहास में भी होती है और पुराण में भी । फर्क इतना ही है कि पुराणों में घटना-सत्य के साथ भावना का सत्य जोड़े जाने के कारण उसका क्षेत्र विस्तृत होता गया और वह इतिहास की तथ्यपरक सीमाओं से दूर हट गया । पुराणकार की दृष्टि काल की सीमा को भेदकर कालातीत सत्य के उद्घाटन का प्रयास करती है । साधारणत: यथार्थ घटनाओं का वर्णन ही इतिहास का प्रमुख विषय माना जाता है । अत: इस दृष्टि से इतिहास का सत्य और पुराण का सत्य अलग-अलग होते हैं। पुराण में

---

1. हिन्दी के पौराणिक नाटकों में मूलस्रोत, शशिप्रभा शास्त्री - पृ॰ 2 पर उद्धृत ।

2. हिन्दी के पौराणिक नाटक, देवर्षि सनाढ्य शास्त्री - पृ॰ 7॰

पुरा नवं भवति – पुराना नया होकर आता है, ऐसी बात कही गई है। पुराण-लेखकों ने जीवन के रहस्यों को समझने के लिए भौतिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं, कथाओं तथा दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। प्रसाद के निबन्धों से पता चलता है कि वे पुराण को इतिहास का अंग मानते थे। रामप्रसाद मिश्र के अनुसार "उन्होंने वेदों, ब्राह्मणों, आगमों, रामायण, महाभारत एवं पुराणों में इतिहास की तात्त्विक अनु-संधान-दृष्टि का प्रभावी परिचय दिया है। उनकी यह मान्यता कि सर्ववाद अथवा अद्वैतवाद वेदमूलक है, सर्वथा युक्तियुक्त है।"[1] प्रसाद ने अपने "आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध" निबंध में पुराणों में उल्लिखित अनेक बातों से ऐतिहासिकता का निर्धारण करना चाहा है और इस तरह पुराणों में से प्रमाण एकत्रित कर पुरा-इतिहास की खाई को भरने का प्रयत्न किया है। विष्णुपुराण में वर्णित सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है –

"मानसरोवर के ऊपर मेरु के पूर्व महेन्द्र की नगरी अमरावती, मेरु के दक्षिण यम की नगरी संयमिनी, के पश्चिम में वरुण की नगरी सुखा और मेरु के उत्तर सोम की नगरी विभा है। मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य क्रम से इन नगरियों के ऊपर से जाते हैं। ... सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने का यही पौराणिक कारण बतलाया गया है।[2] हर कल्पना का कोई न कोई वास्तविक आधार होता है। प्रसाद का विचार था कि पुराणों में भी निराधार कल्पनाएँ नहीं हैं, उनका यथार्थ

---

1. प्रसाद का आलोचनात्मक सर्वेक्षण, रामप्रसाद मिश्र – पृ. 292-293

2. आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 538.

की जानकारी की दृष्टि से बहुत महत्व है । पुराणों के साथ-साथ महाकाव्य जैसे रामायण और महाभारत को भी आरंभ में इतिहास ग्रंथ जैसा ही दर्जा प्राप्त था । "पुराणों के सदृश रामायण और महाभारत भी धार्मिक ग्रंथ माने जाते हैं और लोग इनका पठन-पाठन तथा श्रवण अत्यंत मनोयोग से करते हैं । .... महाभारत की विषयबहुलता एवं महत्व ने उसे पंचमवेद होने का गौरव प्रदान कर दिया है ।"[1] प्रसाद ने अपने निबन्ध में महाभारत से इतिहास का तथ्य प्राप्त करने की ओर भी ध्यान दिया है । "आर्यों के आनन्दमय देश थे जिनके कारण उनकी प्रधान भूमि का पता आर्ष्य साहित्य में मेरु " नाम से दिया गया था । महाभारत में इसी मेरु का वर्णन स्वर्ग के साथ मिलता है जहाँ पाण्डव महाप्रस्थान की यात्रा में आये थे । सभापर्व में कहा गया है कि " युधिष्ठिर के राजसूय में खंगण देश के निवासियों ने कुछ उपहार दिये थे । ये लोग मेरु और मंदराचल के बीच बहने वाली शैलोदा-नदी के तट के रहनेवाले थे ।"[2] परम्परा द्वारा अभिलिखित भारत का लगभग ढाई हजार वर्षों का राष्ट्रीय इतिहास " रामायण " और " महाभारत " के रूप में आज हमारे समक्ष है । " रामायण " का युद्ध आर्य आर्येतर संस्कृति के बीच का युद्ध है जबकि " महाभारत " का युद्ध भाई-भाई के बीच का युद्ध है । इतना ही नहीं " महाभारत " तत्कालीन भारत का राष्ट्रीय विश्वकोश है, जैसा कि उसके रचयिता ने भी घोषित किया है - जो " महाभारत " में नहीं है, वह भारत भर में कहीं भी नहीं है ।"[3]

---

1. हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूलस्रोत, शशिप्रभा शास्त्री - पृ.12.
2. प्राचीन आर्यावर्त - प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध ", काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 535 पर उद्धृत ।
3. भारतीय संस्कृति और कला : वाचस्पति गैरोला, पृ. 208, यन्न भारते तन्न भारते " उक्ति की ओर संकेत है ।

पुराणों में विरोध तथा संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सद्भाव एवं स्थिरता का वातावरण देखने को मिलता है । यही कारण था कि वैदिकों द्वारा मान्य देवताओं को सूची पुराणों में परिवर्तित रूप में प्रस्तुत हो गयी । वेदों का सर्वाधिक प्रभावशाली देवता इन्द्र पुराणों में गौण हो गया । गणेश, शिव, विष्णु आदि अनेक देवताओं को वेदों में गौणस्थान प्राप्त था अथवा वहाँ कुछ का अस्तित्व ही नहीं था लेकिन उनको पुराणों में प्रमुख स्थान दिया गया है । प्रसाद के "पंचायत निबंध में ऐसे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, नारद, गणेश, स्कन्द-पार्वती आदि देवताओं का उल्लेख मिलता है ।

कुछ लोग आर्यों के दाशराज्ञ युद्ध को महाभारत युद्ध मानते हैं । लेकिन प्रसाद दाशराज्ञ युद्ध को महाभारत युद्ध से पुराना मानते थे । प्रसाद ने अपने निबंध में यही लिखा है - "कुछ लोगों का अनुमान है कि दाशराज्ञ युद्ध 3202 बी॰सी॰ में हुआ और उसी युद्ध का स्मरण-स्वरूप महाभारत-युद्ध है क्योंकि यह भी पौरवों के ही गृह-कलह का रूपांतर है । किन्तु दाशराज्ञ युद्ध को अलग मानने के बहुत से कारण हैं । वह "भारत युद्ध" नहीं है । यह वैदिक युद्ध, इंद्र और वृत्रासुर अथवा देवासुर-संग्राम का ही पिछला अंश है । ...... "।

प्रसाद ने उर्वशी पर एक चम्पू काव्य भी लिखा था जो चित्राधार संग्रह में है । उर्वशी की यह कहानी ऋग्वेद के दशम मंडल में "उर्वशीपुरुरवाख्यान" के रूप में वर्णित है । आगे चलकर शतपथ ब्राह्मण,

---

1. आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध" - काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ॰ 561-562॰

ब्रह्माण्डपुराण, मत्स्य पुराण, वायुपुराण और कालिदास के "विक्रमोर्वशीयम्" में इसी का विकसित रूप मिलता है। प्राचीन पुराण एवं महाकाव्यों में चक्रवर्तियों के रूप में पुरुरवा के नाम का उल्लेख है। पुरुरवा प्रतिष्ठानपुर के राजा थे और उर्वशी इन्द्र की अप्सरा थी। लेकिन पुरुरवा को चंद्रवंशी मानने पर प्रसाद को आपत्ति थी। वे आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इंद्र में वैद्यजी को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि "प्रयाग में चंद्रवंशियों के आदि पुरुरवा की राजधानी बताना पुराणों का भ्रम है, ये लोग गिलगित-चित्राल के पथ से आकर पहले पहल अम्बाला, सरहिंद के स्थानों में बसे।"[1]

प्रसाद ने अपनी उर्वशी रचना में कहीं भी पुरुरवा को प्रतिष्ठानपुर के राजा के रूप में तथा उर्वशी को अप्सरा के रूप में वर्णित नहीं किया है। उन्होंने पुरुरवा का उर्वशी के प्रति प्रेम और उर्वशी में स्वेच्छाप्रेरित देव-स्वभाव का चित्रण किया है। देवों का मानवों के साथ मिलना-जुलना उस समय था। इसी संपर्क के कारण गन्धर्वबाला, उर्वशी और मानव राजा पुरुरवा के मिलन को दिखाया गया है। अन्त में उन दोनों के वियोग में इस सच्चाई को चित्रित किया है कि देवकन्या मानव के साथ नहीं रह सकती, उनकी भोगलालसा वाली प्रवृत्ति मानव की संयमित प्रवृत्ति से मेल नहीं खाती।

प्रसाद ने महाभारत में वर्णित बभ्रुवाहन को ज्यों-का-त्यों अपने निबंध में उपस्थापित किया है। इसमें युधिष्ठिर के साथ प्रतिज्ञा भंग होने से अर्जुन का देशाटन जाना, मार्ग में चित्रांगदा से परिणय, फिर

---

1. आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध "काव्य और कला तथा अन्य निबंध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 556 - 557.

अर्जुन के चले जाने के बाद बभ्रुवाहन का जन्म, फिर अश्वमेध के अश्व को लेकर अर्जुन और बभ्रुवाहन के बीच में युद्ध जैसी घटनाओं का चित्रण हुआ है। यह "अश्वमेधयज्ञ" एक चुनौती जैसा होता था। यह वीरों की वीरता का प्रमाण होता था। अश्वमेध यज्ञ के बारे में बाबू गुलाब राय ने लिखा है "इस यज्ञ को केवल सम्राट या चक्रवर्ती राजा करते थे। इस यज्ञ को करने के दो विधान प्रचलित थे – एक अश्व छोड़ना दूसरा यजमान का यशोगान। ... घोड़े की रक्षा हेतु कवचधारी राजपुत्र, सौ राजन्यों के खड्गधारी पुत्र, सौ सूत एवं ग्रामीणों के पुत्र धनुष बाण धारण करके चलते थे। .... इस प्रकार घोड़ा एक वर्ष भ्रमण करके लौटने पर यज्ञ क्रियाएँ होकर "राजा" को सम्राट घोषित किया जाता था। वह अपना समस्त राजकोष दान कर देता था।"[1] रामायण में राम के द्वारा ऐसे यज्ञ किये जाने का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। इसी यज्ञ के कारण श्रीरामचन्द्र को अपने पुत्र लव और कुश से युद्ध करना पड़ा था। यही अश्वमेध यज्ञ युधिष्ठिर ने भी किया था और अर्जुन उस अश्व का पीछा करता हुआ चलता था जो भी अपने राज्य में प्रवेश करने वाले अश्व को ऐसे ही छोड़ देता था तो उसका अर्थ यही होता था कि वह राजा अपनी सारी सम्पत्ति के साथ उस यज्ञ करनेवाले राजा के सामने नतमस्तक हो गया है और उसके राज्य पर अश्वमेध करनेवाले राजा का अधिकार हो गया। बभ्रुवाहन ने अपने मणिपुर राज्य में प्रवेश करते ही अश्व को पकड़ लिया था। युद्ध में उसने अर्जुन को पराजित कर दिया था। बभ्रुवाहन भारतीय वीरता का एक ज्वलन्त प्रमाण हस्ताक्षर है।

---

1. भारतीय संस्कृति : गुलाबराय – पृ. 65.

प्रसाद के ब्रह्मर्षि निबन्ध में वशिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्षों का चित्रण मिलता है। वशिष्ठ ब्रह्मर्षि थे और इस कारण उन्हें अपरिमित शक्ति और कीर्ति प्राप्त थी। कारणवश वशिष्ठ से प्रतिशोध लेने और उससे भी कीर्तिवान बनने की लालसा से विश्वामित्र तपस्या करते हैं। पहले वे राजर्षि बनते हैं लेकिन अपने अहं को छोड़ नहीं पाते। ब्रह्मर्षि बनने के लिए तपस्या से अधिक व्यक्ति को सहनशीलता चाहिए – इसका आभास अन्त में विश्वामित्र को हो जाता है – " भगवान्! आप ही इस संसार में ब्रह्मर्षि कहलाने के योग्य हैं, लोग मुझे वृथा ही महर्षि कहते हैं। .... आप की अमृतवाणी से मेरे हृदय का अन्धकार दूर हुआ। आज ज्ञात हुआ कि, ब्राह्मण होने के हेतु कितनी सहनशीलता चाहिए। मुझे मैं घोर भ्रम में था, मैं ने कितने पाप-कर्म आपको नीचा दिखाने के हेतु किए, और ब्रह्मर्षि बनने के हेतु कितनी हिंसा की, आज प्रायश्चित्त हुआ।"[1]

इस प्रकार का अन्तरसंघर्ष पुराणों में भी वर्णित हुआ है और इसके माध्यम से मानवीय सहज गुणों को दिखाया गया है। प्रसाद ने अपने " आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध " निबन्ध में वशिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़ों के ऐतिहासिक संदर्भ को दिखाया है। उन्होंने कहा है कि पहले वरुण देवताओं के प्रधान देव थे लेकिन उनका स्थान आत्मवादी इन्द्र ने ग्रहण कर लिया। तबसे दो वर्ग के रूप में विभाजित देवों और उन दोनों वर्गों के अनुयायियों के बीच संघर्ष चलते रहे। उसी के अन्तर्गत वरुण के समर्थक वशिष्ठ और इन्द्र के समर्थक विश्वामित्र के संघर्ष को भी देखा जा सकता है। प्रसाद ने लिखा है --

---

1. ब्रह्मर्षि – काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय –4 पृ. 417.

" .... वृत्र – युद्ध में भरत जाति के प्रमुख दिवोदास ने इंद्र की सहायता की थी, जिससे आर्यों के भिन्न-भिन्न वंशों को क्षति उठानी पड़ी। इसी कारण आर्यों की मूल भरत-जाति के नेता दिवोदास के वंश से अन्य आर्य-दल द्वेष करने लगे और उस काल में दिवोदास के साहसी तथा उद्दंड कुमार सुदास से तथा उनके कुलपुरोहित वसिष्ठ से विरोध भी हो गया, जिसके कारण सुदास ने विश्वामित्र को अपना कुल-पुरोहित और प्रधान याजक बनाना चाहा। ... वसिष्ठ की होम-धेनु छीन लेने का यह तात्पर्य है कि विश्वामित्र ने सुदास आदि राजाओं के कुल की पुरोहिती ले ली थी और यही वसिष्ठ ने होम-धेनु हरण करने की कथा का मूल है।"[1]

शुनःशेप की घटना को लेकर भी वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों में संघर्ष होता है वरुण देवता को बलि दिये जाने के लिए शुनःशेप को तैयार किया जाता है। इसे अन्याय समझकर विश्वामित्र बलि रोक देते हैं और इस कार्य में सफल होते हैं। अन्याय का पक्ष लेने वाले महान वसिष्ठ की पराजय होती है। प्रसाद लिखते हैं —
"शुनःशेप वाली कथा से प्रकट है कि वरुणोपासना के संबंध में ही वसिष्ठ और विश्वामित्र का झगड़ा दृढ़ हुआ और वरुण को बलि के लिए लाया गया। शुनःशेप मुक्त हुआ तथा उसमें विश्वामित्र की विजय हुई।"[2]

---

1. "आर्यावर्त का प्रथम सम्राट् इंद्र और दाशराज्ञ युद्ध", काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय 4 – पृ. 553.
2. – वही –

प्रसाद भारत के गौरवशाली अतीत का संधान वेदों, पुराणों, काव्यों आदि के माध्यम से करते हैं। उन्हें वहाँ ऐतिहासिक स्थितियाँ, घटनाएँ, पात्र और तिथियाँ दिखायी देती हैं। वे उनमें अपनी सांस्कृतिक जड़ों की खोज करते हैं। विश्वामित्र के क्षात्र तेज और वशिष्ठ की ब्राह्मणोचित शांति, क्षमा और क्षमाशीलता में उन्हें अपनी महानता के दर्शन होते हैं। ये प्रसाद के लिए कपोल कथा नहीं होकर ऐतिहासिक तथ्य हैं और वे इसी प्रकार से उनकी व्याख्या करते हैं।

पंचायत निबन्ध में प्रसाद पुराणों में वर्णित त्रिमूर्ति, नारद, गणेश, स्कन्द का विवरण प्रस्तुत करते हैं। पुराणों में यह कथा वर्णित है कि शिव के पुत्र गणेश और स्कन्द के बीच अपने को बड़ा समझते हुए झगड़ा शुरू हुआ था, जिसमें गणेश ने बुद्धि के बलपर विजय पायी थी और उन्हें गणाधीश बना दिया गया। गणेश विघ्नेश्वर कहलाये और यह प्रथा चल पड़ी कि कोई भी शुभ कार्य करें तो पहले गणेश की ही पूजा होगी। शुभारंभ में गणेश का नाम लेने से काम में कोई विघ्न नहीं पड़ेगा। प्रसाद ने इसमें भारतीय जीवन में बुद्धिवाद को प्रमुख स्थान दिये जाने को लक्षित किया है। बुद्धि के उपयोग से गणेश ने सारे विश्व के भ्रमण को न जाकर विश्व के जननी-जनक, पार्वती-परमेश्वर की परिक्रमा करके स्कन्द पर विजय प्राप्त कर ली थी।

इस प्रकार प्रसाद ने अपने इन निबन्धों में आर्य संस्कृति और सभ्यता के विकास का एक रूप खड़ा करने की कोशिश की है। उन्होंने यहाँ वेदों पुराणों, महाकाव्यों के वर्ण्य की ऐतिहासिकता को प्रामाणिक बताया है।

साहित्य की सैद्धान्तिक चेतना से संबंधित लेख :-

नाटक की परम्परा भारत की अपनी और बहुत ही प्राचीन परंपरा है । नाटक का आरम्भ सबसे पहले भारत में ही मानते हुए गोविन्ददास का कहना है -- "..... सर्वप्रथम विश्व में नाटक रचना भारत में ही हुई और प्राचीन भारत की भाषा संस्कृत होने के कारण संस्कृत में । संस्कृत के प्राप्य नाटकों के आधार पर संस्कृत नाटक के आरम्भिक स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता । उसके पूर्व ऐसे नाटकों की रचना हो चुकी थी, जो आज प्राप्त नहीं है, किन्तु जिनका उल्लेख यत्र-तत्र मिल जाता है ।"[1]

नाटक की उत्पत्ति के बारे में अनेक मत प्रचलित थे । दैवी सिद्धान्त के अनुसार देवताओं के लिए ब्रह्मा के वेदों से एक-एक तत्व लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्य रचना की है ऐसा कहा जाता है ।"[2]

कुछ विद्वानों के विचार के अनुसार नाटक की उत्पत्ति का कारण धार्मिक माना गया है । गोविन्ददास ने यही कहा है - "जर्मन विद्वान डॉ॰पिशेल ने नाटक की उत्पत्ति का मूल पुत्तलिका नृत्य माना है ।

---

1. नाट्यकला मीमांसा, गोविन्ददास - पृ॰ 46.
2. त्रेतायुग में मानव-जीवन अनेक प्रकार से विषम हो गया है । इन्द्र सब देवताओं को साथ लेकर ब्रह्मा के पास गया और उनसे प्रार्थना की कि हम कोई ऐसा खेल खेलना चाहते हैं जो देखने तथा सुनने दोनों के ही योग्य हो और जिससे शूद्र तथा अन्य सामान्य व्यक्ति आनन्द प्राप्त कर सकें । यह सुनकर ब्रह्मा ने देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार किया और चारों वेदों से एक-एक तत्व लेकर एक पाँचवें वेद नाट्य वेद की रचना की । - नाट्यकला मीमांसा, गोविन्ददास - पृ॰41-42.

पुत्तलिका नृत्य में और नाटक में दोनों में ही सूत्रधार का होना इस मत का पोषक प्रमाण है। किन्तु केवल इसी प्रमाण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक का आरंभिक रूप पुत्तलिका नृत्य में ही रहा। नाटक में सूत्रधार शब्द का प्रयोग लाक्षणिक मानना चाहिए, वाचिक नहीं। इस मत के विपरीत डा० रिजवे ने यह प्रतिपादित किया है कि नाटक की प्रेरणा से पुत्तलिका नृत्य का जन्म हुआ।"[1]

प्रसाद ने अपने निबन्धों में भी यही कहा है कि वैदिक काल में ही यज्ञ यागादि के अवसर पर नाटकों का अभिनय हुआ था। इसलिए पुत्तलिका नृत्य से नाटक की उत्पत्ति होने का सवाल ही पैदा नहीं होता। उनका यही कहना है .... " ... यह कहना ठीक नहीं कि भारत में अभिनय कठपुतलियों से आरंभ हुआ, और न तो महावीर-चरित ही छाया-नाटक के लिए बना। .... कठपुतलियों का भी प्रचार अंततः नाट्य कला के लिए प्रचलित किया गया। ...... कठपुतलियों से नाटक आरंभ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों में मानना चाहिए।"[2]

प्रसाद ने अपने निबन्धों में संस्कृत आचार्यों के मत पर अधिक बल दिया है। आचार्यों ने नाटकों को ही सर्व प्रथम काव्य माना था :

---

1. नाट्यकला मीमांसा, गोविन्ददास - पृ० 44-45.
2. नाटकों का आरंभ - काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - प्रसाद वाङ्मय 4, पृ० 505

" जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात् (भरत) से यह स्पष्ट होता है कि सर्व-साधारण के लिए वेदों के आधार पर नाट्य का पंचम वेद की तरह प्रचार हुआ । भारतीय वाङ्मय में नाटकों को ही सबसे पहले काव्य कहा गया । " काव्य तावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव (अभिनवगुप्त)।"[1]

प्रसाद के नाटक का मूल रामायण और महाभारत से प्राचीन सिद्ध किया है । वैदिक काल से ही नाटकों का आरंभ होने की ओर संकेत करते हुए प्रसाद ने कहा है - " नाटकों के संबंध में लोगों का कहना है कि उनके बीज वैदिक संवादों में मिलते हैं । वैदिक काल में भी अभिनय संभवतः बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते रहे ।"[2]

इन्हीं नाटकों को आरम्भिक काव्य मानते हुए प्रसाद ने रामायण में वर्णित नाटकों तथा भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित नाटकों का परिचय देते हुए कहा है - " तब इन पाठ्य काव्यों से नाटक काव्य प्राचीन हैं, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती । भरत के नाट्य शास्त्र में अमृतमंथन और त्रिपुरदाह नाम के नाटकों का उल्लेख मिलता है । भाष्यकार पतंजलि ने कंस-वध और बलि-बंध नामक नाटकों का उल्लेख किया है ।"[3]

---

1. रस - काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 491 पर उद्धृत ।
2. नाटकों का आरंभ - " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 502.
3. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " में नाटकों का आरंभ, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 502.

वैदिक ग्रन्थों में सोमयाग के अवसर पर खेला गया नाट्य वर्णित है । इसमें नृत्त की उपयोगिता नहीं थी । कहा जाता है कि वैदिक काल के बाद आगमवादियों ने रस सिद्धांतवाले नाटकों को अपने व्यवहार में प्रयुक्त किया और नृत्त की योजना नाटकों में की गयी । प्रसाद के इस संदर्भ में भरत की धारणा को व्यक्त करके नृत्त की आरंभिक स्थिति की ओर अपनी दृष्टि डाली है - "भरत ने लिखा है कि त्रिपुरदाह के अवसर पर शंकर की आज्ञा से तांडव की योजना इसमें की गयी । इन बातों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नृत्त पहले बिना गीत का होता था, उसमें गीत और अभिनय की योजना पीछे से हुई । और इसे तब नृत्य कहने लगे ।"[1]

प्रसाद ने गीति-नाट्यों के आरम्भ की ओर भी संकेत किया है - "हाँ, अभिनवगुप्त ने गद्य-पद्य-मिश्रित नाटकों से अतिरिक्त राग काव्य का भी उल्लेख किया है । .... ये प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा में गीति-नाट्य कहे जाते हैं । इस तरह अति प्राचीन काल में ही नृत्य अभिनय से संपूर्ण नाटक और गीति-नाट्य भारत में प्रचलित थे । वैदिक, बौद्ध तथा रामायण और महाभारत काल में नाटकों का प्रयोग भारत में प्रचलित था ।"[2]

"काव्येषु नाटकं रम्यं" का समर्थन करते हुए प्रसाद ने अपने निबंध में स्पष्ट किया है - "कला पक्ष केवल नाटक, रूप में लोकोत्तर चमत्कार और आदर्श-दृश्य तथा श्रव्य, मूर्त और अमूर्त इत्यादि सब

---

1. "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में नाटकों का आरंभ, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 504.
2. - वही - पृ. 505.

साधनों से वह मानसिक संसार को विकास देता है और उसके पास साधन भी प्रचुर परिमाण में हैं। शिल्प, संगीत, चित्र, कविता, आहार्य, भाव और अंग भंगी से अभिनयपूर्ण होता है। एक नाटक में इन सभी पर विचार है, विकास है। इसी से कहते हैं काव्येषु नाटकं रम्य।"[1]

नाट्यकला को अन्य सभी कलाओं से महान समझा गया है। इसी के प्रति "नाट्यकला मीमांसा" में कहा गया है - "वह यह कि उसमें पाँचों ललित कलाओं का एकत्र समावेश रहता है। नाटक में जो दृश्य दिखाये जाते हैं उनमें स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला का समावेश रहता है तथा नृत्य, गायन और कथोपकथन में संगीत और काव्य का।"[2]

इस प्रकार नाटक का कला से अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध ठहरता है। कमलिनी मेहता के मतानुसार "भारतीय परम्परा नाटक को कला के अन्तर्गत मानने में आपत्ति करती है, किन्तु कला को आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से एवं नाटक के काव्य होने के कारण हम नाटक को कला का ही एक अंग मानते हैं। अतः कला होने के नाते नाटक का भी मौलिक उद्देश्य है प्रेक्षक को आनंद प्रदान करना और साथ ही साथ जीवन संबंधी शिक्षा देना।"[3] लेकिन नाटक केवल मनोरंजन देनेवाला नहीं है न इसे केवल क्रीडनीय ही कहना उचित है। नाटक का अभिनय उस भूमि पर होता है जहाँ सुख और दुःख, हास और रुदन, अट्टहास और चीत्कार आदि का मिश्रण है।

---

1. "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में नाटकों का आरंभ, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 448.
2. नाट्यकला मीमांसा, गोविन्ददास, पृ. 17.
3. नाटक के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कमलिनी मेहता, पृ. 40.

प्रसाद के नाटक को सबसे महत्त्वपूर्ण कला माना है जो काव्य से भी अधिक रम्य समझा जाता है। इतना ही नहीं उन्होंने नाटक के मुख्य तत्वों के प्रति भी ध्यान देते हुए उनमें रस एवं रंगमंच का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

भारतीय शास्त्रों में वस्तु, नेता और रस को नाटक का मौलिक तत्व बताया गया है। लेकिन नाट्यशास्त्र में इनका विवेचन नहीं मिलता। दशरूपक में धनंजय ने कहा है - वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकौ। इस प्राचीन मत का विरोध करते हुए कामिनी मेहता का कहना है कि वस्तु और नेता तो अध्ययनीय तत्व हो सकते हैं किन्तु रस तो साध्य है, साधन नहीं। उसकी अनुभूति तो अभिनय देखकर भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव द्वारा ग्रहण की जाती है और इन भावादि के आधार पर नाटक के तत्व स्वयं होंगे - वस्तु, पात्र, अभिनय और रंगमंच आदि।[2] रसात्मक अनुभूति को नाटक का प्रधान तत्व मानते हुए प्रसादजी ने कहा है --
" रसात्मक अनुभूति आनंदमात्रा से संपन्न थी और तब नाटकों में रस का आवश्यक माना गया, किन्तु रस संबंधी भरतमुनि के सूत्र ने भावी आलोचकों के लिए अद्भुत सामग्री उपस्थित की।"[3]

---

1. नाटक के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कामिनी मेहता - पृ. 59.
2. - वही -- पृ. 60.
3. " रस " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 491.

भारतीय नाटकों में वस्तु और नेता साधन है तथा रस साध्य है। लेकिन प्रसाद ने रस को साधन माना है। उनका कहना है -- "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय-दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्य को रस का साधन मानता रहा, साध्य नहीं।"[1] इस प्रकार हम प्रसाद के रस-चिन्तन को आधुनिक साहित्य-बोध के अनुकूल पाते हैं।

प्रसाद ने अपने निबन्ध में भारतीय नाट्यशास्त्र के आधार पर रस की उत्पत्ति के बारे में कहा है -- "किन्तु भारत में रस-सिद्धांत के द्वारा साहित्य में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा हुई, क्योंकि भरत ने कहा है - आत्माभिनयनं भावो {26-39} - आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रांति पा जाने पर रस होते हैं।"[2]

इसी रस को नाटक के लिए आवश्यक तत्व मानते हुए कहा गया है -- "थोड़ी-सी असावधानी से ही नाटक में रस भंग होने का भय रहता है। यही कारण है कि अनेक नाटक जो पढ़ने में अच्छे जान पड़ते हैं वे रंगमंच पर सफल नहीं होते और जो रंगमंच पर सफल होते हैं उनमें पढ़ते समय कोई विशेषता नहीं दिखती।"[3] रस-सिद्धान्त काव्य शास्त्र को भारत की महत्त्वपूर्ण देन है। यह व्यक्तिवादी नहीं,

---

1. "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में नाटकों में रस का प्रयोग", प्रसाद वाङ्मय 4, पृ॰ 500॰
2. - वही - पृ॰ 498॰
3. - वही -

अपितु सामाजिकता को महत्व प्रदान करनेवाला सिद्धान्त है। कमलिनी मेहता का ठीक ही कहना है कि "रस सिद्धांत को सर्वोपरि मान लेने से हम कला को "स्वांत सुखाय" के उच्छृंखल अथवा भयानक परिणाम से सुरक्षित रख सकते है।"[1]

फिर भी प्रसाद ने रस के साधारणीकरण को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है - "यह विचारणीय है कि चरित्र-चित्रण को प्रधानता देनेवाले ये दोनो पक्ष रस से कहाँ तक संबद्ध होते है। इन दोनो पक्षों का रस से सीधा संबंध तो नही दिखाई देता, क्योंकि इसमे वर्तमान युग की मानवीय मान्यताएँ अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति मे पाता है। फिर उसे साधारणतः अभेदवाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो?"[2]

प्रसाद ने अपने निबन्ध मे ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को कुकाव्य की आत्मा माननेवाले आचार्यों के, मतो का उल्लेख करते हुए रस को ही सबसे अधिक काव्य की आत्मा के निकट माना है। उनके अनुसार रस काव्य से अधिक नाटक के लिए उपयोगी तत्व है। वे रसानुभूति केवल सामाजिको मे ही नहीं, प्रत्युत नटो मैं भी होने के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इंद्रियों के माध्यम से मन को तादात्म्य करने से रसानुभूति हो जाती है। इसके प्रति उनका कहना है - "अब यह सहज मे अनुमान किया जा सकता है कि रस विवेचन मे संविद् का साधारणीकरण

---

1. नाटक के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कमलिनी मेहता - पृ. 74.
2. "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध मैं नाटकों मे रस का प्रयोग, प्रसाद ग्रन्थावली 4, पृ. 498.

निश्चित है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एक रस हो जाता है।"[1] यह है नाटक मे रस सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण जिसकी व्याख्या प्रसाद ने की है। डॉ॰गुलाबराय ने परम्परागत पाश्चात्य और भारतीय नाटकीय तत्वों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है -- "भारतीय परम्परानुसार नाटकों मे रस को मुख्यता दी गई है और पाश्चात्य परम्परा मे उद्देश्य को।"[2]

रस की दृष्टि से देखा जाय तो विशेषतः यूनानी नाटकों में Tragedy (त्रासदी) की प्रमुखता दी गई है। पर भारतीय नाटकों मे संस्कृत के नाटककारो - आचार्यों ने अंतिम फल के रूप मे सुखान्त का ही अधिकांशतः चित्रण-विवेचन किया है। इसको स्पष्ट करते हुए प्रसाद ने लिखा है -- "भारतीय रसवाद में मिलन, अभेद सुख की सृष्टि मुख्य है। रस मे लोकमंगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अंतर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नहीं। किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर।"[3]

नाटकों मे दुखान्त का समर्थन करते हुए डा॰गुलाबराय ने लिखा है - "नाटक का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। यह वैसा ही आनन्द है, जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुःखित और पीड़ितों की सहायता में मिलता है। दुखान्त नाटकों के देखने से करुण रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नही चाहते किन्तु करुण रस में (जो

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - "नाटकों मे रस का प्रयोग" प्रसाद वाङ्मय 4, पृ॰ 499॰
2. काव्य के रूप - गुलाबराय - पृ॰ 43॰
3. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, नाटकों मे रस का प्रयोग, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ॰ 501॰

सहानुभूति पर आश्रित होता है । मग्न होना चाहते हैं । भाव सुख-दुःखमय होते हैं, रस आनन्दमय है ।"

इस प्रकार प्रसाद ने नाटक को पंचमवेद के रूप में स्वीकार कर काव्य से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है और उसकी आत्मा के रूप में रस रूप को स्वीकार किया है । इसके लिए उन्होंने संस्कृत के आचार्यों के मत को स्वीकार किया है और उनका उपयोग करते हुए अपने मत को पुष्ट किया है । नाटक के इस रसतत्व के साथ-साथ प्रसाद ने नाटकों की अभिनेयता पर भी विचार किया है । नाटक अभिनय के लिए भी लिखे जाते हैं । अतः अभिनेयता को नाटक का प्रधान तत्व स्वीकारते हुए प्रसाद नाटक और अभिनय सम्बन्धी अपनी स्पष्ट धारणा व्यक्त करते हैं । मंचन-संबंधी भारतीय दृष्टिकोण का परिचय वे अपने रंगमंच निबंध में देते हैं ।

नाटक और रंगमंच इन दोनों में रंगमंच को अधिक प्राचीन ठहराया गया है । रंगमंच को नाटक से भी पुरातन सिद्ध करते हुए कहा गया है -- "वस्तुतः रंगमंच नाटक से भी पुराना है । रंगमंच मानव-जीवन की आदिम प्रवृत्ति है । प्राचीन महोत्सवों, धार्मिक अनुष्ठानों और कृत्यों में मनुष्य ने उसे उपलब्ध किया है । इसलिए इसे चाक्षुष यज्ञ कहा गया है ।"[1] इस मत पर बल देते हुए ज्ञानसिंह मान का कहना है - "नाटक चाहे पूर्व में हो या पश्चिम में सर्वत्र अपने आविर्भाव में धार्मिक क्रिया कलाप से जुड़ा रहा है । इसमें अनुकरण और पूर्वक्रिया को दोहराने

---

1. रंगमंच कला और दृष्टि - गोविन्द चातक - पृ. 25.

की प्रवृत्ति भी शामिल है । मानवीय क्रिया कलाप में, वस्तुत: नाटक से भी पहले रंगमंच विद्यमान था । नाटक ने रंगमंच पर ही पूर्णता और रूप प्राप्त किया है ।" [1]

रंगमंच के इतिहास की ओर देखें तो स्पष्ट है कि " यूनानी सभ्यता तथा साहित्य के नष्ट होने पर रोमनों ने नाटक साहित्य सृष्टि का तो उपक्रम किया किन्तु रंगमंचों की ओर विशेष ध्यान न दिया । ईसा से लगभग 100 वर्ष पूर्व तक काष्ठ के रंगमंच किसी गली में खड़े कर दिए जाते थे और प्रेक्षक उसके चारों ओर खड़े होकर अभिनय देख लेते थे । किन्तु पाम्पी ने अपने शासनकाल में (106 - 44 ई॰पू॰) पत्थर का वृहदाकार नाट्यमंडप बनवाया ।"[2]

तदनन्तर ईसाई पादरियों के आगमन के बाद इन रंगशालाओं का वैभव नष्ट-भ्रष्ट हो गया । सोलहवीं सदी से इनका पुन: आरंभ हो गया । " हिन्दी रंगमंच का इतिहास " में दुबे जी लिखते हैं कि अठारहवीं सदी के अंत में (1770 ई॰ में) " बम्बई थियेटर " नामक एक नाट्यगृह की स्थापना आपसी चंदे के द्वारा हुई थी । मंच हो जाने से नाटक लेखन और प्रदर्शन को काफी बल मिलता है । वस्तुत: रंगमंच नाटक को दूसरा, और सही जीवन प्रदान करता है । रंगमंच एक जीवंत माध्यम है जिस पर सफलतापूर्वक विचारों को दर्शाया जाता है । इसलिए रंगमंच की आवश्यकता संप्रेषण के माध्यम की खोज करनेवाले कलाकारों

1· नाट्यवृत्ति और सम्प्रेषण : ज्ञानसिंह मान, पृ· 30 - 31·
2· नाट्य के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कमलिनी मेहता - पृ· 136 - 137·

की पड़ी थी । डॉ॰रामचरण महेन्द्र के शब्दों में, " नाटककार रंगमंच के माध्यम से नाना समस्याएँ, मनुष्यों के चरित्र, सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप और सुधार के उपाय दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है । रंगमंच ही वह तत्व है, जिसे दृष्टि में रखकर नाटक का निर्माण होना आवश्यक है ।"[1]

प्रसाद ने अपने " रंगमंच " निबंध के माध्यम से बताया है कि रंगमंच का निर्माण पहले भारत में ही हुआ था । " यवनिका " शब्द को लेकर अनेक विवाद थे । कुछ लोगों का यही कहना था कि यवनिका शब्द ग्रीक से उत्पन्न हुआ है । लेकिन प्रसाद ने यवनिका को भारतीय अवधारणा सिद्ध करते हुए कहा है - " कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में यवनिका यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गयी है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत यवनिका भी मिला । अमरकोश में - प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा, तथा हलायुध में - अपटी कांडपट, स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी । इसमें य से नहीं किन्तु ज से ही जवनिका का उल्लेख है ।"[2]

नाटककार को नाटक लिखते समय रंगमंच के नियमों का पालन करना आवश्यक है । प्रत्येक नाटक के लिए बिल्कुल ही नये रंगमंच का निर्माण नहीं किया जा सकता है । हाँ, विषय, पात्र, वेश-भूषा, स्थान आदि के आधार पर उसमें स्वाभाविक परिवर्तन हो सकते हैं । इसीलिए कहा गया है - " रंगमंच के परिवर्तन के साथ नाटक के रूप का

---

1. हिन्दी रंगमंच का इतिहास - चन्द्रलाल दुबे - पृ॰ 47॰
2. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, रंगमंच, प्रसाद वाङ्मय 4 पृ॰ 508॰

परिवर्तन होना ऐतिहासिक तथ्य है। ..... प्रत्येक नाटक के लिये नवीन रंगमंच निर्मित नहीं किया जा सकता, अतः नाटक और अभिनेयता के पारस्परिक सामंजस्य के लिये नाटककार को रंगमंच संबंधी नियमों का पालन करना अनिवार्य है।"[1] सच तो यह है कि मंच नाटक का अनुगमन करता है। इसी बात का मानो समर्थन करते हुए प्रसाद ने अपने निबंध में लिखा है -- काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है।"[2]

रंगमंच पर नाटक की अभिनेयता तथा कथावस्तु की काल-परिसीमा को लेकर भी अनेक विवाद थे। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डा॰ श्यामसुन्दरदास जी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यालोचन में लिखा है -- "साधारणतः नाटकों में दो-चार वर्ष की घटनाएँ सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना-संबंधी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतने-वाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पाये और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में कितना समय बीता है।"[3]

---

1. नाटक के तत्व - मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कमलिनी मेहता - पृ॰ 134-135
2. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, रंगमंच, प्रसाद वाङ्मय 4 पृ॰ 511॰
3. नाट्य कला मीमांसा, गोविन्ददास - पृ॰ 32॰

इस सम्बन्ध में प्रसाद का कहना है -- " प्रायः एक दिन का कार्य एक अंक में पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके, तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उसकी पूर्ति होनी चाहिए । एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक में आना नहीं चाहिए ।"[1] प्रसाद ने स्वयं अपने नाटकों में लम्बी समय-सीमा रखी है । चंद्रगुप्त नाटक का कथा विस्तार तो तीन वर्षों के लगभग समय को समेटता है ।

प्रसाद ने भरत के नाट्यशास्त्र के उद्धरण देते हुए परंपरागत रंगमंच के निर्माण की व्याख्या और विवेचन प्रस्तुत किया है --
होता था, यह बताना सरल नहीं, तो भी नाट्य - मंडप तीन तरह
" रंगशाला में शिल्प का या वस्तु-निर्माण का प्रयोग किस तरह के होते थे - विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र । विकृष्ट नाट्यमंडप की चौड़ाई से लंबाई दूनी होती थी । उस भूमि के दो भाग किये जाते थे । पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे । आधे में रंगशीर्ष और रंगपीठ और आधे में पीछे नेपथ्यगृह बनाया जाता था ।"[2]

नाट्यशास्त्र में कहा गया है --

पृष्ठतो यो भवेद् भागो द्विधा भूतो भवेद् च सः:
तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षं प्रयोजयेत् ।
पश्चिमे तु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत् ।

(नाट्यशास्त्र, 2 अध्याय)

1• " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " में रंगमंच - प्रसाद वाङ्•मय 4 पृ• 51•

2• - वही - पृ• 506•

मत्तवारणी को भी रंगमंच का आवश्यक भाग कहते हुए प्रसाद ने लिखा है - "अभिनव - भारती में मत्तवारणी के संबंध में किसी का यह मत संग्रह किया गया है कि वह देव मंदिर की प्रदक्षिणा की तरह रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी ।"[1]

प्रसाद उच्चकोटि के नाटककार थे । अतः उनके लिए यह उचित था कि अपनी संस्कृत परम्परा के नाटकों और रंगमंच से परिचय प्राप्त करते । प्रसाद के प्राचीन संस्कृत नाटकों तथा हमारी सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर भारतीय रंगमंच के प्रारम्भिक तथा आधुनिक रूपों की ओर ध्यान दिया है -- "कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रंगशाला बनवाई थी, जिसमें पत्थरों पर संपूर्ण शाकुंतल - नाटक उत्कीर्ण था । आधुनिक रामलीला के अभिनयों में प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे । एक तो वे, जिनके बड़े-बड़े नाट्य-मंदिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच ......"[2]

प्रसाद ने भारतीय रंगमंच को पश्चिमी मंच की प्रेरणा से उत्पन्न नहीं माना है । जब भारत में अंग्रेजी तथा पारसी रंगमंचों की अवतारणा हो रही थी, उसके बहुत पहले से ही हमारे यहाँ रंगमंच थे । स्वयं प्रसाद ने दक्षिण भारतीय रंगमंच का अभिनीत नाटक देखा था । उनका कहना है - "भारतीय रंगमंच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहल बंगाल पर हुआ । किन्तु इन दोनों प्रभावों के बीच दक्षिण में भारतीय रंगमंच निजी स्वरूप में अपना अस्तित्व रख सका ।

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, रंगमंच प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 507.
2. - वही -

···· तीस बरस पहले जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक - मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था ।"[1]

प्रसाद अभिनय को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे । उनका कहना था कि स्वगत, आकाशभाषित आदि के अभिनय में स्वाभाविकता नाट्यधर्मी अभिनय के ही द्वारा आ सकती है । प्रसाद ने लिखा था -- "प्राचीन रंगमंच में स्वगत की योजना, जिसमें कि समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात को अनसुनी कर जाता है, नाट्यधर्मी अभिनय के ही अनुकूल होता था और "भाण" में आकाश - भाषित का प्रयोग भी नाट्यधर्मी के ही अनुकूल है ।"[2]

सामाजिक नैतिक प्रतिबंधों के कारण भारतीय रंगमंच पर स्त्रियों के आगमन को लेकर भी अनेक समस्याएँ थीं । पारसी रंगमंच से ही भारत में आधुनिक किस्म के रंगमंच का आरंभ हुआ ऐसा प्रायः मान लिया जाता है । नाट्यालोचकों ने रंगमंच पर स्त्रियों को लाने का श्रेय पारसी रंगमंच को ही दिया है । "हिन्दी रंगमंच का इतिहास" में डा० चंदूलाल दुबे लिखते हैं -- "रंगमंच पर स्त्री-पात्रों को प्रवेश देने का श्रेय पारसी रंगमंच को ही है । अभिनय में स्वाभाविकता लाने की दृष्टि से यह सराहनीय कदम था । कावसजी खटाऊ ने मेरी फेंटन को रंगमंच पर प्रस्तुत कर रंगमंच पर अभिनेत्रियों के प्रवेश का द्वार खोल

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में रंगमंच, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 512 - 513.
2. - वही - पृ. 511.

दिया । प्रारंभ में बाज़ारू स्त्रियों ने इन कंपनियों में अभिनय करना प्रारंभ कर दिया । धीरे-धीरे मध्यम-वर्ग की महिलाओं ने भी रंगमंच पर उतरने का साहस किया ।"[1]

लेकिन इसके पूर्व पारसी रंगमंच पर स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध ही था । प्रसाद ने कहा है -- "हाँ, पारसी स्टेज के आरम्भिक विनय सूत्रों में एक यह भी था कि वे लोग प्राचीन इंग्लैण्ड के रंगमंचों की तरह स्त्रियों का सहयोग नहीं पसंद करते थे । ... "[2]

परन्तु प्रसाद ने इसके साथ यह भी कहा है कि भारत में अति प्राचीन काल में ही रंगमंच पर स्त्रियों का आगमन हुआ था ।[3] संस्कृत ग्रंथों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है --

" कौशिकीश्लक्ष्णनेपथ्या श्रृंगाररससंभवा
अशक्या; पुरुषैःसा तु प्रयोक्तुम् स्त्रीजनादृते ।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः ।"

इतना ही नहीं स्त्रियों को अभिनय की शिक्षा देने वाले आचार्यों का उल्लेख भी मालविकाग्निमित्रम् मिलता है । प्रसाद के

---

1. हिन्दी रंगमंच का इतिहास, चन्दूलाल दूबे - पृ. 24.
2. - वही - पृ. 510.
3. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में रंगमंच - प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 513.

अनुसार पहले लोग मानते थे कि "स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष के कल हैं", इसलिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें, पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता था।"[1]

पर प्राचीन काल में रंगमंचों पर स्त्रियों का प्रवेश होने पर भी धीरे-धीरे यह परम्परा विस्मृत होने लग गयी। फलत: नाटकों में स्वभाविकता कम होने से रंगमंच की निरन्तरता भी बाधित हुई होगी। हिन्दी रंगमंच के अभाव या असफलता का एक कारण स्त्रियों का रंगमंच पर प्रवेश निषिद्ध होना भी बताया है।"[2] इस प्रकार प्रसाद ने केवल भारतीय रंगमंच की परंपरा की ओर हमारा ध्यान खींचा है और साथ ही हिन्दी रंगमंच की सफलता-असफलता और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की है। अपने समकालीन साहित्यिक परिदृश्य को लेकर उनका कहना था कि "हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलनेवाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया, और फलत: अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया।"[3]

हिन्दी रंगमंच की असफलता के कई कारणों में से एक भाषा को भी ठहराया गया है। आलोचकों ने नाटककार प्रसाद की भाषा में नाटकीयता का अभाव पाया है। यह भाषा कवित्वपूर्ण, स्थिर और

---

1. अति प्राचीनकाल में भारत वर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गयीं। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे तब रंगीले जीवन अप्सराएँ रंगमंच पर आयीं। काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में रंगमंच - प्रसाद वाङ्मय 4-पृ.50[illegible]
2. किन्तु रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उनमें अभाव विशेष: हिन्दी रंगमंच के लिए।" काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में "रंगमंच" प्रसाद - वाङ्मय 4 पृ. 514.
3. - वही - पृ. 513.

एकरस बतायी गयी है । विविध बोलियों के मिश्रित चलती हिन्दी का रंगमंच पर प्रयोग प्रसाद नहीं करते थे । इस सम्बन्ध में प्रसाद का कहना था कि -- " सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी - नाटकों के लिए ठीक नहीं । ... देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए ।"[1]

इस प्रकार प्रसाद ने नाटक और रंगमंच के इतिहास को अपने निबंध में संक्षिप्त रूप से विवेचित किया है । अन्त में उनका स्पष्ट कहना यही है कि नाटक के लिए रंगमंच का निर्माण नहीं होता, जबकि होना चाहिए । रंगमंच के लिए नाटकों का निर्माण होने से नाटकों की स्वा - यत्तता और और सुन्दरता नष्ट होती है । अंततः प्रसाद का तर्क नाटककार और मंच-निर्देशक के सहयोग की सही दिशा में उन्मुख होना है । वे लिखते हैं -- " रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि रंगमंच के नाटक के लिए लिखे जायँ । प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है । हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है । देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है । फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे । इन सबके सहयोग से ही हिन्दी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है ।"[2]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध में " रंगमंच ", प्रसाद वाङ्मय 4 पृ. 515 - 516.
2. - वही - पृ. 516.

इस प्रकार हमें रंगमंच सम्बन्धी प्रसाद के चिन्तन में इनका परम्पराबोध दिखायी पड़ता है । वे अतीत को संपूर्णतः अपना मानकर उसका अंधानुकरण नहीं करते, अपितु आधुनिक नवीन ज्ञान से उसमें संशोधन - परिवर्तन करके प्रासंगिक बनाना चाहते हैं ।

प्रसाद ने अपने " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " संग्रह में मानव इतिहास से सम्बन्धित समस्याओं के साथ साहित्यिक विधाओं के आरम्भिक इतिहास की ओर भी दृष्टि डाली है । काव्य और कला को लेकर यह विवाद प्रचलित था कि ये दो अभिन्न हैं या भिन्न । इस पर पाश्चात्य विद्वानों का अपना मत है तो भारतीय विद्वानों का अपना मत । प्रसाद ने इन दोनों प्रकार के मतों का उल्लेख करते हुए एक निष्कर्ष देने का प्रयत्न किया है । प्रसाद ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहकर काव्य की छायावादी परिभाषा प्रस्तुत की तथा उसे मानव-मात्र की अनुभूति से जोड़कर देखा । उन्होंने रहस्यवाद और छायावाद इन दोनों काव्य धाराओं को भारतीय ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । प्रसाद ने हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में यथार्थवाद का भी विवेचन प्रस्तुत किया है । इन सारे साहित्यिक निबन्धों के अन्तर्गत मूल भावना के रूप में उनका भारतीयता के प्रति गौरवभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । उनकी यह स्पष्ट धारणा है कि रहस्यवाद की उत्पत्ति भारत में होने पर भी, कालचक्र में पड़कर, उसकी ओर ध्यान कम होने के कारण, उसका रूप भारत में विलीन हो गया और तादनन्तर जब विदेशी साहित्य में उसका प्रयोग किया गया तब उसे विदेशी मानकर भारतीय साहित्य में ग्रहण किया गया । रहस्यवाद निबन्ध में ऐसे विचारों की ओर संकेत करते हुए प्रसाद ने लिखा है - " भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने

का एक मुख्य कारण है । .... रहस्यवाद के आनंद - पथ को उनके कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढांचा ढीला पड़ जाता है । इसलिए वे इस प्रकार बात को स्वीकार करने में डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनंद है, ज्ञान से या अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है । आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनंद और उसके पथ के लिए जो जनख फैलाया है । वही उसे अपनी वस्तु कहकर स्वीकार करने में बाधक है ।"[1]

इसलिए प्रसाद के पाश्चात्य विचारधारा का अनुकरण करनेवालों पर व्यंग्य करते हुए कहा है -- "कहीं अंग्रेजी में उन्होंने देखा कि "गॉड इज लाव । फिर क्या ? कहीं भी हिन्दी में ईश्वर के प्रेम रूप का वर्णन देखकर उन्हें अंगरेजी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है । उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदांत ग्रंथ पंचदशी में कहा है अयमात्मा परनंद: परप्रेमास्पदं यत: । वे भूल जाते है कि आनंद-वर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा है --

भावनचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्ट सुकवि: काव्ये स्वतंत्रतया ।"[2]

काव्य और कला सम्बन्धी अनेक दृष्टियाँ मिलती हैं । काव्य कला है या नहीं, यह भी विवादास्पद है । "पश्चिम में काव्य की गणना कला के अन्तर्गत है "[3] भारत में ऐसा नहीं है । यहाँ कला को

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में " रहस्यवाद " - प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 479.
2. - वही - पृ. 467.
3. प्रसाद का काव्यालोचन, श्रीनिवासवर्मा, " मधुमती " अगस्त 89 पृ. 62.

उपविद्या में परन्तु काव्य को विद्या में स्थान मिला है। भारत में कला का सम्बन्ध मानव मन अर्थात् भावों और विचारों से बताया गया है। यहाँ धर्म, मिथक, लोक कथाएँ राग को सम्मिलित किया गया है। यहाँ कला का स्वरूप पौराणिक, विचारात्मक तथा कथात्मक रहा है। काव्य और कला संबंधी भारतीय मत का उल्लेख करते हुए प्रसाद ने अपने निबंध में लिखा है कि "काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य समस्या-पूरण भी एक कला है, किन्तु वह समस्यापूर्ति (श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीडार्थम् वादार्थम् च) कौतुक और वाद - विवाद में कौशल के लिए होती थी।"[1]

पूर्व और पश्चिम की काव्य और कला सम्बन्धी धारणाओं को देखें तो लगता है कि पाश्चात्य धारणा कला के अन्तर्गत काव्य को रखती है। जबकि भारतीय मत में काव्य और कला दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। मूर्त्त और अमूर्त्त स्थूल और सूक्ष्म माध्यम को लेकर तर्क-वितर्क होते रहे हैं। इस सम्बन्ध में प्रसाद का कहना है — "... साधारणत: हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्व और महत्त्व समझा जाता है। इस विभाग में सुगमता अवश्य है, किन्तु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की संभावना जैसी पाश्चात्य साहित्य में है, वैसी भारतीय साहित्य में नहीं। .... प्राचीन काल में ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का संगीत के अन्तर्गत वर्णन करता है,

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - "काव्य और कला" प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 467.

किन्तु वर्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीत कला से ऊँचा स्थान देती है ।" [1]

प्रसाद ने काव्य को आत्मिक, अमूर्त्त तथा आध्यात्मिक वस्तु माना है । काव्य के प्रति प्रसाद की धारणा को स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी ने " काव्य और कला तथा अन्य निबंध " के प्राक्कथन में लिखा है – " .... काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची आध्यात्मिक नाम की कोई वस्तु नहीं । साहित्य शास्त्र में काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है और कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः यह श्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसमें कवि और मनीषी (अर्थात् आध्यात्मिक) समानार्थी कहे गये हैं ।[2]

प्रसाद ने काव्य को एकांगी रूप से मूर्त्त माननेवाली पश्चिमी विचारधारा का विरोध किया है । उनकी धारणा को स्पष्ट करते हुए वाजपेयी जी ने प्राक्कथन में कहा है –– " ... पश्चिमी विचार प्रणाली के अनुसार जहाँ अमूर्त्त का आध्यात्मिक भेद प्रचलित है, काव्य को, मूर्त्त होने के कारण आध्यात्मिक सीमा से, जिसमें अमूर्त्त के लिए ही स्थान है, अलग करने की चेष्टा भले ही की गई हो, किन्तु भारतीय विचार-धारा में ब्रह्म मूर्त्त भी है और अमूर्त्त भी । अतः मूर्त्त होने के कारण काव्य को अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नहीं सकते । [3]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " काव्य और कला, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 468.
2. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में वाजपेयी द्वारा लिखित प्राक्कथन से उद्धृत, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 454.
3. काव्य और कला तथा निबन्ध में वाजपेयी का प्राक्कथन, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 454.

प्रसाद ने इस मूर्त्त – अमूर्त्त के विभाजन को स्पष्ट करते हुए अपने निबन्ध में लिखा है – " एक स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की, मूर्त्त होती है। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह निर्माण विद्या, मूर्त्तिकला और चित्रकारी, ये कला के मूर्त्त विभाग हैं और क्रमशः अपनी कोटि में ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी विभाग करती है।"[1]

कुछ संस्कृत विद्वानों ने कला के अन्तर्गत भी काव्य का विवेचन किया है। किन्तु संस्कृत विद्वानों ने कला के विषय में कहा है कि कौशलिक की व्यंजना जिसके द्वारा हो वही कला है। इस प्रकार प्रसाद कला को वैसी वस्तु के रूप में देखने का आग्रह करते हैं जिसका सम्बन्ध प्रतिभाशालिनी रचना-शक्ति एवं अभिव्यक्ति से हो। उनके अनुसार, " कवि की अनुभूति को उसके परिणाम अभिव्यक्ति देखते हैं और अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिये हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं।"[2]

नाटक काव्य है या कला अगर काव्य और कला को अलग भी मानें तो भी नाटक का सम्बन्ध दोनों से है। कमलिनी मेहता के अनुसार " पाश्चात्य विचारधारा भी तो इसी मत की पुष्टि करती है। उनका भी यही मत है कि जिस प्रकार चित्रकार अथवा शिल्पकार वस्तु का निरूपण करता है उसी प्रकार काव्यकार भी। माध्यम भिन्न

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में काव्य और कला – प्रसाद वाङ्‌मय 4, पृ. 468.
2. – वही – पृ. 475.

आवश्यक है । अतः यह स्पष्ट है कि काव्य भी एक कला है, और यह सर्वत्र मान्य है कि नाटक काव्य का ही एक विशिष्ट अंग है ।"[1]

कमलिनी मेहता आगे लिखती हैं, "कला का परिष्कृत रूप काव्य है और ... अभिव्यक्ति की परंपरा में शब्दों का माध्यम संभवतः अंत में ग्रहण किया गया और वह भी इस कारण कि उन्हीं के द्वारा कोमल तथा करुण भावनाओं का प्रदर्शन संभव हो सका । इसीलिए काव्य में कला की सर्वोत्कृष्टता मानी गई है और उसकी सर्वोच्चता का कारण है स्थूल तत्व का सूक्ष्म प्रयोग ।"[2]

पहले संस्कृत आचार्यों में यह धारणा थी कि काव्य और कला दो भिन्न तत्व हैं।[3] प्रसाद ने भी अपने निबंध में इसकी पुष्टि की है "... भारतीय ज्ञान दो प्रधान भागों में विभक्त था । काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं का वर्गीकरण उपविद्या में था । ... कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं ।"[4]

---

1. दृश्य श्रव्यत्व भेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम् ।
   दृश्य तत्राभिनेय तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ।। साहित्य दर्पण, परि.6 का ।
   नाटक के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन : कमलिनी मेहता में उद्धृत
   पृ. 7.
2. - वही - पृ. 18 - 19.
3. इसमें सन्देह नहीं है कि संस्कृत आचार्यों में काव्य से कला को पृथक मानने की एक प्रथा सी दिखाई देती है - नाटक के तत्व मनोवैज्ञानिक अध्ययन, कमलिनी मेहता - पृ. 6.
4. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में काव्य और कला- प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 467.

धीरे-धीरे संस्कृत आचार्यों के मन में भी परिवर्तन आया। काव्यादर्श में दण्डी ने बताया कि काव्य में यदि किसी कला का उल्लेख हो तो उसी कला के नियमों या सिद्धान्तों के अनुसार हो क्योंकि काव्य और कला दोनों के भिन्न धर्म हैं। यह तो हुआ काव्य और कला को भिन्न माननेवाला मत। काव्य और कला की भिन्नता के बावजूद उनमें निकटता देखने सम्बन्धी दृष्टि के अन्तर्गत भामह का उल्लेख करते हुए प्रसाद ने लिखा है - "भामह ने भी जहाँ काव्य का विषय संबंधी विभाग किया है, वहाँ वस्तु के चार भेद माने हैं -- देवचरित शंसि उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ भामह का तात्पर्य है कि कला संबंधी विषयों को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है। काव्य का एक विभाग कला भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।"[1]

कला को मूर्त्त और अमूर्त्त रूप में विभाजित कर काव्य को अमूर्त्त रूप में रखा गया है। चित्र, शिल्प, वास्तु कलाओं को स्थूल तत्त्वों पर आधारित होने से मूर्त्त मान लिया गया है। पर संगीत को अनेक विद्वानों ने अमूर्त्त माना है। लेकिन ध्वनि पर अवलम्बित संगीत को संपूर्णतः अमूर्त्त मानना कठिन है। प्रसाद लिखते हैं "कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं क्योंकि इसमें आनंदांश या तल्लीनता की मात्रा अधिक है, किन्तु है वह ध्वन्यात्मक। अनुभूति का ही वाङ्मय अस्फुट रूप है। इसलिए इसका उपयोग काव्य के वाहनरूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।"[2]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, में काव्य और कला, प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 473.
2. - वही -

इसीलिए संगीत को अनुभूति का वाहक मानकर काव्य से उसे सम्बन्धित किया जाता है। प्रसाद ने काव्य को लेकर उसके विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित लिखे हैं। उनमें प्रमुख हैं --

1. कविता रहस्यवाद 2. कवि और कविता 3. काव्य और कला 4. आरम्भिक पाठ्य काव्य 5. रहस्यवाद 6. यथार्थवाद और छायावाद।

कविता चाहे कितनी ही स्वान्तः सुखाय क्यों न लिखी जाय पर उसकी सार्थकता तभी मिलती है जब उसका रसास्वाद हो जाय। वह रसास्वाद एक अद्भुत आनंद होता है। वह तभी संभव होता है जब कवि के दृष्टिकोण के अनुसार उस रचना का पठन हो जाय। तभी अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। इस सन्दर्भ में गुलाबराय का कहना है -- "... यदि पाठक किसी कविता का पूर्णतया रसास्वाद करना चाहता है तो उसको कम-से-कम अध्ययन के समय अपनी रुचि पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।"[1]

हर एक व्यक्ति की अपनी अनुभूतियाँ और अपने-अपने भाव होते हैं। पर कवि और साधारण व्यक्ति में अन्तर यही है कि साधारण व्यक्ति उसको काव्यात्मक रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। पर कवि उसको रचना के माध्यम से अभिव्यक्त कर पाता है। सच्चा कवि वही है जब वह अनहोनी को होनी कर देता है। कविता सक्रिय रूप से प्रभाव डालती है। प्रसाद ने "कवि और कविता" में कहा है -- "कवि में

---

1. काव्य के रूप, गुलाबराय - पृ. 12.

लोक को तलवार ग्रहण करा देने की शक्ति है, वह चिर:दुखी को सुखमय कर सकता है, पर तब जब वह सच्चा कवि हो । "[1]

ऐसा अक्सर देखा जाता है कि एक ही समय के दो कवियों की रचनाओं की प्रवृत्ति में बहुत भिन्नता दिखाई पड़ती है इसका कहना है कि रचना कवि की आत्मानुभूति तथा उसकी प्रवृत्ति के अनुसार होती है । इसलिए प्रसाद ने काव्य को संकल्पात्मक अनुभूति माना है । इसको स्पष्ट करते हुए अपने उक्त निबन्ध में लिखते हैं : " काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है । वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है । विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है । "[2]

संकल्पात्मक मूल अनुभूति की स्पष्ट परिभाषा देते हुए उनका कहना है -- " संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा । आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है । "[3]

1• " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " में कवि और कविता प्रसाद वाङ्मय 4, पृ• 442•

2• - वही - पृ• 471•

3• - वही - पृ• 472•

काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की ? दूसरे शब्दों में वस्तु (content) महत्वपूर्ण है या रूप (Form) इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रसाद ने लिखा है -- "काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी।"[1] प्रसाद का कविता के सौन्दर्यशास्त्र के सन्दर्भ में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कथन है जो आधुनिक धारणा को व्यक्त करता है कि हर महत्वपूर्ण काव्य अपने अनुरूप रूप ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः वस्तु और रूप दो अलग चीजें नहीं है। ये दोनों मिल कर ही कविता बनते हैं। मन के भावों के आधार पर कविता को दो रूपों में विभाजित किया गया है - "कथामूलक" और "भावमूलक"। इस सम्बन्ध में प्रसाद का कहना है — "भावमयी कविता प्रायः दो प्रकार की दिखाई देती है, जैसे कि "कथामूलक भाव" और "भावमूलक कविता"। कथामूलक भावों का प्रायः ऐतिहासिक या पौराणिक काव्यों में समयानुकूल या आवश्यकतानुसार समावेश दिखाई पड़ता है। ... दूसरी भावमूलक कविता, जिसमें भाव को प्रधान मानकर कविता की जाती है, वह एक तो भाव के अनुकूल कथा बनाकर लिखी जाती है ...."[2]

---

1. "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में काव्य और कला प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 475.
2. "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में कवि और कविता, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 443 से- 444.

कविता के रसास्वाद पर विचार करते हुए प्रसाद ने आरम्भिक " पाठ्य काव्य " की ओर भी अपनी दृष्टि डाली है। प्रसाद ने श्रव्य काव्य में पाठ्य काव्य की संज्ञा दी है और लिखा है कि " नाट्य से अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति ग्रन्थों में श्रव्य कहते हैं। कारण कि प्राचीनकाल में वे सब सुने या सुनाये जाते थे, इसलिए श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि धर्म ग्रन्थों के लिए भी व्यवहृत थे। किन्तु आजकल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें पाठ्य काव्य कहना अधिक सुसंगत होगा। वर्णनात्मक होने के कारण वे काव्य जो अभिनय के योग्य नहीं पाठ्य ही हैं।"[1]

प्रसाद को काव्य सम्बन्धी चिन्तन के ऐतिहासिक विकास से परिचय था। वे अपने साहित्य चिंतन में परम्परा को पचाते हुए उसकी अगली कड़ी बनते हैं। काव्य के विषय में प्लेटो की जो धारणा थी, उसका भी विवेचन करते हुए प्रसाद ने कहा है --
" ... काव्य वर्णनात्मक और अभिनयात्मक दोनों ही है। जहाँ कवि स्वयं अपने शब्दों में वर्णन करता है, वह वर्णनात्मक और जहाँ कथोपकथन उपन्यस्त करता है, वहाँ अभिनयात्मक। "[2]

प्रसाद ने आरम्भिक पाठ्य काव्यों के रूप में रामायण और महाभारत को ही माना है। रामायण आदर्श चरित्रों से निर्मित होने के कारण करुण रस प्रधान होने पर भी आदर्शकाव्य माना गया है।

---

1. " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " में आरंभिक पाठ्य काव्य, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ० 517.
2. - वही -

दूसरी ओर महाभारत में करुण-रस की कमी नहीं है लेकिन वह आदर्श-परक नहीं, यथार्थवादी काव्य ही कहा गया है ।

प्रसाद ने अपने निबन्ध में यथार्थवाद, छायावाद और रहस्यवाद दृष्टि डालकर उनको भारतीय मनीषा के आधार पर परखने का प्रयत्न किया है । उन्होंने महाभारत को आरम्भिक यथार्थ-वादी काव्य माना है और रामायण को आरम्भिक आदर्शवादी काव्य । उनकी धारणा है कि आदर्शवाद समाज के लिए हितचिंतक है । वह केवल समाज को कैसा होना चाहिए - यह बतलाता है । आदर्शवादी धारणा के अनुसार न्याय और अन्याय में न्याय की ही विजय होती है और अन्याय की पराजय तथा घोर निन्दा । पर यथार्थवाद समाज की सही वास्तविकता पर दृष्टि डालता है । वह अन्याय की निन्दा नहीं करता पर उसके लिए कारणभूत तथ्यों को ढूँढ निका-लता है । इसलिए यथार्थवाद में वेदना का मूल निहित होता है । इतिहास और यथार्थ दोनों वास्तविकता को महत्त्व देते हैं फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है । इसी का स्पष्टीकरण करते हुए प्रसाद ने लिखा है - "..... यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है । वह चित्रित करता है समाज कैसा है या था, किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है या न धर्मशास्त्र - प्रणेता ।" [1]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में यथार्थवाद और छायावाद प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 524.

इतिहासकार साहित्य रचते समय कल्पना को ले नहीं सकता । पर यथार्थवादी साहित्यकार कल्पना के साथ साहित्य को सही दिशा में ले जाने का प्रयत्न कर सकता है । उनका कहना है - " साहित्य, समय की वास्तविकस्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्श-वाद का सामंजस्य स्थिर करता है । दुःख-दग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है । उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है ।"[1]

प्रसाद ने यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य में आरम्भ भारतेन्दु - काल से माना है । इसकी उत्पत्ति के बारे में उनका कहना है कि एक समय वह था जब प्राचीन ग्रन्थों की महानता कम हो गयी और वे साधारण बन गये । लेकिन नवोत्थानकाल अर्थात् अंग्रेजी शासन में देश की जनता की अवस्था आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक आदि स्तर पर गिरी हुई थी । इस हाल में लोगों की दृष्टि प्राचीन ग्रन्थों की महानता की ओर जाने लगी और उनके आदर्शों को उपस्थित किया जाने लगा । महाभारत के चरित्रों को यथार्थ माना जाने लगा । संस्कृत में " मृच्छकटिकम् " जैसे नाटकों वाले यथार्थ का रूप साहित्य में पहले से था ही । प्रसाद के जमाने में यथार्थवाद और आदर्शवाद पर लेखकों ने अपने-अपने ढंग से खूब विचार किया था । प्रेमचंद और प्रसाद दोनों समकालीन थे । दोनों कथाकारों ने यथार्थ और आदर्श का विवेचन किया है । प्रसाद ने यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए

---

1. " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : में यथार्थवाद और छायावाद, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 524.

अपने निबन्ध में कहा है -- " यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात । उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है । लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि प्रसाद का यथार्थवाद सम्बन्धी चिन्तन आजकी यथार्थवाद सम्बन्धी धारणा के निकट होते हुए भी थोड़ा भिन्न है । प्रेमचन्द की " यथार्थ-वाद " अलग नहीं था क्योंकि वे केवल जीवन की कुरूपताओं के चित्रण को यथार्थवाद समझते थे और इसीलिए उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कल्पना करनी पड़ी थी । आज यथार्थवाद केवल यथार्थपूर्ण वास्तविक चित्रण नहीं माना जाता - ऐसे चित्रण को प्रकृतवाद (Naturalism) कहते हैं । यथार्थवाद में बुराइयों से संघर्ष की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि समय के अनुसार यथार्थवादी दृष्टि भी परिवर्तित होती रही है । प्रसाद ने अपनी परिभाषा को और बढ़ाते हुए कहा है -- " यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है । वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है - वेदना ।"[2] अतः जीवन के अभावात्मक पक्ष का अंकन मात्र यथार्थवाद नहीं है, अपितु करुणा और सहानुभूति के चित्र भी वहाँ मिलते हैं ।

---

1. " काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध " में यथार्थवाद और छायावाद ", प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 522.

2. - वही - पृ. 524.

प्रसाद ने छायावाद - सम्बन्धी विवेचन भी अपने निबन्ध में प्रस्तुत किया है । वे स्वयं छायावाद के महान स्तंभ माने जाते हैं अत: छायावाद सम्बन्धी उनके चिंतन का महत्त्व स्पष्ट है । अनेक विद्वानों का मत है कि हिन्दी में छायावाद का आगमन अंग्रेजी के Romanticism शब्द से हुआ है ।[1] इसका स्पष्ट विरोध करते हुए प्राचीन भारतीय आचार्यों के उल्लेख के साथ कहा है कि साहित्य में छाया, वक्रता, लावण्य आदि का सौंदर्यमूलक प्रयोग अभिनवगुप्त, दण्डी, वामनआदि के द्वारा बहुत पहले ही किया गया है । इसलिए छायावादी काव्यधारा कोई विदेशी काव्यांदोलन नहीं है । उसका उद्गम और प्रेरणा-स्रोत भारत ही है । छायावाद को पूर्णत: प्रकृति-निर्भर काव्यधारा माननेवाले मत का विरोध करते हुए प्रसाद ने लिखा है -- " प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है । यद्यपि प्रकृति का आलंबन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से संबंध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता ।"[2]

" छायावाद को पाश्चात्य छायाभास और बंगला से मूल प्रेरणा मिली ।"[3] ऐसी धाराओं के विरुद्ध छायावादी काव्य को संस्कृत काव्यों की परम्परा में ही देखने का आग्रह जयशंकर प्रसाद

---

1. छायावाद का उद्भव अंग्रेजी और बंगाल की प्रेरणाओं से हुआ है ।
   - छायावाद का विश्लेषण और मूल्यांकन, दीनानाथ शरण पृ. 22.
2. " काव्य और कला तथा अन्य निबंध " में यथार्थवाद और छायावाद " - प्रसाद वाङ्मय 4, पृ. 528.
3. छायावाद विश्लेषण और मूल्यांकन, दीनानाथ "शरण" -पृ.24.

कहते हैं - "छाया - भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक - विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह अंतर स्पर्श कर के भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमय होती है।"[1]

जहाँ दूसरे विद्वानों को छायावाद पर विदेशी प्रभाव ही दिखायी देते हैं वहाँ प्रसाद छायावाद को भारतीय काव्य परंपरा में रखकर देखते हैं जो उनकी ऐतिहासिक चेतना को, और वैचारिक मौलिकता को, देते हैं। कुछ विद्वानों ने छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न माना है। "हरिऔध जी ने अपने "छायावाद" नामक एक निबंध में तो इसी पर विचार किया है कि क्या … छायावाद के पर्याय रूप में रहस्यवाद शब्द को गृहीत किया जा सकता है। ... अज्ञेय भावनाओं का प्रकाश छायावादी रचनाओं देखा जाता है - अतः उसका प्राचीन नाम तो रहस्यवाद ही है, जिसे अंग्रेजी में Mysticism कहते हैं।"[2] हिन्दी में मध्यकालीन काव्य में रहस्यवाद के दर्शन आलोचकों ने किये थे। छायावाद तो बीसवीं सदी का काव्यांदोलन है। रहस्यवाद का संबंध आत्मा-परमात्मा के बीच रागात्मकता की अनुभूति और उसकी व्यंजना से है।

---

1. काव्य और कला तथा निबन्ध में यथार्थवाद और छायावाद, प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 528.

" रहस्यवाद (Mysticism) से तात्पर्य वह साधना, चिंतन या भावना है जिसके आश्रय जीव या मानव उस अव्यक्त, अपार, रहस्यमय परम सत्ता का रहस्य जानना, उसके साथ अनुराग स्थापित करना, उसमें आत्मलीन होना चाहता है ।" [1]

हरिऔध की भाँति ही डा॰रामकुमार वर्मा छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं मानते । वे मानते हैं कि आत्मा व परमात्मा का गुप्त विलास रहस्यवाद है और वही छायावाद । " छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है । वह भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन में जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है । "[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार " छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए । एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य - वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है । ... दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है ।" [3]

---

1. हिन्दी काव्य : प्रमुखवाद एवं प्रवृत्तियाँ : कृष्णदेव झारी - पृ॰ 10॰
2. विचार दर्शन - रामकुमार वर्मा - पृ॰ 72॰
3. छायावाद का विश्लेषण और मूल्यांकन - दीनानाथ शरण - पृ॰ 10॰

प्रसाद ने इन मतों का विरोध किया है। उनकी दृष्टि में छायावाद और रहस्यवाद भिन्न वस्तुएँ हैं। छायावाद जहाँ परमसत्ता की जिज्ञासा और कौतूहल तक ही सीमित रहता है, वहाँ रहस्यवाद का वास्तविक उन्मेष आत्मा-परमात्मा के विरह मिलन की नाना अनुभूतियों से होता है। विद्वानों का यही मत है कि छायावाद एक आधुनिक प्रवृत्ति है तो रहस्यवाद प्राचीनकाल से प्रचलित धारा है। छायावाद और रहस्यवाद दोनों को अभिन्न मानने के पीछे छायावाद में अंकित रहस्यपरक उत्सुकता है जिसे रहस्याभास कहा जा सकता है, लेकिन आलोचकों ने उसे प्रायः रहस्यवाद ही कह दिया है। "वास्तव में दोनों की अभिन्नता का भ्रम इसलिए फैला, क्योंकि पंत, निराला, महादेवी आदि हमारे छायावादी कवियों ने ही नवीन छायावादी शैली में रहस्यवाद की व्यंजना की।"[1]

आत्मा, अनात्मा और शिवात्मा से ही जगत् की सृष्टि मानी जाती है। कवि का निजी रूप आत्मा है, शेष सब दृश्यमान चराचर जगत् अनात्म है और परमशक्ति परमात्मा। इस सम्बन्ध में कृष्णदेव झारी का कहना है - "जब छायावादी कवि आत्म का अनात्म से अर्थात् अपनी आत्मा का चराचर विश्व से सम्बन्ध और अनुराग स्थापित करता है। और आत्म-अनात्म की ही सीमाओं में अपनी भावाभिव्यक्ति करता है, तो उसकी कविता छायावादी कविता कही जाती है, किन्तु जब वह अपनी आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध और प्रेम व्यक्त करता है, तो उसका काव्य रहस्यवादी काव्य बन जाता है। इस प्रकार छायावाद और रहस्यवाद आधुनिक काव्य की भी दो स्वतंत्र धाराएँ हैं।"[2]

---

1. काव्य : प्रमुखवाद एवं प्रवृत्तियाँ - कृष्णदेव झारी - पृ. 23.
2. - वही - पृ. 23 - 24.

भारत में रहस्यवाद को विदेशी प्रभाव-स्वरूप उत्पन्न माना जाता है, किन्तु तथ्य इसके विपरीत है। रहस्यपरक भावना के मूल में सेमेटिक धर्म को मानकर कुछ विद्वानों ने इसे विदेशी तत्व ठहराया है। पर प्रसाद ने इसका विरोध किया है। "आचार्य शुक्ल के इस विचार का कि ईश्टर की दासियों के धार्मिक भावों से रहस्यवाद को प्रेरणा मिली और इस पर ईसाइयत का प्रभाव है - प्रसाद विरोध करते हैं।"[1]

कृष्णदेव शर्मा के शब्दों में - "उपनिषद् काल से आधुनिक युग तक भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की अनुभूतिधारा किसी-न-किसी रूप में प्रवाहमान रही है। कुछ आरंभिक विचारकों जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद को सेमेटिक जातियों या योरोप की देन मानने की भूल की थी, पर अब यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि रहस्यवाद भारतीय अध्यात्म और दर्शन की आदि एवं अभिन्न प्रवृत्ति है।"[2]

कहा जाता है कि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ही रहस्यमयी दृष्टि का उल्लेख हुआ है जो उपनिषदों में विकसित हो गयी है। वैदिककाल से लेकर यह रहस्यवादी भावना आगमों में से होती हुई आगे बढ़ी। यह

---

1. कुछ लोगों का कहना है मेसोपोटामिया या बैबीलन के बाल, ईश्टर प्रभृति देवताओं के मंदिरों में रहनेवाली देवदासियां ही धार्मिक प्रेम का उद्गम हैं और वहीं से धर्म और प्रेम का मिश्रण, उपासना में कामोपभोग इत्यादि अनाचार का आरंभ हुआ तथा यह प्रेम ईसाई-धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव-धर्म को मिला। किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि काम को धर्म में अच्छा स्थान है, उद्गम में बहुत बड़ा प्रभाव ऋग्वेद के समय में ही माना जा चुका है —
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।"
"काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में रहस्यवाद-प्रसाद ग्रन्थावली-4, पृ. 478
2. हिन्दी काव्य - प्रमुखवाद एवं प्रवृत्तियां - कृष्णदेव शर्मा-पृ. 14.

रहस्य-सम्प्रदाय अद्वैतवादी कहलाने लगा । अद्वैतमूलक रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को आत्मा का अभिन्न अंग मान लिया गया था और शैवागमों से सहज आनंद की कल्पना की गयी । यही रूप एक ओर अनात्म और दुःखमय क्षणवादी बौद्ध हीनयान-संप्रदाय और दूसरी ओर आत्मवादी आनंदमय रहस्यसंप्रदाय के रूप में विकसित हुआ । बौद्धों का शून्यवाद विख्यात है । आर्य्य जनता में प्रचलित वैदिक बहुदेवपूजा का समन्वय महायान सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ । वैसे ही धार्मिक आर्य्यों से पौराणिक धर्म का विकास हुआ । श्रीकृष्ण को अवतार पुरुष माना गया । यही कृष्ण के अवतारवाद में मिलन और आनन्द के साथ आगे चलकर विरहोन्मुख होने की बात भी आयी । इस की ओर संकेत करते हुए प्रसाद ने अपने निबन्ध में लिखा है —

"..... यह मानने को मैं प्रस्तुत नहीं कि वैदिक इंद्र के आधार पर पौराणिक कृष्ण की कल्पना नहीं की गयी । कृष्ण अपने युग के पुरुषोत्तम थे, उनका व्यक्तित्व बुद्धिवाद और आनंद का समन्वय था । इंद्र की ही तरह अंशतः आत्मवाद समर्थन करने पर भी कृष्ण की उपासना में समरसता नहीं, अपितु द्वैतभावना और समर्पण ही अधिक रहा । मिलन आनंद से अधिक वह उपासना विरहोन्मुख ही बनी रही ।"[1]

बौद्ध अनात्मवाद और वैदिक आत्मवाद के समन्वय से मायावाद का प्रसार हुआ । इसके साथ-साथ महायान और पौराणिक-धर्म से शून्यवाद से विभक्त होकर सहज आनंद को अपना लिया । सहज लोग भी एक ओर कृष्ण संप्रदाय की द्वैतमूला भक्ति में रमे तथा दूसरी ओर आगमों के अनुयायी बनें । इन आगमों के भी कई भेद हुए — वैष्णवागम, शैवागम,

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में "रहस्यवाद" प्रसाद वाङ्मय 4 पृ. 485.

शाक्तागम आदि । इन भेदों पर विचार करते हुए प्रसाद लिखते हैं - " कुछ लोग आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को इदम् से अहम् में पर्यवसित करने के समर्थक थे और वे शैवागमवादी कहलाये । जो लोग आत्मा को अहम् की शक्तितरंग में लीन होने को साधना मानते थे, वे शाक्तागमवादी हुए ।" [1]

अनात्मवादी बौद्धों की धारणा ने आगे चलकर बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिरत्न के स्थान पर कामिनी, काम और को प्रतिष्ठित किया । धारणी मंत्रों की योजना की । मंत्रात्मक भावनाओं ने मूर्ति का रूप धारण कर लिया तथा परोक्ष प्रतापफलों की प्रचुरता हुई । बौद्धों के उत्तराधिकारी ने भी शून्यवाद से घबराकर आनंदवाद को फिर अपना लिया । विचारों में " सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं सर्वमनात्मम् - पर आनंद-स्वरूप योगियों ने ले लिया । तदनन्तर नाथ सम्प्रदाय और चौरासी सिद्धों की परम्परा चली थी । इन दोनों की परंपरा एक होने, पर भी इनके आलंबन में भेद है । एक शून्य कहकर भी निरंजन में लीन होना चाहता है और दूसरा ईश्वरवादी होने पर भी शून्य को भूमिका मात्र मान लेता है । प्रसाद का कहना है -- " कवित्व की दृष्टि से भी कबीर पर सिद्धों की कविता की छाया है । उन पर कुछ मुसलमानी प्रभाव भी पड़ा अवश्य, परन्तु शामी पैगंबरों से अधिक उनके समीप थे वैदिक ऋषि, तीर्थंकर, नाथ और सिद्ध ।" [2]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में " रहस्यवाद ", प्रसाद वाङ्मय 4 - पृ. 486.
2. - वही - पृ. 489.

भक्ति काल में आकर यह रहस्यवाद विरहोन्मुख हो गया है । कबीर के निर्गुण रहस्यवाद के साथ मीरा और सूरदास के सगुण के माध्यम से रहस्यवाद विरहोन्मुख बन गया ।

प्रसाद ने रहस्यवाद को भारतीय संपत्ति माना है - " इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है । हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है । वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं ।"[1] अगर छाया-वाद पर ऐसे परम्परापुष्ट रहस्यवाद का किंचित् प्रभाव पड़ा हो तो इसमें क्या आश्चर्य ?

इस प्रकार प्रसाद के छायावाद यथार्थवाद और रहस्यवाद की प्रमुखता साहित्य में स्पष्ट करते हुए उनका उद्गम भारतीय मनीषा में ही ठहराते हुए उनका विकास स्पष्ट किया है । इन निबंधों में प्रसाद का इतिहासवेत्ता मन मिलता हैं । प्रसाद की साहित्यिक आलोचना के नेपथ्य में उनकी ऐतिहासिक चेतना कार्यरत है ।

प्रसाद के उपन्यासों में ऐतिहासिक चेतना :-

प्रसाद के संपूर्ण लेखन में उपन्यास विशेषतः अपना भिन्न रूप दर्शाते हैं । " कंकाल, " तितली " और " इरावती " में अन्तर्वस्तु - संबंधी उनके भिन्न-भिन्न रचनात्मक दृष्टिकोणों का परिचय मिलता है । फिर भी इन तीनों (अंतिम अपूर्ण) उपन्यासों में एक गहरी सम्बद्धता भी

---

1. " काव्य और कला तथा अन्य निबंध " में रहस्यवाद, प्रसाद वाङ्मय-4, पृ. 490

स्पष्ट दिखायी पड़ती है। दोनों के कथानक घटनाबहुल हैं दोनों में विवरणात्मकता का भरपूर उपयोग किया गया है। ऐसा यथार्थ जीवन को चित्रित करने के लिए किया गया है। वास्तव में, "... उपन्यासों के सहारे प्रसाद ने समाज को खुली आंखों से उसके असली रूप को देखा है। वे यथार्थ को चित्रित करके भी मर्यादा से नहीं हटे हैं। उनके "कंकाल और तितली सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए सामाजिक शुद्धीकरण को प्रोत्साहित करते हैं। ऐसा लगता है कि प्रसाद की विचारप्रेरित आकुलता उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ के नाम पर अभिव्यक्त हुई है।"[1]

कुछ आलोचकों का मत है कि प्रसाद अपने व्यक्तित्व को उपन्यासों के माध्यम से उतना अभिव्यक्त नहीं कर पाये जितना नाटकों और कहानियों के माध्यम से कारण यह है कि, "उपन्यास में विवरणात्मकता बहिर्मुखता या मानव जीवन के अनेक रूपों के परिचय की जरूरत होती है। रोमाण्टिक कवियों के स्वभाव से यह पद्धति मेल नहीं रखती। .... कवि प्रसाद के उपन्यासों के साथ यही दुर्घटना हुई। उनकी कहानियों की थोड़ी बहुत चर्चा हुई, पर उपन्यास अछूते रह गये।"[2]

प्रसाद के काव्य में व्यक्ति की रागात्मक चेतना, जीवन की सौन्दर्यमय सौन्दर्यपूर्ण, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक पहलुओं की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु वर्तमान जीवन और समाज के दैनंदिन यथार्थ का चित्रण उनके कथा साहित्य से हुआ है। उनके उपन्यासों में विशेषतः कंकाल में मानव जीवन से संबंधित अनेक स्थितियों पात्रों तथा मानवीय कमजोरियों का उल्लेख मिलता है।

---

1. प्रसाद साहित्य और समीक्षा, उर्मिला देवी शर्मा – पृ. 87.
2. मधुमती अगस्त 1989 में प्रसाद कथा साहित्य में यथार्थवाद",
   शम्भुनाथ – पृ. 1.

घटनाओं का स्थिरगति से घूमना-फिरना कुछ अस्वाभाविकता तो देता है, पर इसका मतलब यह नहीं कि उपन्यास घटनाओं के विस्तारण में पूरी तरह असफल हो गया है ।

प्रसाद के अधिकांश नाटकों और कहानियों में इतिहास पर आधारित कथावस्तु उठायी गयी थी । इस बात को देखकर उनके समकालीन प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचन्द ने भी उनके प्राचीन वैभव के रागालाप की कड़ी आलोचना की थी । संभव है, इसी से भी प्रेरणा पाकर प्रसाद ने कंकाल की रचना की हो । कंकाल के प्रकाशन के बाद उसकी प्रशंसा करते हुए प्रेमचन्द ने एक पत्र में (1930) प्रसाद को लिखा है - "पहले मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं कंकाल पर आपको बधाई दूं । मैं ने इसे आदि से अन्त तक पढ़ा और मुग्ध हो गया । आपसे मेरी जो पुरानी शिकायत थी वह बिलकुल मिट गयी । मैं ने एक बार आपकी पुस्तक "स्कन्दगुप्त" की आलोचना करते हुए लिखा था आपने इसमें गड़े मुर्दे उखाड़े हैं । इस पर मुझे काफी सजा भी मिली थी, पर जो लेखनी वर्तमान समस्याओं को इतने आकर्षक ढंग से जनता के सामने रख सकती है, इस तरह दिलों को हिला सकती है उसे, फिर वही बात मुँह से निकलती है क्षमा कीजिए । पूर्वजों की कीर्ति का भविष्य के निर्माण में भाग होता है और बड़ा भाग होता है लेकिन हमें तो नये सिरे से दुनिया बनानी है । कंकाल में एक समाज के सच्चे हितैषी की आँखों का गर्म, बड़ी-बड़ी बूंदोंवाला आँसू है । घंटी और यमुना दोनों का क्या कहना है । मैं हंस में इसकी वृहद् आलोचना करूँगा ।"[1]

उपन्यासकार प्रसाद और प्रेमचन्द की रचना-शैली की तुलना करते हुए सुषमा धवन का कहना है - "प्रसाद और प्रेमचन्द के समाज में मूलतः कोई अन्तर नहीं, किन्तु प्रेमचन्द ने उसकी अपनी तरह का विवेचन अधिक किया है

---

1. प्रसाद और प्रेमचन्द - कितने पास कितने दूर " - डा. शारदु का लेख "मधुमती", जून 1991. पृ. 14.

और प्रसाद ने उसकी अन्तरात्मा को स्पर्श करने की चेष्टा की है । "[1]
दर असल प्रसाद मूलतः कवि थे और उपन्यास के शिल्प में भी उनका कवि पूरी तरह गुम नहीं हो जाता । वे हृदय की रागात्मकता, सांस्कृतिक प्रतीकों, अतीत और उसकी परम्पराओं को छोड़ नहीं कहीं पाते क्योंकि ये उनके स्वभाव के अंग हैं । उनकी तुलना में प्रेमचंद अधिक गद्यात्मक है ।

प्रसाद जी की धारणा थी कि वर्तमान अतीत का ही फल है । यदि वर्तमान को सुधारना है तो अतीत के गहरे बोध से ही सम्भव होगा । अतीत के प्रति इस मोह की अभिव्यक्ति केवल काव्य या नाटक या कहानियों में ही नहीं, उपन्यासों में भी प्रसाद अपने ढंग से की है । वे समकालीन जीवन को ही अपना लक्ष्य मानते है और इसे बहतर बनना चाहते है । इसके लिए .. " ... पहले वर्तमान का विश्लेषण करे और फिर उपलब्ध सूत्रों का अनुसरण अतीत में करते चलें । सम्भवतः इसी प्रकार की विचारधारा प्रसाद जी को वर्तमान से अतीत की ओर ले गई है । वे प्राचीन इतिहास के मननशील पाठक थे, इतिहास का सहयोग उनको सामाजिक उपन्यासों में भी प्राप्त हुआ है ...[2]

उपन्यास का जन्म से ही यथार्थ से सम्बन्ध रहा है । उपन्यास यथार्थ को अन्य विधाओं की तुलना मे सर्वाधिक वर्णित करता है । [3] इसीलिए प्रसाद के उपन्यासों का यथार्थपरक होना स्वाभाविक है । प्रसाद का यथार्थ-बोध इतिहास-विच्छिन्न नहीं । कंकाल में धर्म के खोखलेपन तथा सामाजिक विकृतियों का यथार्थ चित्रण हुआ है । तितली मे प्रसाद की धारणा बहुत

---

1. व्यक्तिवादी उपन्यास - सुषमाधवन - पृ. 200.
2. आधुनिक साहित्य, अभिप्रकाश, पृ. 36.
3. "उपन्यास सदा यथार्थ के धरातल पर विचार करता है, चाहे वह अतीत का हो, या वर्त्तमान का । ऐतिहासिक उपन्यास अतीत और वर्तमान को अंतःसूत्रित करने वाले ऐतिहासिक यथार्थ पर प्रतिष्ठित होने का फल है । -- हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास प्रतिमान एवं विकासेतिहास, सत्पाल चुघ -पृ. 19.

कुछ आदर्शवाद की ओर झुकी दिखायी देती है । यहा भी भारतीय संस्कृति की बात उनके ध्यान मे बराबर रही है । भारतीय ग्रामीण तथा शहरी सभ्यताएँ, सामाजिक एवं पारिवारिक विघटन आदि का वर्णन विस्तार मे मिलता है । इन दोनों उपन्यासों में स्थूलत: वर्तमान चेतना का चित्रण होते हुए भी सच पूछा जाय तो ऐतिहासिक चेतना से उसे जोड़ कर प्रस्तुत किया गया है । वैसे स्थूल रूप से कई जगह अतीत के अंश का भी चित्रण हुआ है । कंकाल और तितली जैसे सामाजिक उपन्यासों की रचना करते हुए भी प्रसाद अपनी अतीत के प्रति आस्था को छोड़ नहीं पाते । तीसरे अधूरे उपन्यास इरावती में प्रसाद ने कथानक को ऐतिहासिक फलक पर खड़ा किया था । नाटकों की ऐतिहासिक शृंखला में उनसे शुंग वंश का चित्रण बचा हुआ था, उसी का चित्रण यहाँ हो गया है । लेकिन विधिवश वे इसको पूरा नहीं कर पाये ।

प्रसाद के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों के माध्यम से समाज के चेहरे पर प्रकाश डाला गया है । कंकाल, और तितली मे पुरुष से अधिक स्त्री को प्रधानता दी गयी है' फिर भी दोनो उपन्यास वर्तमान की चेतना से ओतप्रोत है । प्रसाद की कथा-रचनाओं मे पुरुष और स्त्री पात्रों की भूमिका तथा उनके महत्व पर हिन्दी के आलोचकों का स्वभावत: ही ध्यान गया है । प्रसिद्ध समकालीन कथाकार भीष्म साहनी ने एक लेख लिखा था जयशंकर प्रसाद के कथा - साहित्य मे स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद जिसमे उन्होंने बताया था कि "प्रसाद पुरुष पात्रों को प्रायः दुर्बल चित्रित करते है, क्योंकि उनके अनुसार "प्रसाद की दृष्टि मे पुरुष स्वच्छन्दता - प्रेमी होता है ।" इस पर टिप्पणी करते हुए नवल किशोर लिखते है — भीष्म जी की बात गलत नहीं है, पर वे प्रसाद की पुरुष-प्रकृति संबंधी अव-धारणा को उनकी स्त्री-प्रकृति संबंधी अवधारणा की तुलना मे रखकर नहीं

देख पाए हैं ।"[1] कंकाल मे तारा, गाला और तितली मे तितली - शैला, पुरुष पात्रो की अपेक्षा प्रमुखता दी गयी है । इरावती मे सामाजिक नियम एवं पुरुषत्व के आगे इरावती के माध्यम से स्त्री की विषम स्थिति का चित्रण मिलता है । प्रसाद के ध्यान में यह हमेशा बना रहता है कि प्राचीन वैदिक संस्कृति में नारी पूजनीय मानी गयी है । उत्तरवैदिककाल से आगे चलते हुए धीरे-धीरे नारी की स्थिति गिरती गयी है । मुख्यत: धर्म की दृष्टि मे उसकी दशा बहुत सोचनीय बन गयी थी । इसी धारणा को लेकर प्रसाद ने शुंग कालीन कथानक को इरावती उपन्यास में इरावती को वेश्या, देवदासी, बौद्ध भिक्षुणी, कालिन्दी की सखी जैसे अनेक रूपों में दर्शाया है ।

प्रसाद ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज को सुधारने की भावना व्यक्त करते हैं । वे समाज के विरोधी नहीं थे, सामाजिक बुराइयों के विलोम मे थे । धीरे-धीरे समाज मे परिवर्तन आने की लालसा रखते थे । उनकी इस भावना को स्पष्ट करते हुए रामदरश मिश्र लिखते हैं, - "किसी वर्ग या जाति के प्रति घृणा का प्रचार किए बिना ही प्रसाद समाज मे आमूलचूल क्रांति के पक्षपाती हैं । वे रिक्त आदर्श के भी विरोधी है, रिक्त क्रांति के भी । वे एक अखंड मानवता के लिए एक अखण्ड समरसता का दर्शन प्रति - पादित करते हैं ।"[2] इस सुधारवादी भावना के साथ-साथ "समाजवाद" का प्रभाव भी उनके उपन्यासों मे मिलता है । डॉ॰शम्भुनाथ के शब्दों में, "प्रसाद बुर्जुआ अन्तर्राष्ट्रीयतावाद से प्रभावित थे । वह व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र के साथ-साथ व्यक्ति और विश्व के बीच भी अंत: संबंध स्थापित करना चाहते थे । उनके रोमांटिसिज्म के सामने

1· प्रसाद के उपन्यास : सही माध्यम की खोज का सवाल, नवलकिशोर, "मधुमती" मई 90 - पृ· 12·
2· प्रसाद : आलोचनात्मक सर्वेक्षण, रामदरश मिश्र - पृ· 262·

साम्यवाद एक ऐतिहासिक हलचल के रूप में खड़ा था, साम्यवाद का विरोधी होते हुए भी वह उसके प्रभाव से बच नहीं सकते थे। इस प्रभाव को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी पहचाना था, जब उन्होंने " कामायनी " में वर्गहीन समाज की अनुगूँज सुनी थी।"[1]

मानव जाति में समरसता एवं मानवतावाद का स्वप्न देखना प्रसाद जी का लक्ष्य रहा है। उन्होंने व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित करना चाहा था। प्रसाद ने व्यक्ति को प्रमुखता दी। व्यक्ति के परिवर्तन और विकास के लिए वे समाज को उत्तरदायित्व सौंपते हैं। डॉ॰ शंभुनाथ का कहना है - "प्रसाद श्रेणीवाद तथा वर्गविभाजित समाज व्यवस्था के हमेशा विरोधी थे, लेकिन श्रेणी-संघर्ष के समर्थक नहीं थे। वह केवल आत्मानुभूति, आत्मनिरीक्षण या आत्म समीक्षा की भूमिका से संतुष्ट थे। उनका कहना था, " सुधार और उन्नति में संघर्ष अनिवार्य है, परन्तु संघर्ष से बचने का एक उपाय है " आत्मनिरीक्षण।"[2] अपने उपन्यासों में प्रसाद अपेक्षाकृत अधिक भौतिकवादी आधार पर खड़े होते हैं। लेकिन वे सामाजिक व्यवस्था को एक इकाई मानकर चलते प्रतीत होते हैं। समाज में वर्गों की स्थिति से वे अवगत नहीं थे, ऐसा नहीं है। वर्ग-संघर्ष में उनका विश्वास ही नहीं था। समरसता और मानवतावाद की भाववादी भूमिका पर वे इसे कलात्मक ढंग से उपस्थित करते हैं।

कंकाल, तितली और इरावती इन तीनों उपन्यासों में प्रतिबिंबित प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का अध्ययन करने के लिए उनको अलग-अलग देखना समीचीन होगा। उनके उपन्यासों में वर्तमान और इतिहास दोनों की चेतना

---

1. " मधुमती " अगस्त 89 अंक लेख " प्रसाद तथा साहित्य में यथार्थवाद ", शंभुनाथ - पृ॰ 6.
2. - वही -

सम्मिश्रण है । एक आलोचक के शब्दों में, " .... प्रसाद ने एक ओर उपन्यास को अपने युग की सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाया है, तो दूसरी ओर अतीत के चित्रण के माध्यम के रूप में । उपन्यास के ये दोनों रूप उनके समकालीन तथा साहित्य में सुलभ है ।" [1] यह केवल स्थूल रूप में नहीं, बल्कि अपने युग की अभिव्यक्ति में भी सूक्ष्म रूप से उनकी ऐतिहासिक चेतना अन्तर्निहित रहती है ।

" कंकाल " में दो पीढ़ियों का अन्तराल स्पष्ट रूप से दिखाया गया है, जिसका धर्म के साथ गहरा संबंध है । श्रीचन्द्र, किशोरी देवनिरन्जन, कृष्णगोस्वामी, तारा की चाची नन्दा, चन्दा, ... बदन आदि पहली पीढ़ी के व्यक्ति थे । सारे चरित्र मानवीय हैं और उपन्यास में हर एक व्यक्ति की कुछ-न-कुछ कमजोरियां वर्णित हैं । इन सबको सही रास्ते पर लाने वाले व्यक्ति, कृष्णगोस्वामी के व्यक्तित्व में गांधीवाद का प्रभाव लक्षित करना कठिन नहीं है । कृष्णगोस्वामी हमारी प्राचीन संस्कृति से अभिभूत हैं और उसी के आलोक में उपदेश देते रहते हैं । उनकी बातों के माध्यम से प्रसाद ने इतिहास की वर्तमान चेतना की ओर संकेत किया है - " तुम्हीं ने प्रण किया था कि जब-जब धर्म की ग्लानि होगी, हम उनका उद्धार करने के लिए आवेंगे । तो क्या अभी विलम्ब है ? तुम्हारे बाद एक गौरिक का दूत आया था, वह दुःख को अधिक स्पष्ट बनाकर चला गया । विरागी होकर रहने का उपदेश दे गया, परन्तु उस शक्ति को स्थिर रखने के लिए शक्ति कहाँ रही ? फिर से बर्बरता और हिंसा ताण्डव-नृत्य करने लगी है - क्या अब भी विलम्ब है ? " [2]

1· प्रसाद की विचारधारा, दिनेश्वर प्रसाद - पृ· 239

2· " कंकाल ", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ· 96·

विजय, मंगल, तारा (यमुना), घण्टी, गाला, लतिका, बाथम दूसरी पीढ़ी के व्यक्ति हैं। विजय यथार्थवादी विचारों से तो मंगल आदर्शवादी धारणा से ओतप्रोत हैं। तारा और घण्टी असहाय एवं अबला नारी के प्रतीक हैं। प्रसाद ने हर एक व्यक्ति के अभावात्मक पक्ष को दिखाया है। चरित्रों और घटनाओं के माध्यम से उन्होंने वर्तमान धार्मिक विकृतियों का चित्रण किया है। प्रसाद की इस वर्तमान चेतना में ही उनके ऐतिहासिक बोध का आकलन करते हुए दिनेश्वर प्रसाद ने लिखा है — "कंकाल" भारतीय जीवन की विकृतियों के गहरे ऐतिहासिक बोध से उत्पन्न रचना है। हम जिसे समकालीन यथार्थ कहते हैं, वह केवल वर्तमान तक सीमित नहीं है। वह इतिहास की एक लम्बी प्रक्रिया की उपज है। उसकी सम्यक् अवगति-उसकी विकृतियों की सही पहचान-के लिए यह आवश्यक है कि उसे परम्परा या ऐतिहासिक आयाम में रखकर देखा जाय।"[1]

प्रसाद ने अनेक प्रकार के जारज पात्रों एवं कमजोरी से युक्त पात्रों की सृष्टि करके धर्म के कंकाल रूप को दिखाने का प्रयत्न किया है। धार्मिक रूढ़ियों और वर्ण-संबंधी अभिमान की शुद्धता और खोखलेपन को प्रसाद अच्छी तरह उजागर करते हैं "लेखक ने उपन्यास के सभी पात्रों को जारज प्रमाणित किया है। उसने इस प्रकार यह कहना चाहा है कि रक्त या वर्ण की शुद्धता का दावा निरर्थक हो गया है, क्योंकि जो व्यक्ति अपने को कुलीन और उच्च जातीय मानते हैं, वे वास्तव में अवैध और जारज हैं। इसी प्रकार, वह अपने यहाँ पूजित सन्यासधर्म की भी आलोचना करता है।"[2] यहाँ प्रसाद का रचनाकार अतीत के मिथ्यागौरव से परिचालित नहीं होता बल्कि आत्मालोचन की कष्टप्रद प्रक्रिया से गुजरता है। इस दृष्टि से डॉ॰ दिनेश्वर

---

1. प्रसाद की विचारधारा, दिनेश्वर प्रसाद – पृ॰ 239.
2. – वही – पृ॰ 239-240.

प्रसाद "कंकाल" को प्रसाद की रचनाओं में विशिष्ट और महत्वपूर्ण बतलाते हैं। "समस्त प्रसाद-साहित्य में "कंकाल" एकमात्र रचना है, जिसे प्रसाद का दूसरा व्यक्तित्व कहा जा सकता है - जो समस्त त्रुटियों के बावजूद उनका आत्मातिक्रमण है। वे भारतीय संस्कृति के जिस सिक्के का उज्ज्वल पहले अपने साहित्य में चित्रित करते रहे, उसका ही दूसरा पहलू इस उपन्यास में अंकित हुआ है।"[1]

प्रसाद की धमनियों में इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा बहती थी। इतिहास को कल्पना से जोड़कर देखने का मोह वे "कंकाल" में भी नहीं छोड़ पाये हैं। यहाँ उन्होंने एक रम्य कल्पना का भी प्रयोग किया है। मंगल के जन्म वृत्तान्त को एक रहस्य के रूप में उद्घाटित करते हुए उसको वर्धन वंश के साथ जोड़ दिया गया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने एक रम्य कल्पित कथा की सृष्टि की। कहा जा सकता है कि उन्होंने इतिहास के तथ्य को हानि न पहुँचाते हुए मंगल की पूर्वजा स्त्री को राज्यवर्धन की अपरिणीता वधू के रूप में चित्रित किया है। इतिहास इसका साक्षी है कि राजा जितने पराक्रमी होते रहे हैं उतने ही विलासी थे। इसलिए विवाह सम्बन्ध के बिना भी वे किसी स्त्री से सम्बन्ध रख सकते थे। समर्थ पुरुष व्यवस्था धर्म, कानून और नैतिकता को अपने पक्ष में करते आये हैं। संपूर्ण व्यवस्था का दबाव आम आदमी को झेलना पड़ता है। प्रसाद ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वर्तमान की मूल जड़ें अतीत में ही मिलती हैं। उपन्यास में कहा गया है — "श्रीकण्ठजनपद महाराजपुत्र राज्यवर्धन इस लेख के द्वारा यह स्वीकार करते हैं कि चन्द्रलेखा का हमारा विवाह-सम्बन्ध न होते हुए भी यह परिणीता वधू के समान पवित्र और हमारे स्नेह की सुन्दर कहानी है।

---

1. प्रसाद की विचारधारा, दिनेश्वर प्रसाद - पृ.243-244.

इसलिए इसके वंशधर साम्राज्य में वही सम्मान पावेंगे, जो मेरे वंशधरों को साधारणतः मिलता है ।"[1] समसामायिक भ्रष्टाचार भी अचानक नहीं प्रकट हो जाते बल्कि उसके कारण अतीत के नेपथ्य में निहित होते हैं।

यह निश्चित तथ्य है कि प्रसाद को अतीत के प्रति अपार श्रद्धा थी । भारतीय इतिहास में विशेषतः गुप्तवंश के प्रति उनका विशेष लगाव था । वे इतिहास के गंभीर और सजग अध्येता थे । उनके नाटकों से यह बात सिद्ध होती है । "कंकाल" जैसे उपन्यास में भी प्रसाद जी का यह लगाव छिप नहीं पाया है । इतिहास का अध्ययन करने वाले पात्र मंगल के मुँह से विजय के प्रति कही हुई इन बातों में प्रसाद का आग्रह स्पष्ट होता है – " गुप्त-वंश भारत के हिन्दू इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ है । सचमुच इसके साथ बड़ी-बड़ी गौरव-गाथाओं का संबंध है ।"[2]

गुप्त साम्राज्य के बाद वर्धन साम्राज्य का शासनकाल था । उस ऐतिहासिक क्रम का परिचय प्रसाद इन शब्दों में देते हैं – " देखो, थानेसर के एक कोने से एक साधारण सामंत-वंश गुप्त सम्राटों से सम्बन्ध जोड़ लेने में कैसा सफल हुआ । और, क्या इतिहास इसका साक्षी नहीं है कि मगध के गुप्त सम्राटों को बड़ी सरलता से उनके मानवीय पद से हटाकर ही हर्षवर्धन उत्तरापथेश्वर बन गया था ।"[3]

इस उपन्यास में प्रसाद ने मूलकथा से स्पष्टतः संबंध न होने पर भी तरह-तरह की ऐतिहासिक घटनाओं को मूलकथा से जोड़ा है । तारा, मंगल, विजय आदि हिन्दू धर्मावलंबी हैं तो बाथम-लतिका ईसाई धर्म के

---

1. " कंकाल ", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली – 3, पृ. 56.
2. – वही –
3. – वही –

माननेवाले । मुस्लिम धर्म को भी ले आने के उद्देश्य से उन्होंने शाला की कथा को भी जोड़ दिया और इतना ही नहीं, मंगल-शाला को विवाह बन्धन मे बाँधकर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक एकता स्थापित करने की कोशिश भी की । लेकिन केवल इस्लाम धर्म की स्त्री के रूप में ही शाला का चित्रण नहीं हुआ है, इतिहास के प्रसिद्ध मुगलशासकों के वारिस के रूप में भी उसे उपस्थित किया गया है । उसकी माँ शबनम अपनी आत्मकथा मे यह स्पष्ट करती है - वह मुगलवंश से संबंधित मिरजा की परिणीता थी । राज-वंशों का गौरव चिरस्थायी नहीं होता । ऐतिहासिक प्रगति के समय का गुजरना नहीं है । व्यवस्था-परिवर्तन होते रहते हैं । मुगलवंश के अंतिम समय की ओर संकेत करते हुए सामंतो पतन को प्रसाद मिरजा की बातों से स्पष्ट करते हैं -- "मुगलो की विलासिता मे राज को खा डाला । क्या हम सब बाबर की संतान हैं ? आह । "[1]

फिर मुगल शासन के बाद अंग्रेजों के हमारे देश मे आगमन की सूचना देते हुए वे कहते हैं -- "मिरजा ! आज देहली का सिंहासन मुगलो के हाथ से बाहर है । फिरंगो की दोहाई है, कोई आशा न रही ।"[2]

उन्होंने इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से समाज-परिवर्तन की बात सामने रखने का प्रयास किया है । वर्तमान के लिए अतीत कितो हद तक लाभदायक भी है, प्रसाद उसकी सूचना देने मे नहीं चूकते -- "... वर्तमान सुख के अभाव में पुरानी स्मृतियों का धन, मनुष्य को पल-भर के लिए सुखी कर सकता है, और मुझे तुझे भी अपने जीवन में आगे चलकर कदाचित् इससे सहायता मिले, ... "[3]

---

1. "कंकाल", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 135.
2. - वही - पृ. 135.
3. - वही - पृ. 127.

अतीत को बारम्बार रचने में प्रसाद का यही बताना उद्देश्य है कि बिना अतीत का कोई वर्तमान नहीं होता । इसलिए वर्तमान को जानने के लिए अतीत का अध्ययन आवश्यक है । उनका एक पात्र कहता है — "आर्य समाज से भी मेरा कुछ सम्पर्क था : परन्तु मैं ने देखा कि वह खंडनात्मक है, समाज में केवल इसी से काम नहीं चलता । मैं ने भारतीय समाज का ऐतिहासिक अध्ययन करना चाहा और इसीलिए पाली, प्राकृत का पाठ्यक्रम स्थिर किया । भारतीय धर्म और समाज का इतिहास तब तक अधूरा रहेगा, जब तक पाली और प्राकृत का उससे संबंध न हो, ... "[1]

प्रसाद ने धर्म और संस्कृतियों के मर्म को समझा था । उनके पात्र सभी प्रमुख भारतीय धर्मों और संस्कृतियों के हैं - हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई । कृष्णशरण, देवनिरंजन, मंगल, तारा, विजय हिन्दू धर्म, बाथम, लतिका ईसाई और गाला मुस्लिम धर्म से सम्बद्ध हैं । लेकिन धर्म मनुष्य के व्यक्तित्व विकास के लिए अपरिहार्य हो, ऐसा प्रसाद नहीं मानते । वे हर एक धर्म और हर एक व्यक्ति में कोई-न-कोई कमजोरी का चित्रण करके उनकी परस्पर पूरकता की ओर मानो सूक्ष्म संकेत करते हैं । मंगल और गाला को वैवाहिक बन्धन में बाँधकर प्रसाद जो धार्मिक एकता का प्रचार नहीं करते बल्कि इसी बात की ओर इंगित करते हैं । मुख्यतः उन्होंने हिन्दू धर्म की विकृतियों को दर्शाया है, जो उनका अपना अधिकार-क्षेत्र भी था । लेकिन वे किसी का एक पक्षीय चित्रण नहीं देते । ढोंगी साधु और सन्यासियों का चित्रण देव - निरंजन के माध्यम से करते हुए ऐसी धार्मिक विडम्बनाओं का पर्दाफाश करते है जिसके तहत व्यक्ति को बलपूर्वक संयासी बना दिया जाता है ।[2] इसके कारण स्वाभाविक रूप से देवनिरंजन में अपने धर्म के प्रति श्रद्धा या कर्तव्यनिष्ठता की भावना नहीं रहती है । जबसे देवनिरंजन कृष्णशरण के सम्पर्क में आता है

---

1. "कंकाल", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 2 - पृ. 50.
2. निष्ठुर माता-पिता ने अन्य सन्तानों के जीवित रहने की आशा से अपने ज्येष्ठ पुत्र को महात्मा का शिष्य बना दिया । बिना उसकी इच्छा के यह संसार से - जिसे उसने अभी देखा भी नहीं था - अलग कर दिया गया । " - "कंकाल", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रन्थावली 3, पृ. 9.

तब से ही उसे धर्म का असली रूप समझमें आता है और मंगल से मिलकर भारत-संघ की स्थापना करके आपसी एकता लाने का प्रयत्न करता है । धर्म के कंकाल रूप का चित्रण करना ही प्रसाद जी का लक्ष्य रहा होगा । समय के दरम्यान जो धार्मिक प्रदूषण होते रहे उसे प्रसाद जी ने स्पष्टतः चिन्हित किया है । ओमप्रकाश जी के शब्दों में - "अनुभवी लेखक ने यह दिखलाया है कि हमारा धर्म आज "कंकाल" - मात्र समस्त असुन्दरता के साथ, इसमें न जीवन ही रहा है और न आकर्षण-विशेष स्वार्थ ने धर्म के स्वास्थ्य को क्षयग्रस्त बना दिया है वह शनैः-शनैः इसकी जीवन लीला को भी समाप्त करनेवाला है ।"[1]

हिन्दू धर्म की इन सारी कुरूपताओं ने उसकी महानता क्षीण कर दी है । आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से वह पिछड़ने लगता है । एक प्रकार से वह मानवीय आशा आकांक्षाओं का विद्रोही बनता जा रहा है । विजय ऐसे हिन्दू धर्म का विरोध करता है । यदि धर्म का निषेधी रूप ऐसे ही चलता रहा तो भविष्य में हिन्दू धर्म टिक नहीं सकता ।"[2] लेकिन प्रसाद का वास्तविक उद्देश्य केवल विरोधी स्वर तक ही सीमित नहीं है । उनका असल उद्देश्य यह है कि प्राचीन रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का शिकार बनकर समाज में जो धर्म की व्यवस्था बिगड़ती जा रही है । उसमें सुधार लाने का प्रयत्न किया जाय । इसके लिए एक ओर धर्म की कड़ी आलोचना की गयी है और दूसरी ओर मंगल के समन्वयवादी स्वर से विजय के विद्रोही स्वर को शामिल करने की कोशिश प्रसाद करते हैं - "विजय प्रत्येक संस्था का कुछ उद्देश्य है और उसे सफल करने के लिए कुछ नियम बनाए जाते हैं । नियम प्रायः निषेधात्मक होते हैं, क्योंकि मानव अपने को सब कुछ करने का अधिकारी

---

1. आधुनिक साहित्य, ओमप्रकाश, - पृ. 41.
2. पर हिन्दुओं के पास निषेध के अतिरिक्त और भी कुछ है ? - यह मत करो, वह मत करो, पाप है । जिसका फल यह हुआ है कि हिन्दुओं को पाप को छोड़कर पुण्य कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता ।
— "कंकाल" प्रसाद ग्रन्थावली 3, पृ. 54.

समझता है। कुछ थोड़े-से सुकर्म हैं और पाप अधिक हैं, जो निषेध के बिना नहीं रुक सकते। देखो, हम किसी भी धार्मिक संस्था से अपना संबंध जोड़ लें, तो हमें उसकी कुछ परंपराओं का अनुकरण करना ही पड़ेगा। मूर्ति-पूजा के विरोधियों ने भी अपने-अपने अहिन्दू सम्प्रदायों में धर्म-भावना के केन्द्र स्वरूप कोई-न-कोई धर्म-चिह्न रख छोड़ा है।"[1] प्रसाद शिवोपासक थे। उनकी रचनाओं में एकेश्वरवादी धर्म का परिचय मिलता है।"[2] बहुदेववादी हिन्दू धर्म का वे इस तरह से भी परिष्कार चाहते थे।

"कंकाल" के पात्रों की मानसिकता एवं उनकी कमजोरियों का कारण ढूंढ़ते हुए शम्भुनाथ जी लिखते हैं - "..... औपनिवेशिक सामंती समाज के पतित चरित्रों को उभारकर प्रसाद ने वस्तुतः यही कहना चाहा है कि भारतीय समाज अब एक भयानक मोड़ पर खड़ा है, वह वस्तुतः पतन के कगार पर है। समाज की सड़ी धार्मिक व्यवस्था में यदि तुरन्त बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ तो यहां कोई सुधार और राष्ट्रीय जनवादी आदर्श टिक नहीं सकता।"[3] पात्रों के चरित्र में अपूर्णता का आरोप लगाते हुए सुमन्दर कपूर ने अपने एक लेख में लिखा है - "वह दूर से देखा हुआ, हमारे चारों ओर का समाज नजर आता है, किन्तु उन पात्रों के चित्र पूर्णता से हमारे मस्तिष्क में नहीं उभरते। ... कारण हम उनकी मानसिकता से, उनके अन्तर्द्वन्द्व से, उनके अन्तर के उतार चढ़ाव से ठीक-से परिचित भी नहीं हो पाते कि कोई घटना अपनी कथा को नया मोड़ दे देती है।"[4] इन दोनों तर्कों का निष्कर्ष निकालते हुए राजमणि शर्मा का

---

1. कंकाल, जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, - पृ. 54.
2. "हमारे धर्म मुख्यतः एकेश्वरवादी हैं विजयबाबू! वह ज्ञान प्रधान है, ...
   कंकाल, जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रन्थावली 3, - पृ. 69.
3. प्रसाद तथा साहित्य में यथार्थवाद", शम्भुनाथ, "मधुमती" अगस्त 89 - पृ. 2.
4. प्रसाद और उनका "कंकाल" पुनर्मूल्यांकन, सुमन्दर कपूर, "दस्तावेज 44", जुलाई-सितम्बर "89, पृ. 62 - 63.

कहना है — "चरित्रों के आदर्श और पतन के संबंध में लेखक ने अपना कोई मत नहीं उपस्थित करना चाहा है तथा पतन और आदर्श की परिभाषा निश्चित करने का भार पाठक पर ही छोड़ दिया है । ये सारी उक्तियाँ अंशतः सत्य ही है ।"[1]

पहले ही कहा चुका है कि प्रसाद की समाजवादी धारणा का भी एक रूप उनके उपन्यासों में मिलता है । "कंकाल" में इसी यथार्थपरक भावना के कारण आलोचकों में इसका पर्याप्त समादर भी हुआ है । शंकरलाल जायसवाल के अनुसार "यह उपन्यास युग की समस्याओं पर आधारित नारी-जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का दर्पण है । प्रसाद ने अपने समाजवादी दृष्टिकोण को विजय के माध्यम से प्रस्तुत किया है ।"[2] लेकिन सचाई यह है कि प्रसाद ने विजय की इस प्रकार यथार्थवादी भावना से अधिक मंगल की आदर्शवादी भावना को अपनी लेखकीय सहानुभूति देनी चाही है । लेकिन अपनी रचनात्मक संपूर्णता में कंकाल मात्र आदर्शपरक और सुधारवादी नहीं है । लेखक आदर्श या सुधार को यहाँ आरोपित नहीं करता । सुषमा धवन ने लिखा है — "कंकाल का सम्पूर्ण वातावरण और विचार पद्धति भारतीय है । .... इसी कारण इसका उद्देश्य सुधार नहीं क्रांति है । वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, जन्म-जात अभिमान व्यवस्था आदि सभी प्रभावों में कंकाल क्रांति की लहर फैलाना चाहता है ।"[3]

---

1. प्रसाद का गद्य साहित्य : राजमणि शर्मा – पृ. 267.
2. हिन्दी के गद्य साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव, शंकरलाल जायसवाल – पृ. 104.
3. व्यक्तिवादी उपन्यास सुषमा धवन, पृ. 201.

इस पुरुष प्रधान समाज में नारी के प्रति प्रसाद की अपार सहानुभूति है। स्त्री की दुर्दशा के लिए एक-ओर समाज[1] जिम्मेदार है तो इसकी ओर पुरुष का संस्कारबद्ध अधिकार भाव[2] कंकाल में इन दोनों कारणों का उल्लेख मिलता है। यदि इन अत्याचारों का अन्त होना है तो स्त्री को स्वावलम्बी बनना पड़ेगा।[3] उसको अपने हक के लिए लड़ना होगा। उसके लिए सम्मिलित विद्रोह का स्वर उठाने की बात प्रसाद खुलकर नहीं करते। लेकिन वे नारी को मजबूत मानते हैं तथा चाहते हैं कि वह अपनी इस भीतरी शक्ति की पहचान करे - "कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन। सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलनेवाले क्रूर हैं। फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बना दी है। यह उनकी रचना है।"[4]

प्रसाद के उपन्यासों में उनका नारी विषयक दृष्टिकोण सरल, सीधा और एकांगी नहीं है। नारी-समस्या को प्रसाद उसकी संश्लिष्टता में समझना चाहते हैं। वे समाज में स्त्री-पुरुष के स्वस्थ संबंधों के इच्छुक हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश जी ने लिखा है - "समाज का पतन स्त्री के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण के अभाव में निहित है। स्त्री की अपेक्षा और उपेक्षा दोनों में ही दोष हैं, प्रथम के अतिवाद से समाज में स्त्रैणता तथा विलास जैसे दुर्गुण घुस जाते हैं। "कंकाल" में समाज के प्रथम दोष का चित्र है, तो

---

1. "हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना-विचारना चाहिए।... "कंकाल", जयशंकर प्रसाद प्रसाद ग्रंथावली 3, पृ. 154.
2. "पुरुष स्त्रियों पर सदैव अत्याचार करते हैं, कहीं-कहीं सुना गया कि अमुक स्त्री ने अमुक पुरुष के प्रति ऐसा ही अन्याय किया, परन्तु पुरुषों का यह साधारण व्यवसाय है - स्त्रियों पर आक्रमण करना - वही - पृ. 155.
3. "स्त्री कुछ नहीं है, केवल पुरुषों की पूंछ है। विलक्षणता यही है कि यह पूंछ कभी-कभी अलग भी रख दी जा सकती है।" - वही - पृ. 109.
4. "कंकाल", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, पृ. 176.

"इरावती" में द्वितीय दोष का यदि प्रसादजी के उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य समाज में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध का उद्घाटन माना जाय तो भी अनुचित न होगा।"[1]

कृष्णशरण के चरित्र और उपदेशों में भारतीय संस्कृति[2] एवं अतीत के प्रति गौरव का भाव और वर्तमान के लिए अतीत में से समाधान खोज निकालने का प्रयत्न मिलता है।"[3] कृष्णशरण वर्तमान यान्त्रिक युग में मानवतावाद का उद्बोधन करते हैं। वे पतनशील धार्मिकता के परिष्कार की माँग कर रहे हैं। उनका सपना था कि "आर्य-संस्कृति अपना तामस त्याग, दुःख विराग छोड़कर जागेगी। भूखण्ड के भौतिक देहात्मवादी चौंक उठेंगे। यान्त्रिक सभ्यता के पतनकाल में वही मानव जाति का अवलम्बन होगी।"[4]

कृष्णशरण का व्यक्तित्व सकारात्मक है। उनके जीवन में वर्तमान को सुंदर बनाने एवं धर्म और समाज को सुधारने का अथक प्रयास मिलता है। उनकी बातों में बुद्धिवाद का प्रचार भी मिलता है। परम्परागत रूढ़िवाद एवं अंधविश्वासों का खुला विरोध उन्होंने किया है। उनके इन बातों में अंध परंपरा-भक्त रूप नहीं दिखाई देता। कहा जाता है कि परंपरा कभी मिटती नहीं है, वह अपना रूप और आकार बदल लेती है। परंपरा अविचल बहनेवाली नदि की तरह है जिसमें हमेशा नयी तरंगें उठती रहती हैं और आनेवाले समय से जुड़कर आगे चलती रहती है। इसलिए वर्तमान समाज के लिए अनुपयुक्त

---

1. आधुनिक साहित्य, ओमप्रकाश, पृ. 39.
2. जीवन-मरण में निर्भय रहना, लोकसेवा करते रहना, उनका सन्देश है। वे आर्य संस्कृति के शुद्ध भारतीय संस्करण हैं। – कंकाल, जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, पृ. 103.
3. आज हम धर्म के जिस ढाँचे को-शव को-घेर कर रो रहे हैं, वह उनका धर्म नहीं था। धर्म को वे बड़ी दूर की पवित्र या डरने की वस्तु नहीं बतलाते थे। उन्होंने स्वर्ग का लालच छोड़कर रूढ़ियों के धर्म को, पाप कहकर घोषणा की। – वही – पृ. 103.
4. – वही – पृ. 103 – 104.

अतीत के चिह्नों को छोड़ना ही अच्छा है। इसी का चित्रण विजय की भावनाओं के माध्यम से हमें मिलता है — "... जिन बातों में बुद्धिवाद का उपयोग न हो सके, उनका खण्डन करना और तदनुकूल आचरण करना। .... इन प्राचीन कुसंस्कारों का नाश करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, क्योंकि ये ही रूढ़ियाँ आगे चलकर धर्म का रूप धारण कर लेती हैं। जो बातें कभी देश, काल, पात्रानुसार प्रचलित हो गई थीं, वे सब माननीय नहीं, हिन्दू-समाज के पैरों में ये बेड़ियाँ हैं।"[1]

प्राचीन-भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता वर्ण-व्यवस्था थी जो अपने समय की परिस्थितियों के अनुरूप सामने आयी थी। लेकिन आज उसका वह उद्देश्य समाप्त हो गया। बदली हुई परिस्थितियों में उसका उलटा ही रूप जनता ग्रहण कर रही है -- "भारत वर्ष आज वर्णों और जातियों के बन्धन में जकड़कर कष्ट पा रहा है और दूसरों को कष्ट दे रहा है। यद्यपि अन्य देशों में भी इस प्रकार के समूह बन गये हैं। परन्तु यहाँ इसका भीषण रूप है। यह महत्व का संस्कार अधिक दिनों तक प्रभुत्व भोगकर खोखला हो गया है।"[2]

इस प्रकार कंकाल में बहुत सारी सामाजिक विकृतियों के प्रति विरोध भाव व्यक्त किया गया है। इसमें अतीत के सहारे वर्तमानकालीन समस्याओं का समाधान निकालने का अथक परिश्रम दिखायी देता है। धर्म के कट्टर बन्धन में जकड़े हुए लोगों की आँखें खोलने का काम "कंकाल" उपन्यास करता है। धर्म के खोखलेपन को स्पष्ट करने में प्रसाद को सफलता मिली है।

---

1. "कंकाल" - जयशंकर प्रसाद - प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 71-72.
2. - वही - पृ. 179.

व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व जाति या वर्ण के आधार पर निर्मित नहीं होता है। अपनी कमजोरी के लिए जाति या धर्म को कारणभूत बनाना निरर्थक है।[1] प्रसाद की यह ऐतिहासिक चेतना "कंकाल" के औपन्यासिक कलेवर में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुई है।

<u>तितली</u> :- प्रसाद का यह दूसरा सामाजिक उपन्यास है जिसमें कथा "कंकाल" जैसा व्यापक नहीं है। इसीलिए इसे एक "पारिवारिक उपन्यास" की संज्ञा देते हुए ओमप्रकाश जी का कहना है कि इस उपन्यास में व्यापक आधारवाले समाज का चित्र नहीं, जिसमें पारस्परिक संपर्क या संघर्ष की कहानी हो।[2] भले ही "तितली" में वृहद स्तर पर घटनाओं का सामाजिक फैलाव नहीं हो मगर चूँकि व्यक्ति, परिवार और घटनाएँ समाज-निरपेक्ष नहीं होते। अतः इन्हें समाज से बाहर भी नहीं देखा जा सकता। व्यक्ति और परिवार का सामाजिक अंतर्सम्बन्ध अनदेखा नहीं किया जा सकता।

वास्तव में इस उपन्यास में धामपुर गाँव की सामाजिक स्थिति के साथ-साथ वहाँ के जमींदार तथा उसके कर्मचारियों के द्वारा निम्न वर्गों की जो दुर्दशा हो रही थी, उसका संकेत भी हुआ है। जमींदार इन्द्रदेव अपने पारिवारिक झगड़ों में उलझने के कारण गाँव की स्थिति को देख नहीं पाता है। यही मौका पाकर तहसीलदार, महन्त, चौबे जैसे लोगों के हाथों में पड़कर गाँव का शोषण होने लगता है और लोगों की स्थिति दयनीय बन जाती है। इसमें प्रसाद भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृतियों की तुलना करने का अवसर पाते हैं। भारतीयता के प्रति उनका अटूट गौरव भाव यहाँ भी है। "तितली" में उनकी दार्शनिक भावना भी व्यक्त होती है।

---

1. क्यों, क्या हिंदू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची-उसकी संस्कृति विडम्बना, उसकी संस्था सारहीन और राष्ट्र-बौद्धों के शून्य के सहारा बन गया है। जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं। "कंकाल" जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, पृ.53.

"कंकाल" से "तितली" तक की कथायात्रा में प्रसाद के रचनात्मक विकास की ओर दृष्टि डालते हुए ओमप्रकाश जी ने लिखा है – "कंकाल" उपन्यास की यथार्थता को इस उपन्यास में दोहराया नहीं गया, प्रत्युत पारिवारिक जीवन पर गंभीर विचार किया गया है। इस दृष्टि से "कंकाल" और "तितली" परस्पर पूरक हैं, एक में समाज का व्यापक चित्र है, तो दूसरे में समाज का केन्द्रित चित्रण। भारतीय संस्कृति एवं भारतीय समाज लेखक के विचारबिन्दु को केन्द्रित कर सके हैं।"[1]

प्रसाद जी प्राचीन रूढ़ियों के विरोधी थे। उनकी प्राचीन संस्कृति एवं परंपरा के प्रति आस्था तो थी, किन्तु वे पुरातन भी नहीं थे। वे परंपरा को स्वच्छ प्रवाहमान धारा में नवीन रूप देखने के अभिलाषी थे। अंधविश्वासों के शिकार होने वाले समाज को वे सजग-सावधान करना चाहते थे। यों तो हिन्दू समाज अब भी पूरी तरह पाखंड मुक्त नहीं कहा जा सकता, लेकिन प्रसाद के ज़माने में तो यह तरह-तरह के पाखंडों और अंध-विश्वासों से और भी जकड़ा हुआ था। क्योंकि, परिवार और समाज पर अनेकों बुद्धि-विरोधी अंध धारणाएँ हावी थीं। जैसे इसी अंध मान्यता को लें कि समुद्र पार करने से लोग धर्मच्युत हो जाते हैं। "तितली" में इस अबुद्धिवादी धारणा को व्यक्त करने के लिए प्रसाद ने एक प्रसंग रखा है। अंधविश्वासग्रस्त, तथाकथित धर्मपरायणा स्त्री श्यामदुलारी अपने विदेश से वापस लौटे हुए इन्द्रदेव को छूने का साहस भी नहीं करती। जब इन्द्रदेव को यह बात मालूम हो जाती है तब वह बहुत खिन्न हो जाता है। लोग कहते हैं कि इन्द्रदेव के कानों में जब यह समाचार किसी मतलब से पहुँचा दिया गया कि चरण छूकर आपके चले आने पर माताजी ने फिर से स्नान किया, तो फिर वह मकान पर न ठहर सके।"[2]

---

1. आधुनिक साहित्य – ओमप्रकाश – पृ. 45.
2. तितली, जयशंकर प्रसाद – प्रसाद ग्रंथावली 3, – पृ. 208.

प्रसाद व्यापक आर्य संस्कृति की बात सोचते थे। वे इसीलिए हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई जैसे धार्मिक क्षेत्रों को परस्पर विरोधी नहीं मानते थे। बौद्ध, जैन, हिन्दू, इस्लाम, ईसाई ये धर्म प्रसाद की दृष्टि में व्यापक आर्य-संस्कृति के अंग थे, गौरवपूर्ण पहलू थे। ईसाई धर्म को सेमेटिक धर्म एवं विदेशी धर्म कहा जाता था, जिसका प्रसाद प्रत्याख्यान करना चाहते थे। ईसाई धर्म पर आर्य संस्कृति के गाढ़े प्रभाव का उल्लेख करते हुए प्रसाद जी तितली में रामनाथ के माध्यम से कहते हैं - " आज सब लोग यही कहते हैं कि ईसाई - धर्म सेमेटिक है, किन्तु तुम जानती हो कि यह सेमेटिक धर्म क्यों सेमेटिक जाति के द्वारा अस्वीकृत हुआ ? नहीं। वास्तव में वह विदेशी था, उनके लिए वह आर्य-संदेश था। और कभी इस पर भी विचार किया है तुमने कि वह क्यों आर्य-जाति की शाखा में फूला-फला ? वह धर्म उसी जाति में आर्य-संस्कारों के साथ विकसित हुआ, क्योंकि तुम लोगों के जीवन में ग्रीस और रोम की आर्य-संस्कृति का प्रभाव सोलहो आने था ही, उसी का वह परिवर्तित रूप संसार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रहा है।"[1]

इतना ही नहीं, हमारी भारतीय संस्कृति के प्रति प्रसाद की धारणा थी कि भारतीय संस्कृति अन्य विदेशी संस्कृतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह जीवन और विश्व के मौलिक प्रश्नों से टकराती है। अतः भारतीय आध्यात्मिकता के आधार पर ही अन्य संस्कृतियों का विकास होना चाहिए। उनका मानना था कि " .... पश्चिम एक शरीर तैयार कर रहा है। किन्तु उसमें प्राण देना पूर्व के अध्यात्मवादियों का काम है। यही पूर्व और पश्चिम का वास्तविक संगम होगा, जिससे मानवता का स्रोत प्रसन्न धार में बहा करेगा।"[2]

---

1. तितली - जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, पृ. 255.
2. - वही - पृ. 280.

व्यक्ति और परिवार समाज की आरंभिक इकाइयाँ हैं। ये समाज रूपी भवन की नींव हैं।[1] भारतीय संस्कृति का एक प्रतीक था संयुक्त परिवार या समष्टि परिवार योजना। धीरे-धीरे उन संयुक्त परिवार का विघटन भी होता गया है। इन्द्रदेव एवं मधुबन के परिवार इसी प्रकार के विघटनशील परिवार हैं। परिवार में हो या देश में गलत इरादोंवाले बाहरी व्यक्तियों का यदि प्रवेश हो जाय तो उनका सर्वनाश निश्चित है। इतिहास इसका साक्ष्य है कि वैदेशी आक्रमणों के समय हमारे देश के आन्तरिक द्रोहियों की सहायता से ही उनका काम आसान बन गया। हमारें देश की दुस्थिति के अनेकानेक कारणों में से एक प्रमुख कारण विदेशी शासन था जिसका हमें गुलाम बनना पड़ा था। परिवार के छोटे पैमाने पर यही बात "तितली" उपन्यास में भी लागू होती है जहाँ अनवरी के आगमन से इन्द्रदेव का परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है। आये दिन पारिवारिक कलह होते रहते हैं। इन पारिवारिक कलहों में ऊबकर इन्द्रदेव शहर चला जाता है। इसी तरह मधुबन की बहन राजकुमारी भी लोभ में पड़कर चौबेजी की बातों में आ जाती है और मधुबन से दूर हो जाती है। हमारे पारिवारिक संबंध कहीं-न-कहीं सामाजिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करते हैं और इसी तरह सामाजिक सम्बन्ध भी पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों को उनकी सापेक्षता में रखकर देखने की रही है।

---

1. "...... सामाजिक सुदृढ़ता और सुव्यवस्था पारिवारिक सुदृढ़ता और सुव्यवस्था पर अवलम्बित है। अतः समाज विकास परिवार से ही आरम्भ होता है।" – प्रसाद के उपन्यास, प्रतापलाल शर्मा पृ॰ – 35॰

भारतीय धारणा मनुष्य के आन्तरिक एवं आत्मिक द्वन्द्व एवं संघर्ष को प्रधानता देती है। पर पाश्चात्य मानसिकता मनुष्य के बाहरी भौतिक संघर्ष को अपेक्षाकृत प्रमुख स्थान देती है। यही कारण है कि भारतीय दृष्टि क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठने पर बल देती है जबकि अतिशय भोगवादिता स्वार्थ-लिप्सा के कारण कलह को जन्म देती है। एक दृष्टि शान्ति की पक्षधर है तो दूसरी युद्ध की। कथा प्रसंग में पात्र के माध्यम से प्रसाद कहलवाते हैं - "यह ठीक है कि तुम्हारे देश के लोगों ने जीवन को नहीं, किन्तु रक्त और आलस्य को भी लड़ने का क्षेत्र बना दिया है। जीवन को युद्ध मान लेने का यह अनिवार्य फल है। जहाँ स्वार्थ के अस्तित्व के लिए युद्ध होगा, वहाँ तो यह होना ही चाहिए।"[1]

परम्परागत भारतीय धारणा नारी को पूजनीय मानने की रही है। अपने इस तथाकथित पूजनीय रूप को पाने के लिए नारी को बहुत तपना बहुत बर्दाश्त करना पड़ा है। इस सहनशीलता को, कष्ट सहिष्णुता को, उदारता और आत्मप्रवंचना को प्रसाद नारी की शक्ति मानते थे। भारतीय नारी अपने पति को ही सर्वस्व समझती है, उसी की भलाई के लिए अपने व्यक्तित्व को मिटा डालती है। परम्परागत भारतीय नारी की यह अवधारणा तितली में स्पष्ट होती है। वह मधुबन को चोर, हत्यारा जानकर भी पहले की तरह मन ही मन उसका आदर करती रहती है। अन्त तक उसी के इन्तजार में दिन बिताती रहती है। उसकी तपश्चर्या पूरी होती है और अंततः वह मधुबन से मिल जाती है। दूसरी ओर शैला है, जो इन्द्रदेव से प्यार करके भी उसको जाहिर करने में संकोच करती है। विवाह होने के बाद भी वैवाहिक बन्धन की "महानता" को समझ नहीं पाती। अनवरी इस वैवाहिक बन्धन की अवहेलना करती है। उसका कहना है कि

---

1. तितली - जयशंकर प्रसाद - प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 254.

"मैं तो प्राणी का प्राणी से जीवन-भर के सम्बन्ध में बाँध जाना दासता समझती हूँ, उसमें आगे चलकर दोनों के मन में मालिक बनाने की विद्रोह-भावना छिपी रहती है। वैवाहिक जीवनों में, अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हुए स्त्री-पुरुष दोनों ही देखे जाते हैं। यह तो एक झगड़ा मोल लेना है।"[1] स्त्री-पुरुष संबंधों का यह स्वच्छन्दतावादी रूप है। दांपत्य का एक रूप शैला में मिलता है। वह पहले इन्द्रदेव का अपने ऊपर अधिकार मानने के लिए तैयार नहीं होती। इन्द्रदेव को एवं वैवाहिक बन्धन को समझ नहीं पाती। लेकिन वही शैली जब तितली का उसके पति मधुबन के प्रति भक्ति भाव देखती है तो अपनी गलती मान लेती है। प्रेम और दाम्पत्य को लेकर पूरब और पश्चिम की मान्यताओं की टकराहट नन्दरानी के इस कथन से सुनाई पड़ती है - "मैं समझती हूँ कि तुम्हारे देश में स्वतन्त्रता के नाम पर बहुत-सा मिथ्या-प्रदर्शन भी होता है। क्या तुम इस वातावरण में उसे भूल नहीं सकी हो? यदि नहीं, तो मैं उसे तुम्हारा सौभाग्य कैसे कहूँ? मैं तो जानती हूँ कि स्त्री, स्त्री ही रहेगी। लेकिन पीड़ा से उद्विग्न होकर आज का स्त्री-समाज जो करने जा रहा है, वह क्या वास्तविक है? वह तो विद्रोह है सुधार के लिए। इतनी उद्दण्डता ठीक नहीं।"[2] स्पष्ट है कि प्रसाद विश्वनारी के रूप में स्वतंत्र व्यक्तित्व-सम्पन्न स्त्री की कल्पना नहीं करते। वे तो दया, क्षमा, करुणा, प्रेम, कष्ट-सहिष्णुता से भरी हुई भारतीय नारी की कल्पना में ही दिखाई करते हैं और उसी को विश्वनारी के स्थान पर बिठाना चाहते हैं।" आर्थिक पराधीनता को प्रसाद नारी की दुःस्थिति एवं पारिवारिक कलह और विघटन का कारण बताते हैं। वे कहते हैं - "स्त्रियों की उनकी आर्थिक पराधीनता के कारण

---

1. तितली - जयशंकर प्रसाद - प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 273.
2. - वही - पृ. 360.

जब हम स्नेह करने के लिए बाध्य करते हैं, तब उनके मन में विद्रोह की सृष्टि भी स्वाभाविक है। आज प्रत्येक कुटुम्ब उनके इस स्नेह और विद्रोह के द्वन्द्व से जर्जर हैं और आंदोलित है। हमारा सम्मिलित कुटुम्ब उनको इस आर्थिक पराधीनता को अनिवार्य अवसर देता है। उन्हें चिरकाल से वंचित एक कुटुम्ब के आर्थिक संगठन को ध्वस्त कराने के लिए दिन-रात चुनौती मिलती रहती है।"[1] यहाँ हम प्रसाद को नारी समस्या की वास्तविकता से रु-ब-रु होते हुए पाते हैं। प्रसाद का चिन्तन यहाँ भाववादी नहीं, यथार्थ की जमीन पर मजबूती से खड़ा मिलता है।

अपने उपन्यासों में प्रसाद केवल व्यक्ति और उसकी हार्दिक भावनाओं के ही चितेरे बनकर नहीं रह गये हैं, परन्तु उन्होंने सामाजिक-भौतिक समस्याओं के कड़े पत्थर पर घिस अपने चिन्तन को नयी धार भी दी है। वे देश और जनता की जिन्दगी की समस्याओं से आँखें मूँदनेवाले कलाकार नहीं हैं। तितली में भी उन्होंने देश की दुर्दशा, अव्यवस्था, बदहाली और बदलती हुई स्थितियों की ओर भी पर्याप्त संकेत दिये हैं।"[2] तितली के जन्म-वृत्तांत में अकाल की घटना का जो वर्णन हुआ है उसके माध्यम से देश की दुर्दशा का एक पहलू सामने आता है। "संसार का नग्न चित्र, जिसमें पीड़ा का, दुःख का ताण्डव नृत्य था। बिना वस्त्र के सैकड़ों नर-कंकाल, इंजिन के सामने लाइन पर खड़े-खड़े और गिरे हुए, मृत्यु को आशा में टक लगाये थे।"[3]

---

1. तितली, जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 292.
2. पशुओं को काटे-खाते मनुष्य, पशुओं के भोजन की जगह भी खाने लगे। ओह! कितना इनका पेट बढ़ गया! वाह रे समय!! - वही - पृ. 193.
3. - वही - पृ. 230.

गरीबी सिर्फ भारत में ही नहीं, हर जगह है। यह वास्तव में सामन्ती और पूँजीवादी व्यवस्थाओं का लगाया हुआ रोग है। इन्द्रदेव लन्दन में गरीबी की स्थिति को देखकर व्यंग्य करता है – "इतना अतुल धन विदेशों से ले आकर भी क्या इन साहसी उद्योगियों ने अपने देश की दरिद्रता का नाश किया? अन्य देशों की प्रकृति का रक्त इन लोगों की कितनी प्यास बुझा सका है?"[1] समाज की अनेक विषम समस्याओं की भाँति वेश्या समस्या भी प्रसाद के दृष्टिपथ में आयी है। जो सामाजिक व्यवस्था नारियों की ऐसी दुर्गति करे, प्रसाद उसके स्वाभाविक रूप से कटु आलोचक होंगे। वे इस प्रकार की दोगली नैतिकता पर तीव्र व्यंग्य प्रहार करते हैं।"[2]

तितली में कंकाल की तरह धर्म के पाखण्डी रूप का चित्रण नहीं हुआ है क्योंकि उपन्यासकार ने एक ही विषय को दोहराना उचित नहीं समझा। फिर भी सामाजिक बुराई के रूप में धर्म की भूमिका की आलोचना यहाँ हुई है। धर्म को व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार बदल सकता है। इन्द्रदेव-शैला के विवाह में मानवीय विचारों एवं कमजोरियों का ही अवरोध दिखाया गया है, धर्म को लेकर कोई वाद-विवाद नहीं उठता। यद्यपि धर्म नेपथ्य में रहकर अपना "काम" कर रहा होता है। शैला अपनी इच्छा के अनुसार ईसाई होकर भी हिन्दू धर्म स्वीकार कर लेती है। यह धर्म का विलक्षण रूप होता है जिसमें धन के लोभ में पड़कर मनुष्य अपना धर्म बदल सकता है। इतना ही नहीं, पैसे के लिए धर्म की रूढ़ियों का पालन भी किया जाता है। वास्तव में धन धर्म से ऊपर हो गया है। व्यक्ति, धर्म, नैतिकता, कानून, ईश्वर सबको आज धन अनुशासित कर रहा है।

---

1. तितली जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 – पृ. 200.
2. संसार भर में परम अतुल समाज की निर्दय महत्ता के काल्पनिक दम्भ का निदर्शन! पिता कर उत्पन्न किये जाने अयोग्य सृष्टि के बहुमूल्य प्राणी, जिन्हें उनकी माताएँ भी छूने में पाप समझती हैं। व्यभिचार की संतान! वही – पृ. 355.

प्रसाद का पात्र इनका विरोध करता है - "पैसे के बलपर धर्म और सदाचार का अभिनय करना शुरू करूंगा । मैं ने जो कुछ पढ़ा-लिखा है, सब झूठ था । आज-कल क्या, सब युगों में लक्ष्मी का बोलबाला था । भगवान भी इसी के संकेतों पर नाचते हैं । मैं तुम्हारी इस झूठे पाप-पुण्य की दुहाई नहीं मानता । "[1]

तितली में प्रसाद के दार्शनिक विचारों का भी परिचय हमें मिलता है । प्रसाद स्थूल परम्परावादी नहीं थे । वे सही परम्परा का विरोध नहीं करते और परम्परा के नवीनतम स्वस्थ रूप की अभिलाषा करते हैं । इतिहास और संस्कृति प्रसाद के सहज क्षेत्र हैं । इन विषयों पर बातें करते हुए वे कभी नहीं अघाते । मानव एकता और मानव-प्रेम के वे महान स्वप्न द्रष्टा थे । इसीलिए प्रसाद की समन्वयवादी भावना पूरब और पश्चिम के गुणों का निचोड़ मनुष्य को सौंपना चाहते थे - " - हम लोगों के पश्चिमी जीवन का यह संस्कार है कि व्यक्ति को स्वावलम्ब पर खड़े होना चाहिए । तुम्हारे भारतीय हृदय में, जो कौटुम्बिक कोमलता में पला है, परस्पर सहानुभूति की सहायता की बड़ी आशाएँ, परम्परागत संस्कृति के कारण, बनती रहती हैं । "[2]

दार्शनिक रूप से प्रसाद मायावाद या मिथ्यावाद के विरोधी थे ।[3] जगत की वास्तविकता को एक दार्शनिक के नाते भी वे स्वीकार लेते हैं ।

---

1. तितली जयशंकर प्रसाद -प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 352.
2. - वही - पृ. 243.
3. " ... चाहे बौद्धों का तर्क हो, चाहे वेदान्तियों का योग, तप या समाधि ज्ञान हो, जो भी संसार को मिथ्या कहता है, प्रसाद जी उसका विरोध करते हैं । अनेक कवितयों में जहाँ उन्हें मायावाद दिखा है, उन्होंने उसकी आलोचना की है । - परंपरा का मूल्यांकन, रामविलास शर्मा - पृ. 132.

अपने एक पात्र के कथन के द्वारा वे इस मायावादी सिद्धान्त पर कड़ा प्रहार करते हैं — "... मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपके वेदान्त में जो जगत् को मिथ्या और भ्रम मान लेने का सिद्धांत है, वही यहाँ के मनुष्यों को उदासीन बनाता है। संसार को असत् समझनेवाला मनुष्य कैसे किसी काम को विश्वासपूर्वक कर सकता है।"[1]

धर्म और दर्शन की साम्प्रदायिकता का विरोध प्रसादजी बड़ी तन्मयता से करते रहे हैं। आधुनिक समाजवादी व्यवस्था के केवल आर्थिक पक्ष पर ही वे ध्यान नहीं देते बल्कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के मूल्य को भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। रामनाथ के माध्यम से प्रसाद जी कहते हैं — "मैं कहता हूँ कि वह वेदान्त पिछले काल का साम्प्रदायिक वेदान्त है, जो तर्कों के आधार पर अन्य दार्शनिकों को परास्त करने के लिए बना। सच्चा वेदान्त व्यावहारिक है। वह जीवन समुद्र और आत्मा को उसकी सम्पूर्ण विभूतियों के साथ समझता है। भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है।

प्रसाद ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न रचनाकार थे। भारतीय समाज और मनुष्य जीवन की नानाविध समस्याओं ने उनके चिन्तन को आलोड़ित किया था। तितली में वे भारतीय समाज और भारतीय मनुष्य के जीवन की छानबीन और परख करते हैं। इसके ग्रामीण सभ्यता एवं शहरी सभ्यता का, पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृतियों की भिन्नता एवं समानता की तुलना करते हैं और इनके गुणों के समन्वय वाले निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। उनकी पक्षधरता और सहानुभूति पिछड़े वर्ग के साथ है। यों कि जमींदार के हाथों शोषित किसानवर्ग पर हो रहे अत्याचारों एवं अकाल पड़ने पर कर न चुका सकने के कारण उनकी दयनीय स्थिति के दर्शन का अवकाश प्रसाद इस उपन्यास में निकाल ही लेते हैं। फिर भी तितली का यथार्थ

---

1. तितली — जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रन्थावली 3 — पृ. 254.

कंकाल के यथार्थ से भिन्न है। कंकाल का यथार्थ अपेक्षाकृत गहरा है, संयम है। तितली स्थूल आदर्श और सुधार की भावना से रहित नहीं है। शैला और इन्द्रदेव के वैवाहिक बन्धन में बाँध कर मानो धार्मिक एकता और सद्भावना स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अन्धविश्वासों के प्रति विरोध के साथ-साथ प्राचीनता और परम्परा के प्रति आस्था और गौरवमय भाव दिखायी पड़ता है। तितली के द्वारा गाँव को आदर्श बनाने के बहाने प्रसाद अपनी आदर्शवादी धारणा का परिचय देते हैं। यह आदर्श उक्त युग के सभी रचनाकारों के लेखन की सामान्य विशेषता के रूप में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द में यह आदर्शभाव अन्त-अन्त तक बरकरार रहा, केवल "गोदान" और "कफन" जैसी रचनाएँ ही आदर्शवादी प्रभाव से रहित हैं। प्रसाद के काव्य, नाटक और कथा साहित्य में भी आदर्शभाव स्वाभाविक रूप में है, भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुरूप है और प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का अंग थी।

इरावती :-

प्रसाद ने "इरावती" उपन्यास को ऐतिहासिक धरातल पर आधारित किया है। इसका कथा-समय मौर्य शासन का अन्तिम काल है। "इरावती" उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए दिनेश्वर प्रसाद ने लिखा है - "प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय इतिहास के राजनीतिक-सांस्कृतिक द्वन्द्वों के युगों का चित्रण किया है। "इरावती" में भी एक ऐसा ही कालखण्ड आयोजित हुआ है। यह कालखण्ड मौर्य साम्राज्य का अंतिम चरण है, जिसमें ह्रासोन्मुखी बौद्ध विचारधारा से अपने अस्तित्व और बहुत काल से उपेक्षित वैदिक विचारधारा अपनी उपयोगिता को फिर से घोषित करने के लिए संघर्ष करती है। बौद्ध धर्म अपनी सार्थकता समाप्त कर चुका है। उसके मैत्री और करुणा के मन्त्र मात्र औपचारिक बन गये हैं और उसका निवृत्तिवाद ही प्रमुख हो गया है।"[1]

प्रसाद ने इतिहास के मौर्य शासन काल से लेकर वर्धन साम्राज्य तक की घटनाओं को अपने विशाल साहित्य का आधार बनाया। उनके नाटकों का अधिकांशतः इतिहास ही आधार बना है। मौर्य साम्राज्य एवं गुप्त साम्राज्य के संधिकाल में शुंगवंश का शासन-समय आता है। प्रसाद ने शुंगकाल को अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया था। कहा जाता है कि "अग्निमित्र" के रूप में इस शुंगवंशकाल को लेकर प्रसाद ने इरावती के पहले एक नाटक लिखना शुरू किया था। लेकिन अंततः इसे उपन्यास के रूप में ही लिखने की आवश्यकता प्रसाद जी ने समझी। "इरावती" की इस रचनागत पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए डा॰परमेश्वरीलाल गुप्त लिखते हैं - "यह नाटक (अग्निमित्र) उन्होंने इरावती उपन्यास लिखने से पूर्व लिखना आरम्भ किया था और इसका कथानक भी वही था जो इरावती की पृष्ठभूमि है। ... उसे देखकर आचार्य रामचन्द्रशुक्ल

1· प्रसाद की विचारधारा - दिनेश्वर प्रसाद - पृ· 242·

ने सलाह दी कि उस कथानक पर नाटक न लिखकर उपन्यास लिखा जाय। उनकी राय मानकर प्रसाद ने इस नाटक का लिखना स्थगित कर इरावती उपन्यास लिखना आरम्भ किया था .... "[1] परन्तु विधिवश प्रसाद इस उपन्यास को पूरा कर नहीं पाये। "अग्निमित्र" और "इरावती" दोनों अधूरे ही रहे।

इस उपन्यास में शुंगवंशकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक वातावरण का परिचय मिलता है। उपन्यास के आरंभ में ही इरावती के देवदासी एवं वेश्या होने का उल्लेख करके सामाजिक रूप से स्त्री की गिरी दशा की ओर संकेत किया गया है। बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का आपसी संघर्ष भी इसमें वर्णित है। राजनीतिक क्षेत्र में एक ओर बौद्ध धर्म के समर्थक बृहस्पतिमित्र और जैनधर्मी खारवेल के युद्ध का वर्णन है तो दूसरी ओर यूनानी सैनिकों का आक्रमण वर्णित है। यद्यपि इस काल को भारतीय इतिहास में "अन्धकारयुग" की संज्ञा दी गयी है, फिर भी "इरावती" की ऐतिहासिकता के आधार की चर्चा करते हुए डा॰नगेन्द्र लिखते हैं - "इरावती" का आधार इतिहास पुष्ट है। उसकी प्रायः सभी मुख्य घटनाओं और पात्रों के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य वर्तमान है।"[2]

180 ई॰पू॰ में मौर्य साम्राज्य का अन्त और शुंगवंश का आरंभ हो जाता है। मगध के अन्तिम और अत्यंत विलासी मौर्य सम्राट बृहद्रथ वध करके ब्राह्मणवंश का पुष्यमित्र सम्राट बन जाता है। प्रसाद ने इस अपूर्ण उपन्यास में मौर्य साम्राज्य के अन्तिम सम्राट का ही विशेष चित्रण किया है। उन्होंने बृहद्रथ का नाम बृहस्पतिमित्र लिखा है। कुछ आलोचकों ने "इरावती" की ऐतिहासिकता को संदिग्ध मानते हुए इसकी आलोचना की है - "इतिहास

1॰ प्रसाद के नाटक - परमेश्वरीलाल गुप्त - पृ॰5॰

2॰ आस्था के चरण - नगेन्द्र - पृ॰ 612॰

का अवलोकन करने पर "इरावती" की अधिकांश घटनाएँ असंगत प्रतीत होने लगती हैं। अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि प्रसाद जी इतने बड़े इतिहासज्ञ होते हुए भी "इरावती" में ऐसी असंगत एवं भद्दी भूलें कर बैठे।"[1] उपन्यास में मौर्य सम्राट शतधनुष की मृत्यु होने के बाद उसका पुत्र बृहस्पतिमित्र सम्राट बन जाता है।[2] डा॰ नगेन्द्र शतधनुा के ऐतिहासिक व्यक्ति देते हुए लिखते हैं – "पुराणों में बृहद्रथ को शतधन्वा या शतधनुष का पुत्र कहा गया है। इरावती के बृहस्पतिमित्र के पिता का नाम भी शतधनुा ही है जिसकी मृत्यु का समाचार महाकाल के मन्दिर में प्राप्त होता है।"[3]

कुछ विद्वानों की राय में बृहस्पतिमित्र का एक नाम पुष्यमित्र भी था। डा॰जायसवाल के मत का विवरण देते हुए नगेन्द्र जी ने लिखा है – "डा जायसवाल बृहस्पतिमित्र या बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का ही दूसरा नाम मानते हैं। ... प्रसाद जी ने अंतिम मौर्य-सम्राट बृहद्रथ का ही दूसरा नाम बृहस्पतिमित्र माना है। उनके इस निष्कर्ष का आधार क्या है, यह कहना कठिन है, क्योंकि इरावती के साथ उनका कोई ऐतिहासिक लेख संलग्न नहीं है।"[4] जायसवाल का मत बहुत उपयुक्त जान पड़ता क्यों कि पुष्यमित्र बौद्धधर्म का अनुयायी था और बृहस्पतिमित्र ब्राह्मण धर्म का समर्थक था। अतः दोनों को एक मानने में कठिनाई है। प्रसाद ने बृहस्पतिमित्र को विलासी राजा के रूप में चित्रित किया है और पुष्यमित्र नामक एक और पात्र की सृष्टि की है जिसे सेनाधिपति के रूप में वर्णित किया है। आगे चलकर कथा और

---

1. प्रसाद की कला, गुलाबराय – पृ॰ 161.
2. कुमार की जय हो। सम्राट शतधनुा ने निर्वाण प्राप्त किया।" – "इरावती" जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, – पृ॰ 387.
3. विचार और विश्लेषण, नगेन्द्र – पृ॰ 158.
4. – वही – पृ॰ 158.

पात्रों का क्या होता है, इसका पता रचना के अधूरेपन के कारण नहीं चलता । इतिहास के अनुसार बृहस्पतिमित्र का वध करके पुष्यमित्र, तदनन्तर अग्निमित्र सम्राट बन जाते हैं । अग्निमित्र के सम्राट होने तथा मालविका और इरावती नामक उनकी पत्नियों के बारे में कालिदास की "मालविकाग्निमित्रम्" रचना साक्ष्य प्रस्तुत करती है । लेकिन कालिदास और प्रसाद के पात्रों के चरित्र और व्यक्तित्व एक-जैसे नहीं है । उनकी मानसिकता में परिवर्तन दिखायी पड़ता है । "मालविकाग्निमित्रम्" की इरावती ईर्ष्यालु है, "इरावती" मे वह अग्निमित्र की प्रेमिका है । अपनी प्रेमकथा के प्रारम्भिक रूप का पता हमें इस उपन्यास में नहीं मिलता है । जब हमारा इरावती से परिचय होता है तो वह देवदासी के रूप में सामने आती है । उसके बाद अपनी इच्छा के विरुद्ध वह बौद्ध भिक्षुणी बना दी जाती है । पात्रों का धनदत्त के यहाँ मिलन होने तक ही उपन्यास की रचना हो पायी थी, इसलिए रचनात्मक अधूरेपन के कारण पात्रों की प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न नहीं होता है । एक ऐतिहासिक कथाकार भी अपनी कथा को मनोरंजक बनाने में कल्पना का उस हद तक सहारा ले सकता है जिस हद तक वह मूल कथा की ऐतिहासिकता को हानि नहीं पहुँचाते । प्रसाद ने पात्रों की मानसिकता एवं विचारों में कल्पना का थोड़ा-बहुत उपयोग जरूर किया है । "इरावती" की एक प्रमुख पात्र है कालिन्दी । कालिन्दी नन्दवंश की राजकुमारी जो प्रतिशोध की भावना से तड़पती रहती है ।[1] कालिन्दी प्रसाद की कल्पना-प्रसूत पात्र है, वह कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं है । लेकिन उसे नन्दों की वंशजा बताकर प्रसाद ने उसे ऐतिहासिकता प्रदान करने का प्रयत्न किया है । पाठक को नन्द

---

1. " मौर्यों ने नन्दो का विनाश किया था । मै मौर्यों का विनाश करूंगी ।
   - इरावती, जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ॰ 416॰

वंश की नियति जानने की उत्सुकता हो सकती है। अग्निमित्र को इस संदर्भ में जोड़कर उपन्यासकार ने कथा में मनोरंजक रूप देना चाहा है।

इतिहासकारों और कथाकारों ने मौर्यकाल में नगरवधुओं के विषय में लिखा है जो सुन्दरी और नृत्य संगीत कलाओं में पारंगत ही नहीं, विदुषी और तीक्ष्ण बुद्धि संपन्न भी हुआ करती थी। इरावती का ऐसी नारियों में अपना ही स्थान है। डा॰नगेन्द्र के शब्दों में - " इरावती भारत के प्राचीन वैभव की कला-प्रवृत्ति की प्रतीक है। उस युग में पुरु-सुन्दरी के वरण की प्रथा प्रचलित थी ही।"[1]

कलिंग सम्राट खारवेल के शासन काल और घटनाओं को लेकर भी प्रश्न उठाया गया है। श्री गुलाबराय का कहना है कि " इतिहास को दृष्टिगत करते हुए उपन्यास में घटनाएँ असंगत हैं, इतिहास के अनुसार मौर्य वंश में बृहस्पतिमित्र नाम का कोई राजा नहीं हुआ। .... कलिंग सम्राट खारवेल के मगध पर आक्रमण करने और आजिन की प्रतिमा की घटना इतिहास सम्मत नहीं है।"[2]

पहले ही कहा जा चुका है कि बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। कतिपय इतिहासकारों ने बृहस्पतिमित्र के अस्तित्व को ऐतिहासिक स्वीकार किया है। कलिंग से आजिन की मूर्ति का उठा लाना और उसके लिए खारवेल का आक्रमण आदि को इतिहास माना जाता है। नगेन्द्र ने इसका विवरण देते हुए कहा है कि " उसने (कलिंग नरेश चक्रवर्ती खारवेलने) मगधनरेश बृहस्पतिमित्र को हटाकर अशोक की कलिंग-विजय का प्रतिशोध लिया था और मगध के राजा नन्द द्वारा अपहृत जैन-तीर्थंकर की मूर्ति छीन ली थी।"[3]

---

1. विचार और विश्लेषण, डॉ॰नगेन्द्र - पृ॰ 159.
2. प्रसाद की कला - गुलाबराय - पृ॰ 159.
3. विचार और विश्लेषण, नगेन्द्र - पृ॰ 158.

बाबू गुलाबराय के अनुसार विभिन्न ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर खारवेल और दिमित्र [दिमित] ने 175 ई॰पू॰ मे मगध पर आक्रमण किया । लेकिन पुष्य का शासनकाल 191 ई॰पू॰ – 184 ई॰पू॰ माना जाता है ।[1] अतः खारवेल के बृहस्पति मित्र पर आक्रमण की बात पर प्रश्न चिह्न लग जाता है ।

मगर इस सम्बन्ध में हरदयाल का कहना है – "खण्डगिरि के शिलालेख से ज्ञात होता है कि सम्राट खारवेल ने मगध पर दो बार आक्रमण किया । प्रसादजी ने दोनों आक्रमणों को एक ही माना है जबकि दोनों में चार वर्ष का अन्तर था । एक अन्य शिलालेख के अनुसार कलिंग के अग्रजिन की मूर्ति नन्दवंश के सम्राट नन्दवर्द्धन ले गये थे । प्रसादजी ने उसके अशोक के द्वारा लाए जाने की बात कही है ।"[2]

प्रसाद ने "इरावती" में अग्रजिनमूर्ति को अशोक के द्वारा अपहृत बताया है । अनुमानतः इसका एक यह कारण हो सकता है अशोक ने कलिंग पर विश्व प्रसिद्ध आक्रमण किया । ई॰पू॰ सन् 261 में भयंकर कलिंग युद्ध हुआ था । इतिहास इसका साक्षी है कि उस युद्ध में लाखों सैनिक-असैनिक मारे गये तथा घायल हुए । इस भीषण रक्तपात को देखकर अशोक युद्ध की ओर से विरक्त हो गया था और बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी । कलिंग पर अशोक ने अपने जीवन की आखरी चढ़ाई की थी, संभवतः इसीलिए प्रसाद ने लिखा होगा कि उसी युद्ध में सम्राट अशोक कलिंग से जिनकी मूर्ति को भी अन्य संपत्ति के साथ अपनी राजधानी में उठा लाया होगा – "स्वर्ण की जिनमूर्ति, जो कलिंग की पूज्य प्रतिमा है, जिसे स्वर्गीय सम्राट अशोक ले आए थे, उसके लिए मन्दिर का निर्माण हो चुका है । प्रतिमा को देने की कृपा अब होनी चाहिए सम्राट ।"[3]

---

1. प्रसाद की कला, गुलाबराय, पृ॰ 161.
2. आधुनिक बोध और विद्रोह, हरदयाल – पृ॰ 139.
3. "इरावती" जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 – पृ॰ 395.

नन्दों के द्वारा कलिंग पर आक्रमण होने और जिनमूर्ति नन्दों को उठा लाने के ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख अन्य विद्वानों की पुस्तकों में भी मिलता है । यथा " इतिहास के अनुसार नन्द ने कलिंग विजय की थी और वहाँ के आदि-जिन (अग्रजिन अर्थात् तीर्थंकर ऋषभदेव) की स्वर्णमूर्ति उठा लाया था ।"[1] यहाँ प्रसादजी के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि साहित्यकार इतिहासकार से अलग होता है जो लिखने में रचनात्मक कल्पना या अनुमान का उपयोग करने का साहस कर सकता है । फिर हमें उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्य भी ठोस प्रमाणों के साथ नहीं मिलते और अनुमान की अपेक्षा रखते हैं । भारतीय इतिहास में नंदवंश के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन काल आता है । यदि अग्रजिन मूर्ति का अपहरण नन्द राजा ने किया होगा तो फिर यह संभव है कि खारवेल के शासन तक किसी ने उसकी प्राप्ति पुन: करने का उपाय नहीं सोचा होगा । यदि अशोक के द्वारा इस मूर्ति का अपहरण हुआ होगा तो उसके बाद खारवेल का मगध पर आक्रमण कुछ सार्थक मालूम होता है । प्रसाद ने इसी कल्पना और अनुमान के सहारे घटना को इस प्रकार का मोड़ दिया होगा । अनुमान और कल्पना का औचित्यपूर्ण उपयोग करने का अधिकार साहित्यकार को दिया जाता रहा है । इसी से प्रसाद ने ऐतिहासिक तथ्य को अनुमान और कल्पना से जोड़कर प्रस्तुत किया है ।

धर्मोत्कर्ष के प्रतीक के रूप में धनदत्त और मणिमाला नामक पात्रों का सृजन प्रसाद ने किया है । भिन्न-भिन्न राजनैतिक पात्रों को एक जगह लाने के लिए सेठ धनदत्त की कथायोजना की गयी है । कालिन्दी जैसी पात्र से इतिहास एवं कल्पना का सुन्दर मिश्रण किया गया है । डा· नगेन्द्र ने लिखा है -- " .... कलिन्दी जैसी राजकुमारियों का अस्तित्व भी उस युग में

1· भारतीय इतिहास एक दृष्टि - ज्योति प्रसाद जैन, - पृ· 103 - 108·

सहज कल्पनीय है जो अपने पदच्युत वंश का प्रतिशोध लेने के लिए राजनीतिक कुचक्रों में सक्रिय भाग लेती थीं ।"[1]

धार्मिक दृष्टि से देखें तो स्पष्ट होता है कि मौर्यशासनकाल में बौद्ध धर्म अपने उच्च रूप में था । मौर्य शासन काल के ह्रास होते-होते बौद्ध धर्म का भी ह्रास होने लगा । धर्म पर किसी व्यक्ति या राजनीतिक शक्ति का नियन्त्रण और वह लोक धर्मी रूप खोकर राज्याश्रय मात्र पर निर्भर होने लगे तो धर्म का किस प्रकार ह्रास हो जाता है उसका एक रूप हमें यहां मिलता है । इरावती अपनी इच्छा के विरुद्ध, राजाज्ञा के कारण बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है । मानसिक रूप से वह उस धर्म को अंगीकार कर नहीं पाती । उसके बौद्ध धर्म के प्रति विरोधी भाव देखकर बौद्ध स्थविर कहता है - "वह स्वेच्छा से आई हुई नहीं है । तब तो राजकीय आज्ञा से भिक्षु-संघ भी परिचालित होगा । यह तो अनर्थ है ।"[2]

ब्रह्मचारी, ब्राह्मण धर्म का प्रतिनिधि पात्र है जो कर्तव्य-विरत बौद्ध धर्म की ओर से अनासक्त जनता [3] को उत्तेजित करना चाहता था । बौद्ध धर्म के अहिंसावादी सिद्धांत को कायरता एवं निराशावाद का द्योतक समझते हुए ब्रह्मचारी कहता है - "सर्वसाधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्म विश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी ।"[4]

---

1. विचार और विश्लेषण - डॉ. नगेन्द्र - पृ. 159.
2. इरावती जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 390.
3. इसलिए कि मुझे अपनी आँखों से देखना होगा कि आर्यावर्त्त में कहीं पौरुष बच गया है ! कहीं तेज किसी राख में छिपा तो नहीं है ।
   - वही - पृ. 392.
4. - वही - पृ. 392.

इस उपन्यास में मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा फिर से होगी, ऐसी अभिलाषा व्यक्त हुई है। मानव-मूल्यों की दृष्टि से प्रसाद की "कामायनी" और "इरावती" की तुलना करते हुए एक आलोचक ने लिखा है -- "कामायनी" में मानवदृष्टि का विनाश और उसकी सृष्टि की ओर संकेत मिलता है। तो "इरावती" में मानवता के नाश और उदय की ओर संकेत किया गया है।"[1] इसमें उन्नत मानवता के लिए स्थापित किन्तु अब पतनशील हो चले बौद्ध धर्म का विध्वंसात्मक रूप देखने को मिलता है। मानवता को बन्दी बनाकर रखने अर्थात् जनता की इच्छा के अनुसार नहीं बल्कि बलपूर्वक उस पर राज्य करनेवाले बौद्ध शासकों एवं उनकी निराशाजनक दार्शनिक धारा का विरोध करते हुए अग्निमित्र कहता है -- "ठहरो भिक्षु, हम पुनर्जन्मवादी हैं। निर्वाण यदि मानव-जीवन के लिए आवश्यक ही होगा, तो उसे किसी अगले जन्म में खोज लूँगा ? तब जीवन व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। ओह ! तुम्हारे इस कुहर में मनुष्य अपने जीवन को भी नहीं प्राप्त करता। न जाने कब इस कुक्कुटराम की प्राचीर गिरेगी और बन्दिनी मानवता मुक्त होगी।"[2]

उस समय की राजनीतिक स्थिति की ओर प्रसाद ने पर्याप्त संकेत किये हैं। मौर्य शासन के अन्तिम समय में एक ओर से मगध पर खारवेल का और दूसरी ओर से यवनों के आक्रमण का उल्लेख इतिहास में मिलता है। प्रसाद लिखते हैं -- "गान्धार से दिमित्र यवन पंचनद की ओर बढ़ रहा है। संभवतः उसकी इच्छा गंगा पार करने की है। उसने नियमित कर भेजना तो बहुत दिन से बन्द कर रखा है, अब यवनों की इच्छा कुछ दूसरी ही है।"[3]

---

1. "प्रसाद प्रतिभा", रघुनाथ मदन में प्राणमोहसिंह का निबन्ध "इरावती" पृ० 219.
2. "इरावती", जयशंकर प्रसाद, प्रसाद ग्रंथावली 3, पृ० 422.
3. - वही - पृ० 378.

यवनों का आक्रमण और उनका विस्तार भारत पर कहाँ तक हुआ था, इन का चित्रण प्रसाद ने किया है -- "कलिंग के द्वारा पंचनद का प्रदेश साम्राज्य से अलग कर लेने के बाद भी मगध की आँख नहीं खुली । प्रांत सुरक्षित मान लिए गए । आज वही प्रान्त यवनों के हाथ में पड़ गया है । फिर कान्यकुब्ज पर आक्रमण होने कितने विलम्ब है ? मैं तो कान्यकुब्ज की रक्षा के लिए प्रस्थान करता हूँ, किन्तु एक बात कहे जाता हूँ कि मगध के दक्षिणी प्रान्त दुर्ग रोहिताश्व, मुर्दगगिरि और शोण के सम्पूर्ण तट की भी रक्षा आवश्यक है ।"[1]

प्रसाद सच्चे अर्थों में देशप्रेमी थे । उनकी राष्ट्र-सम्बन्धी भौगोलिक तथा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चेतना उच्चकोटि की थी । वे देश की पराजयों का विश्लेषण करना जरूरी समझते थे ताकि उसके वर्तमान और भविष्य को सही सबक मिल सके । इसलिए भी वे "इरावती" उपन्यास में मौर्यशासन काल के अन्तिम समय की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थितियों की ओर संकेत करते हैं । यहाँ मगध की राजधानी पाटलीपुत्र अथवा कुसुमपुर का ऐतिहासिक उल्लेख किया गया है । [illegible], बृहस्पतिमित्र, पुष्यमित्र, खारवेल, अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी आदि अनेक ऐतिहासिक पात्रों के उल्लेख के साथ धनदत्त, मणिमाला, ब्रह्मचारी आदि कल्पित पात्रों का सृजन करके औपन्यासिक कथा को आगे बढ़ाया गया है । इसमें बृहस्पतिमित्र के शासकाल का वर्णन हुआ है । उस पर एक ओर से यवन सेना और दूसरी ओर से खारवेल के आक्रमण हुए थे । इतिहास के अनुसार बृहस्पतिमित्र का वध करके पुष्यमित्र राजा बन जाता है । इस अधूरे उपन्यास में हम यही अनुमान लगा सकते हैं कि संभव है, आगे चलकर प्रसाद भी इसी का अनुसरण करनेवाले हों । उपन्यास में वर्णित भी है कि पूरे देश का रक्षण भार पुष्यमित्र और अग्निमित्र के कन्धों पर ही रखा गया है ।

---

1. "इरावती" प्रसाद ग्रंथावली 3 - पृ. 399.

सम्राट केवल आज्ञा देनेवाला ही था। उपन्यास में अग्निमित्र से खारवेल का मिलन होता है। खारवेल की रक्षा करते हुए अग्निमित्र कहता है -- "महाराज! मैं वचन देता हूँ। महानायक अग्निमित्र के जीवित रहते आप निश्चिंत रहें।"[1]

खारवेल पुष्यमित्र का विरोधी था। मगध पर आक्रमण करने वाला शत्रु था। ऐसे खारवेल के प्रति उनकी बातों से अनेक सन्देह उत्पन्न होते हैं। लेकिन ये सन्देह ऐसे ही रह जाते हैं। उपन्यासकार ने अपने रचना कौशल से ये सन्देह जगाये हैं और उनका शमन वह आगामी कथायोजना के रहस्य करने वाला था, जिसका अवसर नियति ने उसे नहीं दिया। मगर इस अधूरी औपन्यासिक रचना में भी प्रसाद अपने इतिहास बोध ही नहीं, ऐतिहासिक चेतना का भी पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करते हैं।

① इरावती, प्रसादग्रंथावली – 3, पृ. 453.

चतुर्थ अध्याय

प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक चेतना का स्वरूप और उसकी समीक्षा

प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक चेतना का स्वरूप और उसकी समीक्षा

प्रसाद के नाटकों का इतिहासपरक महत्व :-

अपने युग की प्रकृति के अनुरूप नाटककार इतिहास को देखता है, उसी प्रकृति को लेकर आगे चलता है तथा अपनी मौलिक प्रतिभा को भी कृति में अंकित करता है । इतिहास की स्थितियों की गहराई में पैठकर अपने युग की समस्याओं का समाधान ढूंढ निकालने का सूक्ष्म तथा सांकेतिक प्रयत्न भी उसकी रचनाओं में प्रतीत होता है । आधुनिक युग के नवजागरण के काल में प्रसाद का आगमन हुआ । काव्य के क्षेत्र में वे युगान्तकारी कवि माने गये तो नाटक के क्षेत्र में भी वे एक युग - प्रवर्तक कलाकार के रूप में हमारे सामने आये ।

प्रसाद के साहित्य में उनके नाटकों का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐतिहासिक नाटककार के रूप में वे जितने प्रसिद्ध हुये थे, उतना उनका समकालीन अन्य कोई नहीं। उनके नाटकों की कथावस्तु विशेषतः इतिहास पर ही आश्रित है। अब विचारणीय बात यह है कि उनकी दृष्टि अतीत की ओर क्यों अग्रसर हुई और अतीत को किस प्रकार के दृष्टिकोण से उन्होंने देखा है। इतिहास के प्रति उनकी दृष्टि आमतौर पर वस्तुवादी रही है। इसके अनुसार उनका विचार यही था कि वर्तमान अनायास नहीं बन गया है, इसके पीछे कार्य-कारण की एक लम्बी परम्परा है जो अप्रत्यक्ष रूप से अतीत से जुड़ी रहती है। अतीत से प्रसादजी के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव का कहना है - " इतिहास के प्रति प्रसाद की दृष्टि का एक और भी पहलू है, जिसे नाटक के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। वे अतीत को गौरवशाली किन्तु वर्तमान जीवन से कटी हुई अमूल्य धरोहर मात्र नहीं मानते। उनकी गहन भावमयी अन्तर्दृष्टि उसमें मानवीय जीवन की उन सनातन सत्यों की अभिव्यक्ति देखती है, जिनसे वर्तमान और भविष्य उतने ही जुड़े हैं जितना कि अतीत। "[1]

वर्तमान के माध्यम से अतीत, भविष्य दोनों जुड़ते हैं और आलोकित होते हैं। इतिहास वास्तव में अतीत से वर्तमान तक और भविष्योन्मुख एक श्रृंखला ही है। अतीत के अनेकों तत्व और तथ्य वर्तमान तथा भविष्य तक सार्थक बने रहते हैं। इन्हें ही लोग " शाश्वत सत्य " भी कहते हैं, यद्यपि निरपेक्ष शाश्वत सत्य जैसी

---

1. " प्रसाद प्रतिभा - इन्द्रनाथ मदन " में लेख - 'ऐतिहासिक नाटक', जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. ११.

कोई वस्तु नहीं होती । प्रसाद ने वर्तमान और भविष्य के लिए अतीत में ऐसे तत्वों का संधान किया । इस दृष्टि से उनके ऐति-हासिक नाटकों की आलोचना करते हुए जगदीशचन्द्र जोशी का कहना है - "इन ऐतिहासिक तथ्यों से मानव सभ्यता के चिरंतन और शाश्वत सत्यों को ढूंढ निकालना प्रसाद को अभिप्रेत था । यही कारण है कि प्रसाद भारतीय इतिहास के उन युगों की ओर बढ़े हैं जिनमें मानव-सभ्यताएँ एक-दूसरे से टकराई हैं और संघर्ष के परिणाम-स्वरूप भले ही सभ्यताएँ नष्ट भी हो गयीं किन्तु उनके शाश्वत सत्य अपनी ध्वजाओं को चिरंतन काल के लिए फहरा गये हैं ।"[1]

सही परिप्रेक्ष्य में अपनी समसामयिक समस्याओं का साक्षात्कार, उनका वास्तविक निरूपण और यथासंभव समाधान अक्सर अतीत में जाने से संभव होता है । प्रसाद जी के अनुसार वर्तमान अतीत का ही फल है । इसलिए वर्तमान को समझने के लिए अतीत का अध्ययन आवश्यक है । भारत का केवल वर्तमान ही नहीं, अतीत भी विदेशी हाथों में गुलाम बना रहा था । उस गुलामी का स्वरूप कैसा था, हम गुलाम क्यों हुए, अतीत की गुलामी का वर्तमान में साम्य या अंतर क्या था, अतीत में उससे किस प्रकार मुक्ति पाई थी, आज हमें क्या करना है आदि सबको दिखाने का प्रयत्न प्रसाद ने किया है । इतना ही नहीं कि हमारे वर्तमान स्थिति के लिए कारणभूत तथ्यों को भारतीय इतिहास से निकाल लेना ही उनका लक्ष्य था ।

---

1. "प्रसाद प्रतिभा" इन्द्रनाथ मदन " में लेख - 'ऐतिहासिक नाटक,' जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. 99.

उनके नाटकों में परम्परागत रूप से लिखे जाने वाली ऐतिहासिक नाटकों का नया रूप प्रस्तुत किया गया है। यहाँ साहित्य में अर्थात् कल्पना और इतिहास दोनों को प्रधानता दी गयी है। इतिहास की प्रामाणिकता को सुरक्षित रखते हुए उसका कलात्मक रूप उन्होंने प्रस्तुत किया है। लेकिन प्रसाद की इतिहास-दृष्टि को सम्पूर्णतः वस्तुवादी कहना भी अतिशयोक्ति होगी। प्रसाद छायावादी कवि थे। आत्मनिष्ठता, कल्पनाप्रवणता, आदर्शवादिता की मनोवृत्तियाँ स्वभावतः उनमें थीं। अतः इतिहास सम्बन्धी प्रसाद की दृष्टि पर विचार करते हुए इन बातों को भुला देना उचित नहीं होगा। इसी तरह केवल उन्हें रोमांटिक भाव बोध का मानना भी औचित्यपूर्ण नहीं है, जैसा कि इतिहास के प्रति प्रसाद के दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए डा॰नगेन्द्र कहते हैं कि " वर्तमान से विमुख होने के कारण - जैसा रोमांटिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है - वह पुरातन की ओर आकृष्ट या कल्पना - लोक की ओर। प्रसाद की यही रोमाण्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है। "[1] डा॰नगेन्द्र के इस कथन से एक सीमा तक ही सहमत हुआ जा सकता है।

एक तरह से प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति के प्रति उनकी गहन आस्था थी। आर्य संस्कृति का उत्थान-पतन, बौद्ध-जैन संस्कृतियों की टकराहट आदि के दर्शन उनके नाटकों में होते हैं। जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव कहते हैं —"अतीत के प्रति प्रसाद का यह लगाव एक महत्त्वपूर्ण सीमा तक सांस्कृतिक है।

1· विचार और अनुभूति, नगेन्द्र - 35·

उनके साहित्य में व्याप्त उनका जीवन-दर्शन जिस आनन्दभाव को केन्द्र में रखकर चलता है, उसका आदि स्रोत उन्हें आर्यों की पुरातन संस्कृति से मिला है । "[1] लेकिन साथ ही संस्कृति के सन्दर्भ में प्रसाद को अतिशुद्धतावादी मानना भी ठीक नहीं होगा । आर्य संस्कृति के समन्वयमूलक प्रश्नों से प्रसाद अच्छी तरह परिचित थे । शक, हूण, कुषाण, तुर्क, मुगल, अंग्रेज आदि संस्कृतियों से होने वाले आदान-प्रदान का उन्हें पता था । उनके नाटकों में इतिहास ही नहीं, पुराणों की कथा का उपयोग भी मिलता है । पुराणों से भी उन्होंने अपने नाटकों के लिए कथावस्तु जुटायी थी । अनेक विद्वानों की दृष्टि से पुराण इतिहास नहीं है । क्योंकि वहाँ मिथकों का जाल बुना गया है । लेकिन सच्चाई यह है कि पुराणों के सतर्क अध्ययन से ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं । अतः यह समझना ठीक नहीं कि पुराणों का प्रामाणिक आधार नहीं है । प्रसाद ने किस प्रकार और किस दृष्टि से पुराण को देखा है और इस संदर्भ में अपने पौराणिक नाटकों का किस प्रकार सृजन किया है इसे हम आगे देखेंगे ।

भारतीय संस्कृति की सामासिकता और समन्वय की चेतना प्रसाद के नाटकों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता है । यह समन्वय कई क्षेत्रों और स्तरों पर है । पूरब और पश्चिम, प्राचीन और आधुनिक तथा आदर्श और यथार्थ का समन्वय पहली ही नजर में देखा जा सकता है । भारत के सामाजिक राजनैतिक, सांस्कृतिक इतिहास के चित्रण में भी उनकी आत्मालोचनपरक समन्वयकारी भावना स्पष्ट होती है ।

---

1. प्रसाद के नाटक रचना और प्रक्रिया – जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव पृ. 18.

इसी पहलू को दिखाते हुए ओमप्रकाश जी कहते हैं - "इतिहास यह जानता है कि जब भोगविलास की मात्रा अधिक बढ़ गयी तभी आर्यों का पतन आरंभ हो गया। जैनों ने इसके विरुद्ध तप का सिद्धान्त चलाया, वह भी अति पर पहुँच गया, तब बौद्धों का मध्यम वर्ग आया, परन्तु बौद्ध धर्म ने विकृत होकर कायरता को जन्म दिया। प्रसाद जी ने बतलाया है कि न तो भोग ही बुरा है न वैराग्य ही, परन्तु उसकी मात्रा को समझे बिना उनका उपयोग घातक होता है।"[1] प्रसाद जी अपनी परम्परा की खराबियों की ओर से आँखें मूंदकर स्वीकार करनेवालों में से नहीं थे।

नाट्य परम्परा की दृष्टि से विचार करते हुए अधिकांश विद्वान प्रसादजी के नाटकों की रचना को भारतीय नाट्य परम्परा के अनुकूल ही मानते हैं। वाजपेयी जी का यही कहना है कि "प्रसाद जी के नाटकों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे दुखान्त घटना को अपने नाटकों में स्थान नहीं देते। इसका कारण यह है कि भारतीय नाट्य परंपरा को वे तोड़ नहीं सके।"[2] जबकि कुछ विद्वान प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखते हैं। उनके नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव की अधिकता को स्वीकार करते हुए लक्ष्मीनारायण मिश्र जी का मत व्यक्त करते हुए वाजपेयी कहते हैं -- "प्रसाद जी पर मिश्रजी का मुख्य आक्षेप यही है कि उनके नाटक भारतीय परंपरा के नाटक नहीं हैं, वे स्वच्छन्दतावादी पश्चिमी नाटकों के आदर्श से प्रभावित हैं। मिश्रजी की दृष्टि में प्रसादजी के नाटक कालिदास एवं भास की अपेक्षा शेक्सपियर के अधिक समीप हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यह

---

1. आधुनिक समीक्षा, ओमप्रकाश - पृ. 82.
2. जयशंकर प्रसाद, नन्द दुलारे वाजपेयी - पृ. 146.

तर्क उपस्थित किया है कि भारतीय नाट्य शैली नायक को धीरोदात्त बनाकर चलती है। ... किन्तु प्रसादजी के नायक इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते।"[1] दरअसल प्रसादजी में रचना के स्तर पर भी पौर्वात्य तथा पाश्चात्य नाट्य-दृष्टियों का समन्वय दिखायी देता है। यह स्पष्ट है कि उनके आरंभिक नाटक संस्कृत नाट्य परंपरा के अनुसार नांदी, प्रस्ताव, भरतवाक्य आदि से युक्त थे। लेकिन अपने रचनात्मक विकास-क्रम में प्रसाद ने इन सबका अनिवार्यतः उपयोग करना छोड़ दिया। उनके नाटकों का अन्त भी सुखान्त या दुखान्त न होकर प्रसादान्त के रूप में प्रचलित हो गया है। इसी बात का समर्थन करते हुए सूर्य प्रसाद दीक्षित ने अपने एक लेख में लिखा है -- "नाटककार प्रसाद को पूर्व और पश्चिम का सेतु कहा जा सकता है। पश्चिमी नाटक कलेवर में उन्होंने भारतीय आत्मा की प्राण-प्रतिष्ठा की है। ... भारतीय सुखान्त परम्परा और पाश्चात्य दुखान्त (त्रासदी) परम्परा के मध्य योजक सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त उन्होंने प्रसादान्त पद्धति वर्गीकृत की है, जो अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक है।"[2]

आम तौर पर प्रसाद के नाटकों का सबसे बड़ा ऋणात्मक पक्ष रंगमंच-विरोधिक माना जाता है। उनके नाटकों में वर्णित दृश्य, घटनाएँ, युद्धवर्णन आदि रंगमंच योग्य नहीं हैं। दशरथ ओझा ने लिखा है -- "प्रसाद के नाटकों पर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि वे रंगमंच पर अभिनेय नहीं सिद्ध होते। वाजपेयी जी नाटक को साहित्य की विधा मानकर उसमें कार्यावस्था, अर्थ का प्रकृति और रस को अनिवार्य

---

1. जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी - पृ. 166.
2. "आरण्य" - में प्रसाद के नाटक - विविध प्रयोग, सूर्यप्रसाद दीक्षित - पृ. 53.

तत्व स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि जिन नाटकों में उपर्युक्त तत्व पाये जायेंगे वे रंगमंच के अयोग्य सिद्ध हों यह संभव नहीं। "1

पर यह अनिवार्य नहीं कि अर्थ, प्रकृति और रस के योग से ही नाटक की पूर्णता आ जाती हो। उसे रंगमंच पर अभिनीत भी होना चाहिए। लेकिन युग के परिवर्तन से नाटकों के लिखने के ढंग में भी परिवर्तन हो रहा है। इसीलिए नाटकों के रचनागत प्रयोगों के अनुकूल रंगमंच के ढाँचे और स्वरूप में भी परिवर्तन होना चाहिए। यह हिन्दी रंगमंच का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा जहाँ प्रसाद के समय तक रंगमंच में कोई परिवर्तन नहीं हो सका था। इसीलिए उनके अनेक नाटकों को रंगमंच पर दिखा पाना संभव न हो सका था। विनोदशंकर व्यास के अनुसार, "पुरानी संस्कृति का नवीन स्वप्न उन्होंने अपने नाटकों में रखा है। इसमें सन्देह नहीं कि अभिनयकला के प्रदर्शन के लिए प्रसाद जी के नाटकों में गुंजाइश है, लेकिन हिन्दी रंगमंच विकसित न होने से उनकी प्रसिद्धि अभिनय पर निर्भर नहीं रही।"2 फलस्वरूप एक लम्बे अर्से तक प्रसाद के नाटकों को केवल 'पठनीय' मानकर ही साहित्य के क्षेत्र में सम्मानित किया जाता रहा। अब जबकि हिन्दी का अपना रंगमंच विकसित हो चुका है, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसी संस्थाएँ सामने आ चुकी हैं तो प्रसाद के नाटकों का मंचन भी कभी-कभार किया जाता है। प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता के गुण से इनकार नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में प्रसाद की अनेकों नाट्य प्रस्तुतियों की आवश्यकता प्रतीत होती है। सरसरी तौर पर उनके नाटक देखें तो इतिहास -- पुराण से ली गयी कथावस्तु के साथ संस्कृति, परंपरा, अतीत के प्रति

---

1. नाट्य निबन्ध, दशरथ ओझा - 55.

2. प्रसाद और उनका साहित्य, विनोदशंकर व्यास - 127.

गौरव, राष्ट्रीय चेतना, देशप्रेम, ऐतिहासिक तथ्यों की खोज और उनमें कल्पना के सहयोग जैसी मोटी बातों का पता चलता है । उन्होंने दर्जन-भर (13 नाटक) लिखे थे । इन सभी नाटकों के सम्यक् अध्ययन करने के लिए पहले इनका वर्गीकरण कर लेना सुविधाजनक होगा । लिखने के समय अर्थात् नाटकों के रचना-काल की दृष्टि से उन्हें आरम्भ काल, प्रयोग-काल, जैसे रूपों में भी विभाजित किया जा सकता है । प्रसाद के नाटकों का और भी विभाजन संभव है जो उन नाटकों की कथावस्तु एवं विषयवस्तु को आधार बनाकर भी किया जा सकता है ।

डॉ॰परमेश्वरीलाल गुप्त प्रसाद के 13 नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार करते हैं - " इनमें आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो प्रतीकात्मक (नाटक) हैं। पुराण भी इतिहास ही है और प्रसाद उनको इतिहास की दृष्टि से ही देखते थे । "1

कहा जाता है कि प्रसाद ने इन तेरह नाटकों के अतिरिक्त और तीन नाटक भी लिखने का प्रयास किया जो साकार-सफल नहीं हुए । ये तीन नाटक थे, " यशोधर्मदेव ", " अग्निमित्र " और 'इन्द्र' ।

प्रसाद ने 'विशाख' नाटक के पहले ही " यशोधर्मदेव " नाटक लिखा था । इस सम्बन्ध में परमेश्वरीलाल गुप्त जी बताते हैं - " यशो-धर्मदेव नामक नाटक प्रसाद ने विशाख से पूर्व लिखा था और वह बहुत बड़ा नाटक था । इसके प्रकाशित होने की सूचना उन्होंने विशाख की भूमिका में दी है । किन्तु वह नाटक प्रकाश में आने के पूर्व ही नष्ट कर दिया गया । इसका कारण यह बताया जाता है कि जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1· प्रसाद के नाटक, परमेश्वरी लाल गुप्त, पृ· 5·

पर उन्होंने अपने कथानक को खड़ा किया था, उस पृष्ठभूमि की ऐति - हासिकता को विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर अमान्य ठहराया । अत: अनैतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये नाटक का प्रकाश में आना प्रसाद ने अवांछनीय माना और उसे नष्ट कर डाला ।"[1] इससे जाहिर होता है कि ऐतिहासिक तथ्यपरकता और प्रामाणिकता को प्रसाद ऐतिहासिक रचनाओं के लिए कितना महत्वपूर्ण मानते थे । साहित्य को कपोल-कल्पना बनाकर प्रस्तुत करने के पक्ष में वे नहीं थे और साथ ही वे इतिहास के साथ छेड़खानी करके पूर्वाग्रह-युक्त मत को जबर्दस्ती स्थापित करने के पक्ष में नहीं थे । क्योंकि प्रसाद अत्यन्त गंभीरतापूर्वक लेखकीय उत्तर-दायित्व का निर्वाह करते थे, " अग्निमित्र " नाटक को मुद्रित होने के बावजूद नष्ट कर दिया जाना, प्रसाद का दायित्व और निष्ठापूर्ण ऐतिहासिक दृष्टि का परिचायक है । अग्निमित्र नाटक के बारे में गुप्त जी ने सूचना दी है कि " यह नाटक उन्होंने इरावती उपन्यास लिखने से पूर्व लिखना आरंभ किया था और इसका कथानक भी वही था जो इरावती की पृष्ठभूमि है । .... उसे देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सलाह दी कि इस कथानक पर नाटक न लिखकर उपन्यास लिखा जाय । उनकी राय मानकर प्रसाद ने इस नाटक का लिखना स्थगित कर इरावती उपन्यास लिखना आरम्भ किया था ... ।"[2] वस्तुत: इतिहास प्रसादजी के लिए खान की तरह था जहाँ से वे रचनात्मक कच्चा माल प्राप्त करते थे । विभिन्न विधाओं में प्रसाद की साहित्य सृष्टि का तथ्य विशेष रूप से इतिहास से लिया गया है । प्रसाद " इन्द्र " को लेकर एक अच्छा नाटक लिखना चाहते थे । " इन्द्र " नाटक के बारे में गुप्त जी

1· प्रसाद के नाटक, परमेश्वरीलाल गुप्त - पृ· 5·

2· - वही -

कहते हैं - 'इन्द्र' नामक नाटक लिखने का आयोजन प्रसाद अपने जीवन के अन्तिम दिनों में कर रहे थे। इस नाटक में उनका त्वष्ट के पुत्र विश्वरूप की हत्या आदि का ऐतिहासिक ढंग पर विवेचन करने का विचार था। इस नाटक की भूमिका उन्होंने तैयार कर ली थी; किन्तु वे अपनी इस कृति को साकार रूप न दे सके।"[1] डॉ॰परमेश्वरीलाल गुप्त का संकेत संभवतः प्रसाद के निबंध 'आर्यावर्त्त का प्रथम सम्राट इन्द्र' की ओर जान पड़ता है, जिसकी सामग्री का संकलन-विवेचन प्रसादजी ने अत्यंत परिश्रम तथा तर्कपूर्वक किया था। यह अनुमान लगाना ठीक नहीं कि वह संभावित 'इन्द्र' नाटक कैसा होता, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद जी पुराणों में ऐतिहासिक वस्तु की उपस्थिति सदैव महसूस करते थे और उसे उपलब्ध करने के लिए उद्यत रहते थे।

प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण :-

प्रसाद के नाटकों के रचनाकाल की दृष्टि से इनके नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं :-

क्र॰सं॰	नाटक का नाम	समय	वर्णित कथावस्तु
1	2	3	4
1॰	सज्जन	1910	महाभारत कालीन कथा
2॰	कल्याणी परिणय	1912	मौर्य काल
3॰	करुणालय	1912	पौराणिक गीति नाट्य
4॰	प्रायश्चित्त	1914	ऐतिहासिक किंवदन्ती पर आधारित नाटक

1॰ प्रसाद के नाटक, परमेश्वरीलाल गुप्त - पृ॰ 5॰

1	2	3	4
5.	राज्यश्री	1915	वर्धन साम्राज्य कालीन घटनाओं पर आधारित
6.	विशाख	1921	इतिहास और दन्तकथा का मिश्रण
7.	अजातशत्रु	1922	बौद्धकालीन घटनाओं पर आधारित
8.	जनमेजय का नागयज्ञ	1926	महाभारत युद्ध के बाद की कथा
9.	कामना	1927	प्रतीकात्मक
10.	स्कन्दगुप्त	1928	गुप्तवंश
11.	एक घूंट	1930	एकांकी (काल्पनिक, समकालीन)
12.	चन्द्रगुप्त	1931	मौर्यकाल
13.	ध्रुवस्वामिनी	1933	गुप्तकाल

केवल इतिहास का निरपेक्ष अध्ययन करना ही प्रसाद का उद्देश्य होता तो ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार ही उन्होंने अपने नाटक लिखे होते। दरअसल वर्तमान से प्रेरित होकर अतीत की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया को यहां महसूस किया जा सकता है। इसी दृष्टि से उनके विभिन्न ऐतिहासिक कालों के तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण दिखायी पड़ता है। इससे वे वर्तमान के चित्रण की किंचित् आकांक्षा भी पूरा करना चाहते थे। अतः अतीत का आत्मालोचन वर्तमान से सूक्ष्म रूप से जुड़ता है। वे पुरानी संस्कृति, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक संघर्षों की ओर, वर्तमान को जगाने के लिए प्रेरणा देने वाले अतीत की ओर, समझ-बूझकर अग्रसर हो गए थे।

इसलिए अपने समय से मिलती जुलती जो ऐतिहासिक नाटकीय कथावस्तु मन में आयी, उसी को प्रसाद ने समय-समय पर लिखा होगा । नाटकों की कथावस्तु या विषयवस्तु को आधार बनाकर उनके नाटकों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

कथावस्तु पर आधारित वर्गीकरण :-

1· शुद्ध ऐतिहासिक 2· अर्द्ध ऐतिहासिक
3· काल्पनिक-स्वच्छन्द 4· पौराणिक

1· शुद्ध ऐतिहासिक :-

" यदि नाटककार मूल कथानक प्रामाणिक इतिहास से ले, प्राय: सभी प्रधान पात्र भी इतिहास विश्रुत हों और उन सभी पात्रों के नामों को ही नहीं चरित्रों को भी ज्यों का त्यों स्वीकार करे तो इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक को शुद्ध ऐतिहासिक की श्रेणी में रखा जा सकता है । "1 ऐसी रचनाओं में लेखक ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना नहीं करता । ऐतिहासिक घटनाओं, तिथियों, व्यक्तियों का इतिहास-अनुमोदित स्वरूप ही उसे प्रस्तुत करना होता है । रचना में उसकी कल्पना को संयमित - अनुशासित होकर इतिहास का अनुसरण करना पड़ता है । ऐतिहासिक सत्य को विश्वसनीय रूप प्रदान करने में ही उसकी भाषा-शैली और शिल्प का कौशल रखा जाता है । प्रसाद ने इस प्रकार के अनेक नाटक रचे हैं जिनमें लगभग निर्भ्रांत ऐतिहासिकता सुरक्षित है । अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री नाटक इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं ।

1· प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, जगदीशचन्द्र जोशी - 45·

2· अर्द्धऐतिहासिक :-

" यदि नाटककार मूल कथानक इतिहास से ले और कल्पना से प्रधान पात्रों का सृजन कर उनका इतिहास पर आरोप करे तो, ऐसे नाटक को अर्द्ध ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में रख सकते हैं।"[1] ऐसे नाटकों में अनेक ऐतिहासिक पात्र, घटनाएँ, स्थितियाँ हो सकती है पर मुख्य चरित्र, घटनाएँ, स्थितियाँ कल्पनाश्रित होती हैं। प्रसाद के कल्याणी परिणय, विशाख इसी वर्ग के नाटक हैं। लेखक की कल्पना की उड़ान इतिहास-विरुद्ध नहीं होनी चाहिए और इसी सीमा में वह स्वतंत्र कल्पना को खुला छोड़ सकता है।

3· काल्पनिक-स्वच्छन्द :-

वस्तुत: इस प्रकार की रचनाओं में लेखक उत्पाद्य अथवा कल्पना - प्रसूत कथानक लेता है, मगर स्थानों, कालों, पात्रों, संवादों आदि के माध्यम से वह ऐतिहासिकता का भ्रम पैदा करता है। स्वच्छन्द रचनाओं में ऐतिहासिकता का यह भ्रम भी नहीं रह जाता। श्री जोशी के अनुसार, " प्रामाणिक इतिहास से भिन्न सभी कथानक काल्पनिक कहे जा सकते हैं।[2] प्रसादजी के " प्रायश्चित " को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

4· पौराणिक :-

वेदों-पुराणों में वर्णित पुराकथाओं, आख्यानों, मिथकों आदि को आधार बनाकर लिखी गयी रचनाएँ इस कोटि में आती हैं। यहाँ भी प्राचीन मिथकों आदि के माध्यम से वर्तमान स्थिति पर टिप्पणी करना

1· प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, जगदीशचन्द्र जोशी - पृ· 45·

2· - वही - पृ· 46·

संभव है और उनमें नवीन अर्थ भरे जा सकते हैं । सज्जन, करुणालय, जनमेजय का नागयज्ञ जैसे प्रसाद के नाटकों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है ।

लेकिन प्रसादजी के नाटकों के इस प्रकार के विभाजन से वाजपेयी जी संपूर्णतः सहमत नहीं हैं । उनके अनुसार " प्रसादजी के नाटक ऐतिहासिक कोटि के भीतर आते हैं, वे कल्पना-प्रधान नाटकों की कोटि से भिन्न हैं । प्रसाद के नाटक काल्पनिक और स्वतंत्र नहीं, वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हैं । केवल ' एक घूंट ' और ' कामना ' नाटकों में प्रसादजी ने इतिहास का कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा, उनके पात्र ऐतिहासिक नहीं हैं, किन्तु बन्धन वहाँ भी है - ' कामना ' और ' एक घूंट ' प्रतीकात्मक नाटक हैं । उनमें मानव-वृत्तियों का वह संघर्ष नहीं है, जो स्वतन्त्र नाटक में हो सकता है । "[1] वस्तुतः प्रसाद की तीव्र एवं सक्रिय इतिहास दृष्टि उनकी प्रत्येक नाट्य-रचना में महसूस की जा सकती है । फिर भी इसने जिस तरह जो विषयवस्तुपरक वर्गीकरण किया है उसकी सुविधा से इनकार नहीं किया जा सकता इस वर्गीकरण को निम्नलिखित प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है --

विषयवस्तुपरक वर्गीकरण --

1. ऐतिहासिक कथावस्तुवाले नाटक
2. काल्पनिक वस्तुवाले नाटक

   (अ) काल्पनिक वस्तुवाले प्रतीक नाटक (कामना)

   (आ) समसामयिक भावों वाला काल्पनिक नाटक (एक घूंट)
3. पौराणिक कथावस्तुवाले नाटक ।

---

1. जयशंकर प्रसाद - नन्ददुलारे वाजपेयी - पृ. 143.

1. ऐतिहासिक कथावस्तुवाले नाटक :-

इस प्रकार के नाटकों में कथावस्तु, पात्र, देश-काल वातावरण सभी इतिहास से लिये जाते हैं। कथा को आगे बढ़ाने के लिए कहीं-कहीं कल्पना का उपयोग होने पर भी उससे इतिहास को कोई क्षति नहीं पहुँचती। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री आदि नाटक ऐसे हैं। " कल्याणी परिणय " और " विशाख " ऐसे नाटकों को भी इसी कोटि में रखना चाहिए। उनको पूर्ण ऐतिहासिक नाटक न मानने पर भी इतिहास का आभास देने वाले नाटक माने जा सकते हैं।

2. काल्पनिक वस्तुवाले नाटक :-

ऐसे नाटकों में स्थान-काल-पात्र आदि के नामों से ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न होता है लेकिन कथावस्तु पूर्णतः कल्पना-निर्भर होती है। उनकी रचनाओं में इसतरह के नाट्यलेखन के दो प्रकार उपलब्ध हो सकते हैं अर्थात् इसको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। यथा --

1. काल्पनिक वस्तुवाले प्रतीकात्मक नाटक ।
2. काल्पनिक वस्तुवाले समकालीन - सामाजिक नाटक ।

" कामना " प्रसाद का प्रतीकात्मक नाटक है। मनुष्य की अन्तः प्रवृत्तियों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करना ही प्रतीकात्मकता है। " कामना " ऐसा ही नाटक है। " एक घूँट " में काल्पनिक कथावस्तु है पर साथ ही उसके समकालीन होने का बोध होता है। यह एक एकांकी नाटक है। किसी घटना-विशेष का वर्णन एक अंक में पर्यवसित होने वाले नाटक ही एंकाकी कहे जाते हैं जो नाटकों का आधुनिक काल में एक महत्वपूर्ण प्रकार बन गये हैं।

3. पौराणिक कथावस्तुवाले नाटक :-

प्रसाद ने केवल इतिहास को ही अपने नाटकों की आधारभूमि नहीं बनाया बल्कि पुराणों को आधार बनाकर भी उन्होंने नाटक लिखे। सज्जन, करुणालय, जनमेजय का नागयज्ञ ऐसे ही नाटक हैं। पुराण इतिहास है या नहीं, इस विषय को लेकर इतिहासकारों, चिंतकों और लेखकों में लम्बे समय से वाद-विवाद चलता ही जा रहा है।

पुराणों को ऐतिहासिक न मानते हुए श्रीराम गोयल कहते हैं— "इतिहास की चाहे जो परिभाषा की जाए, इतना सभी मानेंगे कि इसकी विषय-वस्तु भूतकाल की वे महत्वपूर्ण घटनाएँ होती हैं, जिनका देश और काल निश्चित होता है। ... इस दृष्टि से वैदिक काल को हम "ऐतिहासिक युग" नहीं कह सकते, क्योंकि उस युग की राजनैतिक घटनाओं की तिथियां ही नहीं, प्राय: स्थान भी अनिश्चित है। इसकेलिए हमारे पास दो साक्ष्य हैं — वैदिक काल में ही रचित वैदिक साहित्य एवं अपने वर्तमान रूप मे गुप्तकाल एवं गुप्तोत्तर काल में रचित पुराणों की वंश - वलियां।"[1] वे इन्हें पर्याप्त तथा संपूर्णत: प्रामाणिक नहीं मानते साथ ही काल्पनिकता, मिथकीयता आदि से भरपूर होने के कारण पुराणों को ऐतिहासिक तथ्यों से दूर बताते हैं।

इतिहास-कार इतिहास का अध्ययन करते समय "ज्ञात इतिहास" अर्थात् प्रमाणों से पुष्ट तथ्यों का आश्रय लेता है। इतिहास का सम्बन्ध उन घटनाओं एवं व्यक्तियों से है जो एक विशेष वातावरण से बद्ध होकर भी

---

1. मगध साम्राज्य का उदय, श्रीरामगोयल - पृ. 16.

भविष्यके लिए अपने चिह्न छोड़ देते हैं। इसी प्रामाणिकता के अभाव में बहुत-से विद्वान वेद, पुराण और उपनिषदों को इतिहास नहीं मानते। सबसे बड़ी समस्या इनका काल-निर्धारण है। जोशी जी जैसे आलोचक का भी यही कहना है - "कुछ भी हो वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों से भारत के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा भले ही प्राप्त की जा सके, प्रामाणिक इतिहास का उसमें भी अभाव है क्योंकि मूलतः वे धार्मिक और दर्शन संबंधी ग्रंथ हैं।"[1]

इस दृष्टि से देखा जाए तो पौराणिक कथाओं को ऐतिहासिक वातावरण में रखकर चित्रित करने पर भी वे पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं बन पाते। ऐसी रचनाओं पर तिल-क्रम दोष का आरोप लगाया जाता है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि पुराणों को कथावस्तु लेने के बावजूद आज का रचनाकार मिथकों को यथार्थ बनाकर पेश करना चाहता है। वह पुराण-वर्णित अतिमानवी शक्तियों का प्रभामंडल तोड़कर सामान्य मनुष्यों के रूप में उनका चित्रण करता है। इस प्रकार पुराण कालवाला परिवेश द्वारा इतिहासकालीन परिवेश के रूप में दिखाई देने लगता है। लेकिन यह कालक्रम दोष बहुत खुलकर जाहिर होता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इससे पुराणवर्णित कथावस्तु में भी ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। दूसरी बात यह है कि पुराण की मिथकों का सही अर्थापन किया जाए तो इतिहास की कड़ियाँ भी सुलझती हुई दिखायी पड़ती हैं। प्रो॰ देवी - प्रसाद चट्टोपाध्याय ने "लोकायत" ग्रन्थ में कबीलों, जातियों, कुलों आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस तरह से पुराणों के

---

1. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन - जगदीशचन्द्र जोशी - पृ॰ 33.

समग्र अध्ययन से इतिहास के अंधेरे पक्षों पर नयी रोशनी पड़ने की संभावना भी होती है । प्रसाद ने पुराणों को इसी दृष्टि से अधिकतर देखा है ।

अनेक इतिहासकारों की भाँति प्रसाद ने भी भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से आरंभ हुआ माना है । " अजातशत्रु " की भूमिका में उन्होंने लिखा है - " भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उस काल की बौद्धकथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में प्रसंग आता है । लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं । पौराणिक-काल के बाद गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व ने तत्कालीन सभ्य संसार में बड़ा भारी परिवर्तन किया । इसलिए हम कहेंगे कि भारत के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ धन्य है, ... "[1]

पर इसका मतलब यह नहीं निकालना चाहिए कि प्रसाद पुराणों को अनैतिहासिक मानते हैं । पुराण इतिहास है या नहीं, यह विवादास्पद भले हो, पर पुराणों से इतिहास-विषयक सामग्री का संचयन करना असंभव भी नहीं । प्रसाद ने इस दृष्टि से पुराण को ग्रहण करके उसे अपने कई नाटकों की कथावस्तु बना डाली है । " करुणालय " में पौराणिकता का जितना आभास है, उसकी तुलना में कल्पना की अधिकता देखी जाती है । " सज्जन " में पौराणिकता को लगभग अक्षुण्ण रखा गया है । " जनमेजय का नागयज्ञ " में आर्य-अनार्य का संघर्ष चित्रित किया गया है जिसमें प्रसाद की मौलिकता के भी दर्शन होते हैं ।

---

1. " अजातशत्रु " - जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली - 2, पृ. 186.

ऐतिहासिक कथावस्तु वाले नाटक :-

प्रसाद के ऐतिहासिक कथावस्तु वाले नाटक पाँच माने जाते हैं। वे हैं -- अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री। ऐतिहासिक काल-क्रम के अनुसार भी इन नाटकों का क्रम ऐसा ही है। अजातशत्रु का समय गौतम बुद्ध का समय था। जोशी जी लिखते हैं कि प्रसाद के अनुसार " अजातशत्रु " नाटक 558 ई•पू• से प्रारम्भ होकर 552 ई•पू तक चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के निर्वाण की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में प्रसाद स्वयं किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। उन्होंने "चन्द्रगुप्त " की भूमिका में ही अन्यत्र बुद्ध के निर्वाण की तिथि 550 ई•पू• भी मानी है जो उनकी पूर्व मान्यता (543 ई•पू•) से 7 वर्ष पूर्व की है।"[1]

चन्द्रगुप्त का समय मौर्य काल का आरम्भ था। उसका समय 346 ई•पू माना जाता है। मौर्य सम्राट नन्द के बाद चन्द्रगुप्त राजा बना था। उसी समय के सामाजिक-राजनैतिक इतिहास का साहित्यिक वर्णन चन्द्रगुप्त नाटक में हुआ है।

इसके बाद गुप्त काल से सम्बन्धित कथावस्तु स्कन्दगुप्त नाटक में ली गयी है। कुमारगुप्त के बाद (413 - 455 ई) के बाद स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई• 455 - 467) का शासन था।

1• प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन - जगदीशचन्द्र जोशी - पृ• 192•

" ध्रुवस्वामिनी " में रामगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन-समय वर्णित है । इतिहास में शासक रामगुप्त का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी चन्द्रगुप्त का समय 375-414 ई॰ तक माना गया है ।

" राज्यश्री " नाटक का कथानक हर्षकालीन युग का है । राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात हर्षवर्धन के शासन का तथा उस समय के राजनैतिक वातावरण का चित्रण इसमें हुआ है । इन ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना को मुखर रूप में उपलब्ध किया जा सकता है और इस प्रकार की कुछ विशेषताओं का विवेचन समीचीन होगा ।

4 ई॰ देशप्रेम और देश गौरव की भावना :-

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की मूलप्रेरणा देशभक्ति रही है । वैसे तो जयशंकर प्रसाद की समस्त रचनाओं में ही देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई दिखायी पड़ती है । वर्तमान समाज को अतीत के गौरव का हवाला देते हुए अपनी देशभक्ति की भावना से जाग्रत करना और तत्कालीन गुलामी देश में एकता स्थापित करना ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहा है । यह देश प्रेम ही राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्र प्रेम आदि का पर्यायवाची है । प्रसाद के राष्ट्रप्रेम का विवेचन करते हुए प्रसाद के एक अध्येता जोशी जी कहते हैं -- " प्रसाद ने वर्तमान के संघर्षों से भागकर भारत की प्राचीन संस्कृति की ओर पलायन नहीं किया वरन् अपने नाटकों द्वारा अतीत के पर्दे पर एक स्वतन्त्र और संगठित राष्ट्र की योजना को रंगने का प्रयास किया ।"[1] इसी राष्ट्रीय चेतना के अन्तर्गत प्राचीन

---

1. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन - जगदीशचन्द्र जोशी - पृ॰ 81 - 82॰

संस्कृति के प्रति आस्था, वर्तमान का समाधान आदि तत्व आते हैं। अतः प्रसाद के नाटकों में इन तत्वों का स्पष्ट देखना स्वाभाविक है। किन्तु राष्ट्रीय चेतना, देशभक्ति आदि के भाव सभी नाटकों में एक समान और सर्वप्रमुख हो, ऐसा नहीं है।

" अजातशत्रु " के देश प्रेम से अधिक राजघराने का पारिवारिक कलह, धार्मिक, संघर्ष आदि का चित्रण हुआ है। राज्य के लोभ में पड़कर अजातशत्रु और विरूद्धक अपने पिता से विद्रोह कर देते हैं। कोसल का सेनापति बन्धुल ही एक सच्चा देशभक्ति के भाववाला वीर था। अपने देश के लिए सक्रिय होता हुआ वह अन्ततः एक षड्यंत्र का शिकार होकर अपने प्राण का भी बलिदान कर देता है। उसकी पत्नी मल्लिका बौद्ध धर्मावलम्बी बनती है, अतः अपने पति की मृत्यु से चिन्तित होने पर भी वह इसके कारणभूत प्रसेनजित और अजातशत्रु सबको क्षमा कर देती है। इस नाटक में इन दोनों के सिवा राष्ट्र के लिए मर मिटने वाले कोई और महत्त्वपूर्ण पात्र दिखाई नहीं पड़ता। तत्कालीन धार्मिक संघर्ष के इस नाटक की रचना का मूलकारण कहा जा सकता है। इसके साथ राजसत्ता के लिए होनेवाले पारिवारिक कलहों के रूप में प्रसाद ने दिखाना चाहा है कि जब व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थ बड़े हो उठते हैं तो देश की चिन्ता पीछे चली जाती है।

" चन्द्रगुप्त " तक आते-आते प्रसाद देशभक्ति और राष्ट्र की एकता की चिन्ता ही को अपने नाटक का मुख्य आधार बना डालते हैं। नाटक के आरंभ से ही महान-स्वप्नदर्शी चाणक्य अखण्ड भारत की एकता का उपदेश देता हुआ दिखाई पड़ता है ---

"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा । मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा । ... पंचनद नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण यह क्षुद्र-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्यावर्त्त का सर्वनाश होगा ।"[1]

चन्द्रगुप्त नाटक की एक महत्वपूर्ण नारी पात्र अलका स्वयं अपने भाई आंभीक के देशद्रोह पूर्ण कार्य करने पर उससे घृणा करने लगती है । यवनों से देश को बचाने के लिए वह स्वयं लड़ने को तैयार होती है । चन्द्रगुप्त और सिंहरण दो ऐसे उज्ज्वल चरित्र हैं जो देश की एकता के लिए हमेशा कर्मरत रहते हैं । यवनों से देश की रक्षा के लिए सहायता माँगने पर चाणक्य नन्द के द्वारा अपमानित होता है । प्रसाद ने भारतीयों में क्षुद्र और महान हर प्रकार के चरित्र अंकित किए हैं । प्रसाद को अपने देश पर अपार गौरव था । भारतीय अपने देश का गुणगान करें तो इसमें कोई विशेषता नहीं है । प्रसाद विदेशी पात्रों के मुख से भारत की महानता का गायन कराते हैं । कार्नेलिया महान गुणों के कारण चन्द्रगुप्त और भारतीय संस्कृति के प्रति गंभीर रूप से आकर्षित होती है । वह गहरे प्रेम से परिचालित होकर भारतीय समाज और संस्कृति का अध्ययन करती है । यहाँ के रीति-रिवाज, विश्वास और जीवन दर्शन का वह पालन यहाँ तक कि अनुकरण करती दिखाई पड़ती है । उसके अनुसार भारत संपूर्ण विश्व में अनोखा देश है । वह कहती है -- "... मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है । ... यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान

---

1. "चन्द्रगुप्त" - जयशंकर प्रसाद ग्रंथावली - भाग - 2, पृ.585-586.

का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि-भारत-भूमि क्या भुलाई जा सकती है ? कदापि नहीं । अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है; यह भारत मानवता की जन्मभूमि है ।"[1]

चन्द्रगुप्त नाटक में बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मों का परस्पर संघर्ष दिखाई पड़ता है । संभव है कि नन्द ने बौद्ध होने के नाते ब्राह्मण चाणक्य का अपमान किया हो और इस प्रकार चाणक्य के स्वाभाविक क्रोध का कारण बना हो । पर्वतेश्वर बड़ा वीर और साहसी देशभक्त है किन्तु दंभी भी । सिकन्दर से अकेले ही देश की रक्षा के नाम पर लड़ता है । पर अन्त में जब हार होता है और सिकन्दर इस पराजित योद्धा के साथ मित्र के रूप में व्यवहार करता है तो अदूरदर्शी पर्वतेश्वर सिकन्दर से मित्रता कर आम्भीक की तरह ही देशद्रोही का नाम अर्जित कर लेता है । कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह को दिखाकर " विश्व-प्रेम " की भावना को भी प्रसाद ने राष्ट्र प्रेम के अन्तर्गत मानो व्यक्त किया है ।

" स्कन्दगुप्त " नाटक का मुख्य उद्देश्य है देश को हूणों से मुक्त करना । " इस फल की प्राप्ति स्कन्दगुप्त को होती है । उक्त फल के अधिकारी होने से वे इस नाटक के नायक हैं ।"[2] अतः 'स्कन्दगुप्त' में भी राष्ट्रप्रेम वाला तत्व सर्वोपरि दिखायी पड़ता है । प्रसाद अपने समय में विदेशी अंग्रेजों द्वारा गुलाम बनाये गये भारत के दुख-दर्दों से अच्छी तरह परिचित थे । अतः वे इतिहास में जाकर स्कन्दगुप्त का संधान

---

1. चन्द्रगुप्त, प्रसाद ग्रंथावली भाग - 2, पृ. 643.

2. " प्रसाद की साहित्य साधना " में स्कन्दगुप्त : समीक्षा, प्रो. मोहन-वल्लभ, पृ. 247.

अकारण नहीं करते । हूणों से देश की रक्षा करने तथा उसकी एकता के लिए स्कन्दगुप्त हमेशा कार्यरत रहा । यहाँ हम उसे संकीर्ण तथा क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों से उपर उठकर व्यापक राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए समर्पित कर पाते हैं । अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त को राजा बनाना चाहती है । स्कन्द-गुप्त नहीं चाहता कि उसके देश के टुकड़े हो जायँ । उसे राजमुकुट का कोई लोभ नहीं है । इसलिए अपना सिंहासन छोड़ने से नहीं हिचकता और उन्हीं को देने के लिए तैयार हो जाता है । राजा न होने पर भी एक दूरदर्शी सेनापति की तरह देश को हूणों के हाथ से बचाने के लिए वह निरन्तर प्रयत्न करता रहता है ।

मालव का राजा बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, जयमाला, देवसेना आदि चरित्रों में भी पूरे आर्यावर्त को एक रखने की अभिलाषा है । इसलिए बन्धुवर्मा अपना राज्य स्कन्दगुप्त के पक्ष में त्याग देता है और अन्त तक उसी की सेना में रहकर, देश की रक्षा करते हुए, हूणों से हुए युद्ध में मर जाता है । देवसेना स्कन्दगुप्त को चाहती है पर आत्म सम्मान की रक्षा के लिए, स्कन्दगुप्त के द्वारा विवाहकी अभिलाषा व्यक्त करने पर भी, उस प्रस्ताव को ठुकरा देती है । राष्ट्रप्रेम तथा त्याग के महान भावों से भरी हुई वह स्कन्दगुप्त से कहती है —

"मालव का महत्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये, आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट क्षमा हो... अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये । नाथ ! मैं आपकी ही हूँ, मैं ने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती ।"[1]

---

1. " स्कन्दगुप्त " जयशंकर प्रसाद - ग्रन्थावली - 2, पृ॰ 516.

मातृगुप्त, धातुसेन, पर्णदत्त आदि वीर योद्धा स्कन्दगुप्त की सहायता करते हुए देश के रक्षक का काम करते हैं। नाटक में कमला जैसी उज्ज्वल नारी चरित्र भी जो अपने पुत्र भटार्क के देश द्रोही बनने पर उससे तीव्र घृणा करती है।

"ध्रुवस्वामिनी" एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या को लेकर लिखा गया ऐतिहासिक नाटक है। इसलिए इसमें उसी के अनुकूल वातावरण दिखाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त देश की भलाई सोचनेवाला सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति था। देश की एकता के लिए अपने पिता से प्राप्त राज्य को भी वह अपने भाई रामगुप्त को दे देता है। इतना ही नहीं, अपनी वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी का भी रामगुप्त से विवाह होने देता है। जब कापुरुष रामगुप्त शकों से सन्धि निमित्त अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकशिविर में भेजना चाहता है तो चन्द्रगुप्त से रहा नहीं जाता। वह स्त्री वेश धारण करके शक शिविर में प्रवेश करता है और द्वन्द युद्ध में शकराज को मारकर ध्रुवस्वामिनी के सम्मान को ही नहीं, देश की भी रक्षा करता है। लेकिन ध्रुवस्वामिनी की प्रासंगिकता नारी-मुक्ति-स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व विकास की दिशा में गंभीर चिन्तन के कारण विशेष रूप से है। ध्रुवस्वामिनी के रूप में प्रसाद ने नारी-विषयक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े किये हैं तथा अद्भुत परिस्थ-सृष्टि की है।

"राज्यश्री" में सम्राट हर्षवर्द्धन के अपने राज-परिवार के संघर्ष का वर्णन है। हर्ष की बहन राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा की मालव राजा देवगुप्त के द्वारा हत्या की गयी। हर्षवर्द्धन के भाई राज्यवर्द्धन की भी हत्या पुरगुप्त ने कर दी। राज्यश्री को बन्दी बना लिया गया।

इन घटनाओं से उद्‌वेलित होकर हर्ष प्रतिशोध लेने के लिए तत्पर होता है और इसमें सफल होता है । खंड-खंड हो रहे अपने देश के संघटन के बारे में तथा राष्ट्र के योजक तत्त्व के रूप में संस्कृति के बारे में चिन्ता करनेवाला हर्षवर्द्धन एक तरह से आर्यावर्त्त का अन्तिम सम्राट था । किन्तु उसकी इस चिन्ता का अधिक चित्रण नहीं हुआ है अथवा हुआ भी है तो अत्यन्त सूक्ष्म तथा सांकेतिक रूप में ही ।

4·3·2· परम्परा की पहचान और उससे प्रेरणा ग्रहण :-

जयशंकर प्रसाद जैसे सांस्कृतिक बोध सम्पन्न साहित्यकार के लिए परंपरा का विशेष महत्त्व होता है । प्रसाद के लिए परम्परा अतीत जीविता का पर्याय नहीं, बल्कि प्रेरणा का अजस्र स्रोत होती है । परम्परा के प्रति प्रसाद ने अपने " रंगमंच " नामक निबन्ध में लिखा है - " ... अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है । इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए । ... पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर नए को नहीं पाया है ।"[1] परम्परा के प्रति जो दो प्रकार की एकांगी अतिवादी दृष्टियाँ मिलती हैं उनमें से एक परम्परा को ही सबकुछ समझकर, आँखें मूँदकर उससे बँध जाती है और दूसरी दृष्टि परम्परा को बिलकुल बेकार समझकर उसकी पूरी तरह उपेक्षा कर देती है । प्रसाद की सम्यक् दृष्टि इन दोनों अति-वादों से बचनेवाली थी ।

1· काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में रंगमंच - प्रसाद ग्रन्थावली - पृ· 510.

परम्परा है क्या ? "परम्परा का अर्थ है; पर के भी जो परे हो, श्रेष्ठ से भी जो श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो न भविष्यत्, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरन्तर साध्य हो। परम्परा इसीलिए साधना का पर्याय है।"[1]

परम्परा बहने वाली नदी के समान है। यह कोई अपने-आप प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। इसे प्रयत्न करके, संघर्ष करके अर्जित करना पड़ता है। यह कोई बन्धन नहीं है। ललित निबन्धकार मिश्रजी भावोच्छ्वासित होकर लिखते हैं - "परम्परा को स्वीकार करने का अर्थ बन्धन नहीं, अनुशासन का स्वेच्छा से वरण है, ... इसीलिए वह इतिहास से बड़ी है और हमारे लिए तो अपरिहार्य है, वही हमारी शक्ति है। परम्परा अपने को ही काटकर - तोड़कर आगे बढ़ती है। इसीलिए कि वह निरन्तर मनुष्य को अनुशासित रखते हुए भी स्वाधीनता के नये-नये आयामों में प्रतिष्ठित करती चलती है। परम्परा बन्धन नहीं है, वह मनुष्य की मुक्ति की निरन्तर तलाश है।"[2]

हर एक विचार की अपनी एक परम्परा होती है। हर एक परम्परा का अपना एक इतिहास होता है। कभी-कभी परम्पराएँ नष्ट भी होती हैं और नूतन परम्पराएँ जन्म भी होती हैं। इस प्रकार परम्परा स्थिर नहीं, बल्कि एक गतिशील तत्व है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा है - "कोई भी देश अपनी साहित्यिक परंपरा से नाता नहीं तोड़ सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता ही है। इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परंपरा बहुत पुरानी है।

---

1. परम्परा बन्धन नहीं, विद्यानिवास मिश्र - पृ. 12.

2. - वही - पृ. 15.

पुरानी ही नहीं, अतिशय समृद्ध है । ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि हम अपनी सारी विरासत को छोड़कर दूसरे देशों के साहित्यों का छिछला अनुकरण करने लगें । "[1]

परंपरा और संस्कृति में भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है यद्यपि परम्पराएँ एवं सांस्कृतिक जीवन-दृष्टियाँ सभी हमेशा शुभ नहीं होतीं । संस्कृति का स्वरूप भी समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों के अनुरूप भिन्न-भिन्न होता है । एक जन संस्कृति होती है तो एक उच्चवर्गीय संस्कृति । परम्परा और संस्कृति दोनों ही समाज को दीर्घजीवी एवं पुष्ट बनाती हैं । प्रवाहमान संस्कृति और परम्परा का आकलन इतिहास करता है । परम्परा इतिहास भी बनती है और परम्परा और इतिहास में अन्तर भी होता है ।

इतिहास और परंपरा के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए डॉ॰नामवर सिंह ने लिखा है —— "... सारा-का-सारा इतिहास परंपरा नहीं है, बल्कि उसमें कुछ है जो ग्रहण करने योग्य है, और कुछ है जो छोड़ देने योग्य है । यह चयन की प्रक्रिया जब से शुरू हुई, इस चयन के साथ ही इतिहास एक नया अर्थ ग्रहण किया और इस नये अर्थ ग्रहण के साथ परम्परा केवल रिवाज नहीं रह गई, क्योंकि स्वयं इतिहास जब मौजूद ही नहीं है, तब वह रिवाज कहाँ रहा ? इसलिए अतीत में से चुनते समय कई तरह की पद्धतियाँ अपनाई गयी, कई तरह की दृष्टियाँ अपनाई गयी, ... "[2] कहने का अर्थ यह कि हर महत्त्वपूर्ण लेखक परम्परा के प्रति अपने विचारों के अनुसार बर्ताव करता है । प्रसाद ने परम्परा के सार्थक अंशों का पुनरा -

---

1· नया साहित्य : नये प्रश्न, वाजपेयी - पृ· 126·

2· " पहल " 26, फरवरी 1984, पृ· 85 (नामवरसिंह का व्याख्यान)

विस्तार, चयन, उपयोग आदि अपने वर्तमान के संदर्भ में किया । वर्तमान को समझने तथा उसे प्रेरित करने के उद्देश्य को लेकर प्रसाद ने इतिहास के कुछ कालों को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाया । अतीत की ओर जाने का भाव सदैव पलायन ही नहीं होता । ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रसाद का विवेचन करते हुए डाक्टर गोविन्द चातक का कहना है ---
"वस्तुतः वे समाज और मानवता के भविष्य के लिए चिंतित थे, किन्तु उसकी प्रेरणा वर्तमान में ही थी । इस आधार पर प्रसाद को रोमांटिक करार देकर अतीतवादी और पलायनवादी कहना अनुचित होगा ।"[1]
परम्पराहीनता विकासात्मक नहीं है क्योंकि परम्पराएँ रूढ़ियाँ अथवा अंधविश्वास नहीं होती । स्वस्थ परम्पराओं के बिना कोई समाज टिका नहीं रह सकता । परम्पराएँ वर्तमान और भविष्य के भीतर सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती हैं और इस महत्त्वपूर्ण बात की पहचान प्रसाद को थी । परम्परा की जैसी पहचान प्रसाद को थी उसे अपने नाटकों में उन्होंने अभिव्यक्त किया है । इस संदर्भ में उनके नाटकों पर एक विहंगम दृष्टि डालना उचित होगा ।

अजातशत्रु में बौद्ध कालीन ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं । बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पहले से ही जैन धर्म प्रचलित हो चुका था । इन दोनों धर्मों का टकराव और संघर्ष राजमहल में पारिवारिक कलह का रूप धारण कर लेता है । वासवी बड़ी रानी होने पर भी राजमाता नहीं कहलाती क्योंकि उसका कोई पुत्र नहीं था जो राज्य करे । अजातशत्रु की माँ छलना छोटी रानी होने पर भी अपने बेटे के भावी सम्राट होने के कारण राजमाता कहलाती है । उसी प्रकार देवकी को उसका पिता उसके विवाह

---

1. प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प, गोविन्द चातक, पृ. 27-28.

के समय काशी नगर की आय भेंट देने का वादा करता है। अब पुत्र के अत्याचार से चिन्तित होकर दान के निमित्त उस धन को देवकी अपनाना चाहती है और उसकी यही अभिलाषा काशी युद्ध का कारण बन जाती है। देवकी कहती है ---

"काशी का राज्य मुझे, मेरे पिता ने, आँचल में दिया है, उसकी आय आपके हाथ में आनी चाहिए और मगध-साम्राज्य की एक कौड़ी भी आप न छुएं।"[1] सारी परम्पराएँ श्रेष्ठ और स्वीकार्य होती हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परम्पराओं का कुछ अंश त्याज्य भी होता है। परम्पराएँ सदा एक समान अक्षुण्ण भी नहीं रहतीं बल्कि उनमें युगानुरूप संशोधन होते रहते हैं। प्रसाद परम्पराओं के त्याज्य पक्ष के आलोचक थे तथा स्वीकार्य पक्ष के समर्थक थे - इस बात को उनके नाटकों में महसूस किया जा सकता है।

धर्म के लिए, स्त्री के लिए, धन के लिए अथवा प्रतिष्ठा के लिए युद्ध करने की मानो एक तथाकथित सामन्ती परंपरा बन गयी थी। "अजातशत्रु" नाटक के मूल उद्देश्य पर विचार करते हुए डा॰ सावित्री सिन्हा ने लिखा है - "सोलह महाजनपदों का इतिहास अथवा उनके सांस्कृतिक महत्त्व की स्थापना करना लेखक का पहला उद्देश्य नहीं है। अजातशत्रु से सम्बन्धित अनेक घटनाओं, विजय अभियानों और राज्य - विस्तार के लिए किये गये प्रयासों का विवरण देना प्रसाद का उद्देश्य नहीं था। अपने युग की चेतना को ऐतिहासिक सन्दर्भों में उपस्थित

---

1. अजातशत्रु - प्रसाद ग्रंथावली - 2, पृ॰ 205.

करने पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित थी ।"[1] प्रसाद सामन्ती संस्कृति का विवरण ऐतिहासिक रूप से प्रस्तुत करता है अर्थात् बौद्धकालीन आर्यावर्त्त के विस्तृत भूभाग के चार जनपदों, उनके आन्तरिक और बाह्य संघर्षों का कलात्मक चित्रण करते हैं । धन, धर्म, प्रतिष्ठा के सामंती मूल्यों के कारण हुए युद्धों के द्वारा मानो सामन्ती परम्परा की वे आलोचना तथा उसका पुनर्मूल्यांकन करना चाहते हैं । सामंती व्यक्तिगत स्वार्थपरता की जगह वे राष्ट्र प्रेम की उदारता को देखना चाहते थे । अपने देश में जो वीरत्व की परम्परा चली आयी है वह प्रसाद को बहुत आकर्षित करती थी ।

चन्द्रगुप्त नाटक में तक्षशिला के गुरुकुल में चाणक्य के द्वारा चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका को देश प्रेम तथा राजनीति की शिक्षा मिलती है । अलका और कल्याणी जैसी स्त्रियाँ युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं । इस पर प्रसाद का वर्तमान भी प्रक्षेपित हुआ लगता है । प्रसाद के समय में देश के स्वतंत्रता संग्राम में स्त्रियाँ भी भाग लेने लगी थीं । अतीत में भी प्रसाद स्त्रियों को रणक्षेत्र में उपस्थित दिखाते हैं जो अस्वाभाविक नहीं, अपितु देश की गौरवपूर्ण तथा उज्ज्वल परंपरा का अंग है । प्रसाद अतीत को वर्तमान के अनुसार परिवर्तित अथवा विकृत करके देखने के पक्ष में नहीं थे । यही कारण है कि उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का वर्णन भी स्वाभाविक रूप से किया है । इस दृष्टि से देखें तो समाज के सारे वर्णों में ब्राह्मण को ही उन्नत स्थान दिया जाता है । सजग बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में ब्राह्मण अत्यन्त शक्तिवान दिखायी पड़ता है । वह धर्म तथा राज्य के कर्तव्यों को परिभाषित तथा व्याख्यायित कर सकता था । यह बात ब्राह्मण वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में चाणक्य सशक्त ढंग से उपस्थित करते हैं —

---

1. प्रसाद के नाटक: युगसाक्ष्य - रमेश गौतम - पृ. 45.

" यदि अमात्य ने ब्राह्मण-नाश करने का विचार किया हो तो जन्मभूमि की भलाई के लिए उसका त्याग कर दें, क्योंकि राष्ट्र का शुभ-चिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं । "[1]

यद्यपि देश में अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा आम नहीं थी फिर भी राजनीतिक कारणों से राजसत्ता के क्षेत्र में यह सम्भव था । देश की एकता को स्थिर रखने की इच्छा से चाणक्य, चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह कराते हैं । इसके प्रति किसी भी तरफ से कोई विरोध व्यक्त नहीं होता ।

अपने ऊपर उपकार करनेवाले व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता दिखाना हमारी एक नैतिक परम्परा रही है । एक वीर होने के नाते सिकन्दर पराजित पर्वतेश्वर से मित्रता का व्यवहार करता है । अपने देशवासी के ऊपर विदेशी आक्रान्ता के उस ऋण का बदला चुकाने के लिए सिंहरण भी मालवदुर्ग पर आक्रमण करते समय तीर से घायल सिकन्दर को पकड़कर भी यह कहकर छोड़ देता है - " ठहरो । यह भी एक प्रतिशोध है । यह भारत के ऊपर एक ऋण था । पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है । "[2]

यवनों और भारत के बीच का युद्ध केवल सामरिक महत्व का ही नहीं था, बल्कि इसमें दो भिन्न देशों के टकराहट की भी अनुगूंज थी । इस बात को व्याख्या करते हुए कार्नेलिया कहती है --

---

1. चन्द्रगुप्त, प्रसाद ग्रंथावली - 2, पृ. 596.
2. - वही - पृ. 638.

" सिकन्दर ने भारत से युद्ध किया है और मैं ने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं। "[1]

भारतवर्ष के अतीत की सार्थक परम्पराओं की खोज तथा उनका पुनराख्यान " चन्द्रगुप्त " नाटक को विशेष रूप से महत्वपूर्ण बना देता है। प्रसिद्ध दार्शनिक सन्त दाण्ड्यायन के माध्यम से भारतीय संस्कृति के तत्वों की उपस्थापना की जाती है और ग्रीक योद्धा सिकन्दर अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर इनसे प्रभावित होता है। प्रसाद अपनी संस्कृति और परम्परा के स्थायी तत्वों की गंभीरतापूर्वक पड़ताल करने में अपने इस नाटक में सक्षम हुए हैं। यह ठेठ भारतीयता की उपलब्धि करना है। जीवन और जगत के प्रति भारतीय दृष्टिकोण नाटक के विभिन्न पात्रों के माध्यम से उपस्थित किया गया है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक भारतीय राष्ट्र का स्वप्न ही नहीं देखते, वरन् उसे ऐक्यबद्ध रूप में प्राप्त करने में सफलता भी अर्जित करते हैं। परम्परा के क्षयिष्णु अंगों को छोड़ने तथा उसके समर्थ-सार्थक तत्वों को संरक्षित करने में प्रसाद के पात्र कभी पीछे नहीं हटते। मतलब यह कि प्रसाद परम्परा के निरन्तर मूल्यांकन करते रहने के आग्रही थे।

स्कन्दगुप्त के नाटक में धर्म की दृष्टि से देखें तो वह काल बौद्ध धर्म के ह्रास का था। उस समय तक बौद्ध धर्म अपना पहले वाला आकर्षण खोता जा रहा था। सामन्ती परम्परा में राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही पिता के पश्चात् राजसिंहासन पर बैठने का अधिकारी होता था। स्कन्दगुप्त भी

---

1. चन्द्रगुप्त, प्रसाद ग्रन्थावली 2, 644.

अपने सम्राट पिता का ज्येष्ठ पुत्र था । अतः इस नाते राज्य भार ग्रहण करने की सुविधा होने पर भी स्कन्दगुप्त अपनी सौतेली माँ अनन्तदेवी के पुत्र पुरगुप्त के राजा के रूप में घोषित किये जाने की बात सुनकर भी चुप रह जाता है तो इसे उसका बहुत बड़ा त्याग समझना चाहिए । यह उच्च मानवीय मूल्यों का पक्ष ग्रहण करता है । देश की सुरक्षा को प्रथम कर्तव्य मानकर स्कन्दगुप्त इस का निर्वाह अन्त तक करता हुआ दिखाई देता है । हमारे देश पर लगातार विदेशियों का आक्रमण होता रहा है । उस समय भी हूणों से देश की रक्षा करने में ही स्कन्दगुप्त का सारा जीवन व्यतीत हो गया था । उसके जीवन की यही महान सार्थकता और उपलब्धि थी ।

ध्रुवस्वामिनी नाटक का समय भी गुप्त काल का ही था । इसमें परम्परा के न केवल अच्छे-बुरे रूप दिखाये गये हैं अपितु नयी परम्पराएँ स्थापित करने का प्रयास भी यहाँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । एक अत्यन्त ज्वलन्त सामाजिक समस्या को लेकर यह नाटक लिखा गया था जिसका ऐतिहासिक परिवेश उसे और भी महत्त्वपूर्ण बना देता है । राजा के ज्येष्ठ पुत्र को राज्य मिलना एक सामान्य सामन्ती परंपरा थी किन्तु अक्सर इस प्रथा के दुर्गुण सामने आते रहते थे । स्कन्दगुप्त के समय में ही नहीं, पहले और बाद में भी इस परंपरा का विरोध होता रहा था । समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र कायर और नालायक रामगुप्त सम्राट पिता की नजरों में शासनाध्यक्ष के योग्य नहीं पाया जाता । अतः समुद्रगुप्त अपने दूसरे पुत्र चन्द्रगुप्त को भावी सम्राट घोषित करता है । समुद्रगुप्त को विजय के उपहार के रूप में राजकुमारी ध्रुवस्वामिनी प्राप्त होती है जिसे बूढ़ा सम्राट अपने कनिष्ठ योग्य पुत्र चन्द्रगुप्त को प्रदान करता है ।

सामन्ती संस्कृति में स्त्री को धन-सम्पत्ति की तरह " वस्तु " (व्यक्ति नहीं) मानने की प्रवृत्ति पर प्रसाद गहरा प्रश्नचिह्न लगाते हैं । स्त्री का उपयोग शासन और राजनीति में मोहरों की तरह किये जाने का समर्थन कदापि प्रसाद नहीं कर सकते थे । वे सजग आधुनिक दृष्टि सम्पन्न रचनाकार थे । अस्तु, उपहार के रूप में ध्रुवस्वामिनी का चन्द्रगुप्त से विवाह करने का निश्चय भी हो जाता है, लेकिन जब रामगुप्त राजा बनता है तो वह चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी से स्वयं ही विवाह कर लेता है । चन्द्रगुप्त इसका मुखर विरोध नहीं कर पाता । विवाह होने के बाद पति जैसा भी हो, उसी के साथ आजीवन निर्वाह करना भारतीय नारी जीवन का पातिव्रत्य धर्म बताया गया है । ध्रुवस्वामिनी भी मन मसोसकर विवश स्त्री की भाँति रामगुप्त को पति के रूप में स्वीकार कर जीवन व्यतीत करती है । किन्तु रामगुप्त अब भी ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध को सन्देह की नजरों से देखता है । एक व्यक्ति और शासक दोनों ही रूपों में रामगुप्त अत्यन्त कमजोर था । बिना युद्ध किये ही उसने शकों की अधीनता स्वीकार कर ली थी । सन्धि के अन्तर्गत शकराज ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से माँगता है । इससे अधिक किसी राजा या पति के लिए अपमान की बात क्या हो सकती है । लेकिन ? निर्लज्ज रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को भेजकर शकराज से अपमानजनक सन्धि करने को तैयार हो जाता है । ध्रुवस्वामिनी अपने मान की रक्षा के लिए पति से बहुत अनुनय-विनय करती है पर रामगुप्त पर इसका कोई असर नहीं होता । रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी का विनिमय कर अपनी विलासिता को शक आक्रमणकारी से सुरक्षित करना चाहता है । आखिर चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी तथा अपने देश की मर्यादा की रक्षा के लिए सामने आता है

और शकराज का वध कर देता है । अब तक ध्रुवस्वामिनी के मन में तथाकथित पति रामगुप्त के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो चुकी है । वह इस वैवाहिक सम्बन्ध को व्यर्थ समझती है और मन चाहे व्यक्ति चंद्रगुप्त से विवाह करना चाहती है । प्रसाद ने भी इस मोक्ष (तलाक एवं पुनर्विवाह की) समस्या को परम्परा से चली आ रही क्षीण प्राचीन प्रथा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । नारद, पराशर जैसे प्राचीन स्मृतिकारों के ग्रन्थों में पति के क्लीव होने पर उसे छोड़ देने का विधान मिलता है । पति-पत्नी के अलग होने का अन्य ग्रंथों में भी मान्य ठहराया गया है । " धर्मस्थीय प्रकरण " के " विवाह संयुक्त " में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं —

" वर्षाण्यष्टा वप्रजायमानामपुत्राम् वंध्यां चाकांक्षेत दशविन्दु,
द्वादशं कन्या प्रसविनीम् । ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विंदेत् ।।

8 वर्ष तक वन्ध्या, 10 वर्ष बिन्दु अर्थात मृतप्रसूति, 12 वर्ष तक कन्या प्रसविनी की प्रतीक्षा करके पुत्रार्थी दूसरी स्त्री ग्रहण कर सकता है । "[1] पुरुष प्रधान सामन्ती समाज में पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, जबकि स्त्रियों को इसकी मना ही थी । लेकिन स्मृतिकारों ने कतिपय स्थितियों में पत्नी के द्वारा पति को छोड़ देने की व्यवस्था भी दी है जिसके अनुसार पत्नी की रक्षा न कर सकने वाले व्यक्ति को क्लीव समझकर उसे छोड़ा जा सकता है । " ध्रुवस्वामिनी " नाटक में धर्मपरिषद् के द्वारा इस मोक्ष व्यवस्था की पुष्टि करके प्रसाद ने परम्परा में एक नया क्रान्तिकारी मोड़ ला दिया है । इस दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की ही नहीं,

---

1. ध्रुवस्वामिनी, प्रसाद ग्रन्थावली-2, पृ. 699.

तत्कालीन हिन्दी साहित्य में एक अद्भुत नारी-चरित्र-सृष्टि है । अपने स्वाभिमान तथा नारी - मर्यादा के प्रति सजग ध्रुवस्वामिनी का शौर्य देखते ही बनता है । वह सही अर्थों में प्रथम ' आधुनिक नारी ' है । प्रसाद अपने आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए जड़ परम्परा की मलिन विवाह-संस्था में परिवर्तन लाने की व्यवस्था दिलवाते हैं । इसी को अपने नाटक में स्पष्ट दिखाता है - ' जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकशायिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म - शास्त्र रामगुप्त से ध्रुव - स्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।'[1] प्रसाद ध्रुवस्वामिनी को कायर नपुंसक रामगुप्त से मोक्ष दिलवाते हैं ।

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसाद परम्परा विरोधी नहीं थे और न वे अन्ध परम्परा - भक्त ही थे । पति के रहते हुए दूसरे मर्द से विवाह करना उस समय की सामाजिक परम्परा नहीं थी । लेकिन प्रसाद इस परम्परा में परिवर्तन-संशोधन ला देते हैं । रामगुप्त की एक सामन्त द्वारा हत्या की जाती है और ध्रुवस्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त का मिलन होता है । इस तथ्य को कुछ समीक्षक प्रसाद का समझौतावादी रुख मानते हैं जो उचित नहीं प्रतीत होता । क्योंकि ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त से उसकी हत्या के पूर्व ही मोक्ष दिलवाया जा चुका होता है ।

' राज्यश्री ' हर्ष के समय में फिर बौद्ध धर्म का मानो पुनरुत्थान होता दिखायी पड़ता है । दिवाकरमित्र, दो-तीन भिक्षुओं के साथ बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार अभियान चलाते हैं । इसी बौद्ध धर्म ने हमारे जीवन में अहिंसावाद और करुणा की स्थापना की, जिससे प्रसाद

---

1. ध्रुवस्वामिनी, प्रसाद ग्रन्थावली2- पृ. 737.

बहुत प्रभावित थे। राज्यश्री भी बौद्ध साधना मार्ग को अपना लेती है। वह एक अत्यन्त दुखी और विचलित स्त्री थी, जिसे बौद्ध चिन्तन और दर्शन में शान्ति मिली। राज्यश्री ने अपने पति के हत्यारे देवदत्त, अपने भाई राज्यवर्द्धन की हत्या करनेवाले नरेन्द्रगुप्त, तथा विकटघोष, सुरमा जैसे षड्यंत्रकारियों को क्षमा कर दिया। अन्त में वह उनमें परिवर्तन लाने में भी सफल होती है। पर वह एक वीरांगना राजकुमारी भी थी, जिसे सम्मान के लिए मर मिटना भी आता था। अपने देश पर युद्ध होने की बात सुनकर वीर राजपुत्री होने के नाते वह हर्ष प्रकट करती है --
" क्षत्राणी के लिए इससे बढ़ कर शुभ-समाचार कौन होगा।"[1]

पुलकेशिन के साथ युद्ध करते समय हर्षवर्द्धन को अपनी बहन और भाई की दु:स्थिति का समाचार मिलता है तो वह युद्ध करना छोड़ कर शत्रु से सन्धि करने के लिए तैयार होता है। अपनी बहन की रक्षा करना उसे अपना पहला कर्तव्य मालूम पड़ता है।

पति के मरने के कुछ समय बाद जब अशान्त मन: स्थिति में राज्यश्री दिवाकरमित्र के सामने जलकर मरना चाहती है तब दिवाकरमित्र उसे मनुष्यता के कर्तव्य का ज्ञान करवाता है - " देवि, मैं यह कदापि नहीं कह सकता। यह धर्म नहीं, आत्महत्या है। सती होना जल मरने से ही नहीं हो सकता।"[2]

---

1. राज्यश्री, प्रसाद ग्रन्थावली -2, पृ. 107.
2. - वही - पृ. 129.

परम्परा के प्रति प्रसाद की कैसी स्वस्थ दृष्टि थी, यह स्थल उसका प्रमाण है । अंध परंपरावादी लोग अब भी कभी-कभार सती-प्रथा को गौरवान्वित करते हुए दिखायी पड़ जाते हैं और अपने कुतर्कों के सहारे इसे हिन्दू धर्म, संस्कृति और परंपरा का अंग बताते हैं । प्रसाद इस तरह की गलत प्रवृत्ति का कड़ा प्रतिवाद करते हैं । सती प्रथा वास्तव में समाज के रोगी होने का लक्षण है और इस कोढ़ को धर्म, संस्कृति और परंपरा की दुहाई देकर ढंका नहीं जा सकता । प्रसाद सती प्रथा को दो टूक शब्दों में हत्या और आत्महत्या कहकर इसकी भर्त्सना करते हैं तथा इसे परंपरा में शामिल करने से इन्कार करते हैं ।

<u>नाट्य शिल्प तथा इतिहास - विविध पक्ष</u> :-

रचनाकार ऐतिहासिक कथा की रचना करते समय भी अपने युगीन वातावरण के दबावों से बच नहीं सकता । इसलिए ऐतिहासिक वातावरण को भी हम अक्सर वर्तमान की आँच के स्पर्श से प्रभावित पाते हैं । इस संदर्भ में वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए भी नाटककार अतीत की ओर मुड़ता है । इस तरह की रचना - प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए जोशी लिखते हैं --

" ... जब कभी ऐतिहासिक नाटककार के मन में वर्तमान समस्याएँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं तब वह इतिहास में अपना समाधान ढूंढने लगता है और तभी वर्तमान और ऐतिहासिक अतीत एक दूसरे से घुलने मिलने लगते हैं । अतीत और वर्तमान के मिलन का यह उपक्रम सहस्रों वर्षों के अन्तर को पाटने का प्रयास करता है और दो अलग अलग ऐतिहासिक युगों के आचार-विचार,

चरित्र तथा वातावरण एक दूसरे में घुल मिलकर अनायास ही कालक्रम दोष को भूमिल कर देते हैं। यह कारण भी मनोवैज्ञानिक है।"[1] एक तरह से देखा जाय तो किंचित अंशों में ऐसा "दोष" अपरिहार्य होता है क्योंकि रचनाकार अतीत के सन्दर्भों को वर्तमान की प्रासंगिकता में यथासंभव ग्रहण करता है। अगर इसे दोष मान ही लिया जाय तो कहना होगा कि प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटक लिखते समय ऐसे दोष किये थे, जिन्हें अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वैसे कथ्य और शिल्प सम्बन्धी अन्य दोष भी प्रसाद के नाटकों में समीक्षकों को दिखायी पड़े हैं। नाटक की कथावस्तु की विशालता तथा अधिक पात्रों का समावेश होने के कारण भी उनके नाटक में कतिपय अन्य दोष भी आ गए हैं। नाटक के संघर्ष और ऐतिहासिक विषयवस्तु का संतुलन सर्वत्र रहा हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्री जोशी के शब्दों में – "प्रसाद की काल योजना की दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण है। ध्रुवस्वामिनी को छोड़कर अन्य सभी नाटक सुदीर्घ कालों को अपने अंकों में समेटे हुए हैं। अजातशत्रु में सात वर्षों की चन्द्रगुप्त में पचीस वर्षों की, स्कन्दगुप्त में दस वर्षों की और राज्यश्री में अठारह वर्षों की घटनाएँ हैं। एक एक दृश्य के बीच काल का बहुत अन्तर है।"[2] किन्तु आज के विकसित रंगमंच को ध्यान में रखें तो नाटकों में यह दोष बहुत गंभीर नहीं प्रतीत होता। संकलनत्रय अर्थात् स्थान, काल, पात्र की अन्विति की अवधारणा अब पुरानी पड़ चुकी है। अतः इस सम्बन्ध में डॉ० गोविन्द चातक का यह मत अधिक औचित्यपूर्ण जान पड़ता है – "कुल मिलाकर प्रसाद के नाटक काल

---

1. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन – जगदीशचन्द्र जोशी – पृ० 57.
2. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक [illegible] – जगदीशचन्द्र जोशी – 69.

और स्थल की अन्विति को उद्देश्य रूप में स्वीकार नहीं करते । उन्होंने एक ही अंक में विभिन्न कालों और स्थलों की घटनाएँ समाविष्ट की हैं। किन्तु इससे उनके नाटकों का महत्व नहीं घटता । वस्तुत: स्थल और काल की एकता के विरुद्ध के किसी श्रेष्ठ नाटककार ने स्वीकार नहीं किया ।"[1]

घटनाओं की बहुलता और वस्तुविस्तार के कारण प्रसाद संकलनत्रय की उपेक्षा कर रहे थे, यह स्पष्ट है । इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए डा॰नगेन्द्र लिखते हैं - "सबसे पहला दोष रंगमंच-विषयक है । उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। ... दूसरा बड़ा दोष है एकता का अभाव । उसके लिए प्रायः उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुख का संघर्ष,जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे । "राज्यश्री" या "ध्रुवस्वामिनी" में वस्तु विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया । .... परन्तु "स्कन्दगुप्त" और "चन्द्रगुप्त" जैसे बड़े नाटकों के घटना-बाहुल्य में फँसकर नाटक की एकता अस्त-व्यस्त हो गई है । ... तीसरा प्रमुख दोष है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भेद जोड़ लगे हुए हैं ।"[2]

समीक्षकों के अनुसार प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक वस्तु को नाटकीय शिल्प में स्थानान्तरित करने में जो चूकें की हैं, उनका संक्षिप्त विवेचन रोचक, किन्तु समीचीन हो सकता है ।

1· प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प - गोविन्द चातक - पृ· 196·

2· विचार और अनुभूति - डॉ· नगेन्द्र - 42 - 43·

'अजातशत्रु' की ऐतिहासिक वस्तु में प्रसाद ने कोई भी महत्वपूर्ण मौलिक परिवर्तन नहीं किया है। बीच में एकाध घटनाओं के उल्लेख तथा तिथि निर्धारण में उनकी मामूली भूलें दिखायी पड़ती हैं। इस नाटक में चार जनपदों का चित्रण हुआ है। चित्रण-क्रम में एक के बाद एक दिखायी पड़ने से वास्तव में यहाँ वातावरण की दृष्टि से कोई भूल नहीं हुई ऐसा माना जाना चाहिए।

प्रसेनजित् के शासनकाल में राजकुमार विरुद्धक को शाक्यों का संहार करते हुए चित्रित करके प्रसाद ने काल-क्रम-सम्बन्धी एक व्यतिक्रम किया है। "राजकुमार विरुद्धक ने अपने पिता प्रसेनजित् के जीवन-काल में ही शाक्यों पर चढ़ाई नहीं की थी। उक्त घटना बाद की है।"[1] काल-सम्बन्धी एक दूसरी चूक यह हुई है कि इस नाटक में प्रसाद बुद्ध के निर्वाण का कोई निश्चित समय निर्धारित वह नहीं कर पाते। नाटक से पता चलता है कि अजात के राज्याभिषेक से लेकर उसके पुत्र होने तक बुद्ध जीवित थे। प्रसाद के अनुसार बुद्ध का निर्वाण-काल 543 ई.पू. है। इस पर विचार करते हुए डा. जोशी कहते हैं - "नाटक के प्रारम्भ में अजात की आयु 12 वर्ष से अधिक की नहीं प्रतीत होती। यदि उसका यौवराज्या-भिषेक और राज्याभिषेक बिंबसार की मृत्यु के बाद 18 वें वर्ष में मानें तो नाटक के प्रारम्भ की तिथि 558 ई. पू. माननी पड़ेगी। अतः प्रसाद के अनुसार 'अजातशत्रु' नाटक 558 ई. पू. से प्रारम्भ होकर 552 ई.पू. तक चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के निर्वाण की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में प्रसाद स्वयं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं।"[2] ऐतिहासिक,

---

1. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. 478.
2. - वही - पृ. 192.

साहित्यिक तथा अन्य साक्ष्यों में कहीं-कहीं उदयन की तीन रानियों का उल्लेख मिलता है। पर प्रसाद ने वासवदत्ता और पद्मावती दो रानियों ही का उल्लेख किया है। मागन्धी को उन्होंने नर्तकी के रूप में चित्रित किया है। मागन्धी में श्यामा और आम्रपाली के रूपों को उन्होंने मिला दिया है, जो इतिहास सम्मत नहीं लगता। प्रसाद ने इस प्रकार का परिवर्तन किस रचनात्मक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। साहित्य हमेशा इतिहास के पद-चिह्नों पर ही पाँव रखता चले यह अनिवार्य नहीं, लेकिन अनावश्यक रूप से इतिहास की उपेक्षा करना भी साहित्य की विश्वसनीयता को क्षतिग्रस्त कर सकता है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक पर समीक्षकों को कथावस्तु के विस्तार और घटनाओं की बहुलता के कारण इस नाटक में अनेक दोष नजर आते हैं। काल-दोष के बारे मे जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने जो आरोप लगाया था कि वह अन्य समीक्षकों के द्वारा भी अनेकों बार दुहराया जाता रहा है कि "25 बरस के लम्बे काल को नाटककार एकदम भूल-सा गया है। उसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि जो लोग सिकन्दर-आक्रमण और उसके आस-पास की घटनाओं के समय युवा रहे वे सिल्यूकस के आक्रमण के समय तक पहुँचते-पहुँचते वृद्ध हो चले होंगे। उन्हें वही पच्चीस वर्ष पूर्व का किशोर अथवा युवा समझते हुए उनसे प्रेमाभिनय और उनका विवाह कराता है।"[1]

---

1. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - पृ. - 92 - 93.

चन्द्रगुप्त नाटक में केवल काल-दोष ही नहीं, अपितु स्थान, पात्र को लेकर भी कुछ गलतफहमियाँ यहाँ व्यक्त हुई हैं। शर्मा जी कहते हैं— "काल सम्बन्धी इस महादोष के अतिरिक्त इस नाटक में काल और स्थान सम्बन्धी कुछ और छोटे-मोटे दोष हैं। चन्द्रगुप्त, सिल्यूका की सन्धि के पांच वर्ष बाद ही (298 ई०पू०) स्वर्गस्त होता है, अथवा वह अपने पुत्र बिम्बिसार (अथवा अमित्रघात) के लिए राज्यत्याग करता है। ऐसी अवस्था में उसका उत्तराधिकारी कार्नेलिया का पुत्र नहीं हो सकता। इतिहास-शोधक होकर भी प्रसादजी ने इस बात को भुला दिया। कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का परिणय कराने मात्र के लिए उन्होंने दो युवतियों की हत्या करायी है। चतुर्थ अंक के पाँचवें दृश्यमें चाणक्य चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न होकर चला जाता है और हम उसे अगले ही दृश्य में सिन्धु-तट पर कात्यायन से वार्तालाप करते पाते हैं। इतनी जल्दी पाटलीपुत्र से सिन्धु तट पर चाणक्य उड़ कर पहुँच गया है ? "[1]

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसाद के नाटक केवल रंगमंच की दृष्टि से नहीं लिखे गये थे। चतुर्थ अंक के पांचवे दृश्य और छठे दृश्य मे बहुत कालावधी रही होगी। नाटककार से वस्तु योजना मे कई चूके संभवतः अपने विचारों को विशेष महत्त्व देने के कारण भी हो गयी हैं। चाणक्य, चन्द्रगुप्त नाटक का सर्वाधिक प्रभावशाली पात्र है, जिसे लेखक की सहानुभूति सबसे अधिक मिली है। वैसे भी चाणक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इतिहास-पुरुष रहे हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में उन्हें लगभग महामानव का दर्जा यों ही नहीं दिया गया है। जो भी हो, ऐतिहासिक वस्तु को लेकर साहित्य रचना करने वाले रचनाकार को महत्त्वपूर्ण तथा गौण इतिहास-प्रसंगों का ख्याल रखना ही चाहिए। प्रसाद

---

1. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - पृ० 94.

ने जिस विराट और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि का परिचय चन्द्रगुप्त नाटक में दिया है, वह ऐतिहासिक प्रसंगों से अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है ।

' स्कन्दगुप्त ' नाटक के गुप्तकाल की ऐतिहासिक भूमिका को देखने से पता चलता है कि कुमारगुप्त के बाद (ई० 413-455) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई० 455-467) और बाद में, पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई० 467 - 469) के राजा होने का उल्लेख मिलता है । लेकिन प्रस्तुत नाटक में कुमारगुप्त के मरते ही पुरगुप्त अपने को राजा घोषित करता है । इसके बाद जनता के अनुरोध पर उज्जयिनी में स्कन्दगुप्त का राज्याभिषेक हो जाता है । इस तथ्य को इतिहास सम्मत कहना जितना कठिन है उतना ही कठिन इसे इतिहास विरुद्ध ठहराना भी ।

इतिहास से ज्ञात होता है कि अपने राज्यकाल में स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र और मालव को हाथ से जाने नहीं दिया । इसलिए नाटक के अंत में स्कन्द का विजयी होना, हूण सेनापति को बन्दी बनाने जाने की घटना पूरी तरह ऐतिहासिक नहीं लगती ।

इतिहास के अनुसार देखें तो ' स्कन्दगुप्त ' नाटक की कथावस्तु का समय 455 ई० से लेकर 466 ई० तक, ग्यारह वर्ष का, माना जा सकता है । लेकिन वस्तुत: इस नाटक में इतिहास इतना उलझा हुआ है कि इसकी घटनाओं के तिथिक्रम का निर्णय करना कठिन है । पहले तो शकहूण युद्ध की योजना ही अनैतिहासिक है । यदि कुमारगुप्त की मृत्यु, शक-हूण का पहला युद्ध, स्कन्दगुप्त की विजय इस सब को ऐतिहासिक मान लिया जाय तो प्रथम अंक की योजना एक वर्ष की माननी पड़ेगी । लेकिन जोशी जी के अनुसार -

" यह मानना असम्भव है कि हूणों ने पश्चिमोत्तर प्रदेश पर विजय किए बिना ही भारत के दक्षिण में स्थित उज्जयनी पर आक्रमण कर दिया होगा ।"[1] प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार शक हूणों से युद्ध स्कन्दगुप्त ने सम्राट होने के बाद ही किया । अत: इन सबका एक साथ मिलना सम्भव नहीं जान पड़ता । इससे पता चलता है कि प्रसाद अपनी वस्तु योजना में इतिहास का अक्षरश: अनुकरण करने की बाध्यता महसूस नहीं करते थे । उनका साहित्यकार इतिहासकार के ऊपर हावी होता नजर आता है, लेकिन ऐसी छूट वे अधिकतर उन्हीं स्थलों पर लेते हैं जहाँ इतिहास का खालीपन उनके साहित्यकार को कल्पना के लिए अवकाश देते हैं ।

"ध्रुवस्वामिनी " कथा का अधिक विस्तार नहीं है और न घटनाओं और पात्रों की बहुलता ही । अत: इस नाटक में ऐतिहासिक त्रुटियाँ भी अधिक नहीं हैं । समुद्रगुप्त अपने ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त को राज्य से वंचितकर उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को पहले राजा के रूप में घोषित करता है । इसका कारण यह नहीं कि गुप्त काल में ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपने की परंपरा नहीं थी । शायद रामगुप्त को नालायक और कायर समझकर देश की सुरक्षा के लिए ऐसा किया गया होगा । समुद्रगुप्त ने अपनी विजययात्रा में उपहार के रूप में ध्रुवस्वामिनी को पाया था पर वह अपने राज्य के भावी-सम्राट से उसका परिणय कराना चाहता था । चन्द्रगुप्त भावी सम्राट था । इसलिए ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता के रूप में स्वीकार किया गया । लेकिन समुद्रगुप्त के पश्चात

---

1. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. 225.

राजनीतिक तिकड़मों से रामगुप्त राजा बन बैठा । इतना ही नहीं उसने राजा होने के कारण ध्रुवस्वामिनी से, उसकी मर्जी के खिलाफ, विवाह भी कर लिया ।

नाटक से पता लगता है कि ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के बीच पहले ही प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो चुका था । यह रामगुप्त की बातों से भी स्पष्ट होता है । लेकिन समुद्रगुप्त को उपहार में देने से पूर्व ध्रुवस्वामिनी पर एक और व्यक्ति के अधिकार की बात कही जाती है । वह था शकराज । " यह कहता था कि शकराज से महादेवी ध्रुवस्वामिनी का विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो चुका था, बीच में ही आर्य समुद्रगुप्त की विजय यात्रा में महादेवी के पिताजी ने उपहार में गुप्तकुल में भेज दिया, ... "। ऐसा लगता है कि ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त में पहले से ही प्रेम नहीं था । बल्कि समुद्रगुप्त के राज्य में ध्रुवस्वामिनी के आगमन के पश्चात् ही इसका उदय हुआ होगा । " देवीचन्द्रगुप्तम् " से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी एक दूसरे के प्रति अनुरक्त थे । " ध्रुव - स्वामिनी " नाटक में प्रसाद ने उन स्थलों का अपनी रचनात्मक कल्पना के द्वारा अच्छा उपयोग किया है जहाँ इतिहास चुप है । प्रसाद ने अपनी नाटकीय वस्तु के लिए व्यापक शोध भी किया था ।

" राज्यश्री " में भी कालक्रम दोष तथा वातावरण की खटकनेवाली भिन्नता बहुत दिखाई नहीं पड़ती । हर्षवर्द्धन और पुलकेसिन के बीच इतिहासकारों के अनुसार {630-634 ई॰ में} युद्ध हुआ था । इस युद्ध में हर्ष हार गये । लेकिन प्रसाद ने ऐसा न कहकर हर्ष को अपने परिवार के लिए

---

1. " ध्रुवस्वामिनी " - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ॰ 710.

सन्धि करते हुए चित्रित किया है । स्पष्ट पराजय का उल्लेख नहीं करके सन्धि कराना कोई बड़ी इतिहास विरुद्ध बात नहीं है । अतः यह घटना इतिहास से मिलती - जुलती है ।

इतिहास साक्षी है कि राज्यश्री को ढूँढने से पूर्व ही हर्ष ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर विजय कर ली थी और पुलकेशिन के युद्ध के बाद उसे राज्यश्री मिली थी । प्रसाद ने अपने नाटक में इस ऐतिहासिक तथ्य की रक्षा की है । हर्षवर्द्धन पुलकेशिन से कहता है —

" चालुक्य, मैं सन्धि का प्रार्थी हूँ और भी सुनोगे ? हम लोग साम्राज्य नहीं स्थापित किया चाहते थे; मगध के सम्राटों की दुर्बलता से उत्तरापथ हूणों से अरक्षित था, आपातत: मुझे युद्ध करना पड़ा । "[1]

लेकिन राज्यश्री में एकाध स्थल पर स्थान सम्बन्धी चूक दिखायी देती है । नाटक में बताया गया है कि महाश्रमण और स्वयं सम्राट हर्षवर्द्धन की हत्याओं के प्रयत्न " प्रयाग " में हुए थे । ये घटनाएँ तो ऐतिहासिक है, पर ये प्रयाग में नहीं, कन्नौज की राज्य सभा में हुई थीं ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की इतिहास-सम्बन्धी चेतना अत्यन्त प्रखर थी । छोटे-मोटे गौण ऐतिहासिक स्खलन और त्रुटियाँ उनसे भले हुई हों, लेकिन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का उन्होंने हमेशा ख्याल किया है । उन्होंने कई स्थानों पर इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्य अपने शोधपूर्ण अध्ययन के द्वारा उपलब्ध भी किये थे । इस सम्बन्ध में उनके

---

1. राज्यश्री, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 126.

ध्रुवस्वामिनी नाटक की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कई जगह प्रसाद अपने निजी शोधपूर्ण निष्कर्षों के कारण भी प्रचलित ऐतिहासिक मान्यताओं से अलग मत रखते दिखायी देते हैं। कई जगह अपने साहित्यिक विवेक को इतिहास के ऊपर भी रखते हैं।

अतीत की भूलों से शिक्षा :-

प्रसाद ने अपने अधिकांश नाटकों की कथावस्तु इतिहास से ही ग्रहण की है। इसका कारण केवल इतिहास के अध्ययन की प्रसाद की प्रवृत्ति ही नहीं था बल्कि इसमें अपनी वर्तमान दुस्थिति और समस्याओं का समाधान अतीत में ढूँढने और अतीत से प्रेरणा पाने का सजग प्रयास भी किया हुआ था। उन्होंने सुदूर तथा निकट अतीत के दोनों छोरों का कलात्मक सृजन किया था। इस प्रक्रिया में दो धारणाएँ कार्यरत थीं। एक थी - अतीत से जो सफलताएँ हमारे देशवासियों को मिली थीं, उन्हें किस प्रकार प्राप्त किया गया था और दूसरी उन असफलताओं के जिनसे देश की दुर्दशा हुई, कारण क्या थे, और उससे आज हमें कौन-सी सीख लेनी चाहिए। इतिहास-सम्बन्धी कथा - वस्तुओं के उपयोग के पीछे प्रसाद का प्रमुख उद्देश्य यही रहा है। डा॰दशरथ ओझा ने लिखा है - "प्रसाद जी देश और समाज की तत्कालीन दुर्दशा देखकर व्यथित हो जाते थे। उन्होंने राजनीति में प्रत्यक्ष भाग न लेकर साहित्य - सृजन के द्वारा देश-सेवा का मार्ग पकड़ा था। उनकी यह धारणा थी कि देशोद्धार के लिए जनता का नैतिक स्तर ऊँचा करना अनिवार्य है। सम्भवतः इस कारण भी उन्होंने बौद्धकालीन इतिहास को कथानक के रूप में ग्रहण किया।"[1]

1· हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृ· 230·

प्रसाद का स्पष्ट मानना था कि वर्तमान अतीत से कटा हुआ नहीं होता । अतीत का फल ही हमारा वर्तमान होता है । लेकिन इतिहास पर धूल की परतें पड़ी थीं । इतना ही नहीं इतिहास को विकृत और विरूप भी बनाने की कोशिशें होती रहीं । डा॰नगेन्द्र लिखते हैं — " उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान इतिहास ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा रूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये । "[1]

कुछ आलोचकों ने प्रसाद के अतीत-मोह को पलायनवाद समझा था । लेकिन प्रसाद का अतीत में जाना वर्तमान से भागना नहीं था । श्री जोशी के अनुसार – " प्रसाद ने वर्तमान के संघर्षों से भागकर भारत की प्राचीन संस्कृति की ओर पलायन नहीं किया वरन् अपने नाटकों द्वारा अतीत के पर्दे पर एक स्वतन्त्र और संगठित राष्ट्र की योजना को रंगने का प्रयास किया है ।"[2]

क्योंकि प्रसाद के नाटकों में इतिहास, इतिहास के लिए नहीं है अपितु ऐतिहासिकता के भीतर से उनमें आधुनिक समस्याओं की झलक दिखाई देती है । डा॰नगेन्द्र कहते हैं – " प्रसादजी गहरे जीवन द्रष्टा थे । उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था – अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती है । चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त मे राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति का भव्य आदर्श है ।"[3]

1· विचार और अनुभूति, डॉ॰नगेन्द्र – पृ· 36·
2· प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन – जगदीशचन्द्र जोशी – पृ· 81 – 82·
3· विचार और अनुभूति – नगेन्द्र – पृ· 37·

सांकेतिक और कलात्मक रूप से जनजागरण का काम उनके नाटकों का प्रच्छन्न उद्देश्य था । आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है - "ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के तत्कालीन सम्पूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का भी उन्होंने ध्यान रखा है । वहाँ भी युग की वस्तु से भिन्न कोई वस्तु वे नहीं लाए हैं । उनके नाटकों में इसी कारण एक भास्वरता और सम्पन्नता है ।"[1]

व्यक्ति और समाज की अपनी दुर्बलताएँ होती हैं । जिन्हें सुधारकर सही मार्ग पर लाने से पूरे समाज और राष्ट्र की भलाई हो सकती है । वर्तमान से परे अतीत का ध्यान करनेवाला इतिहास गड़े मुर्दे उखाड़ने का कार्य करता है । वास्तव में अतीत वर्तमान की सापेक्षता में ही सार्थक होता है । जयशंकर प्रसाद वर्तमान के लिए अतीत के महत्वपूर्ण अंगों का चुनाव अपने सांस्कृतिक बोध के आधार पर करते रहते थे । उनकी इतिहास-परक रचनाएँ वर्तमान के सन्दर्भ में ही अच्छी तरह भासमान होती हैं। उनकी रचनाओं में कभी अतीत वर्तमान को चमकता प्रतीत होता है तो कभी वर्तमान अतीत को । यह तथ्य उनकी ऐतिहासिक चेतना के महत्व को प्रमाणित कर देता है ।

वर्तमान की चिन्ता में उलझा हुआ नाटककार अपने रूढ़िवादी समाज में परिवर्तन चाहता हुआ 'अजातशत्रु' में देश और समाज में सकारात्मक परिवर्तन की कामना करता है । डा॰दशरथ ओझा लिखते हैं - "इस नाटक में सर्वत्र क्रान्ति का विकट्घोष सुनाई पड़ता है । यह क्रान्ति राजनीतिक क्षेत्र में राजाओं के विरुद्ध राजकुमारों की है, सामाजिक क्षेत्र में

---

1. प्रसाद के नाटक : युग साक्ष्य, रमेश गौतम - पृ॰ 45.

अभिजात के विरुद्ध निम्न वर्ग की है, धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवाद के विरुद्ध सुधारवाद की है, कौटुम्बिक क्षेत्र में पुरुषों के प्रति स्त्रियों की है।"[1] परिवर्तन की यह कसमसाहट प्रसाद की अपनी वर्तमान परिस्थितियों की माँग से उठी है।

इस नाटक का आरंभ ही गृह कलहों से होता है। पर इन कलहों के कारण सत्ता, अधिकार, सांप्रदायिकता आदि हैं। प्रसाद इन कलहों के पहले पारिवारिक कलह में सीमित दिखाते हैं पर फिर धार्मिक कलह और राष्ट्र कलहों के रूप में ये कलह फैल जाते हैं। प्रसाद ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सच्चा धर्म मनुष्य को समाज में सार्थक अस्तित्व देता है। इससे व्यक्ति, समाज और देश की भलाई होनी चाहिए, इनकी बुराई नहीं। मगध, कोसल, कौशाम्बी तीनों जनपद उस समय देश में प्रमुखतया विशिष्ट स्थान पर आसीन थे। उनके बीच आपस में पारिवारिक सम्बन्ध भी थे। इनकी एकता से देश की एकता स्थिर रह जाती है। पर अपने पारिवारिक कहों कलहों में पड़कर अजात यह भूल जाता है और अपनी राज्य से "आय" न मिलने के कारण उस पर आक्रमण करता है। अत्यन्त स्वार्थपूर्ण इस युद्ध में वह असफल होता है। इससे प्रसाद ने मानो यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति को स्वार्थ छोड़कर देश की भलाई के बारे में सोचना चाहिए। इस नाटक के मूल उद्देश्य पर विचार करते हुए डा॰ सावित्री सिन्हा ने लिखा है --
" सोलह महाजनपदों का इतिहास अथवा उनके सांस्कृतिक महत्व की स्थापना करना लेखक का पहला उद्देश्य नहीं है। अजात शत्रु से सम्बद्ध अनेक घटनाओं, विजय अभियानों और राज्य-विस्तार के लिये किये

---

1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृ॰ 219.

गये प्रयासों का विवरण देना प्रसाद का उद्देश्य नहीं था । अपने युग की चेतना को ऐतिहासिक सन्दर्भों में उपस्थित करने पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित थी ।"[1]

'चन्द्रगुप्त' नाटक में भारत देश की एकता को सुस्थिर रखने के लिए जो अविराम श्रम चाणक्य और चन्द्रगुप्त करते हैं । यही प्रदर्शित करना नाटक का मूल उद्देश्य था । सच्चे आदर्श को लेकर चलने के कारण चाणक्य-चन्द्रगुप्त को अन्त में सफलता प्राप्त हो ही जाती है । कहना न होगा कि प्रसाद के अपने समय को भी इसी बात की भारत की एकता की, विदेशियों से मुक्ति की महती आवश्यकता थी । भारतीय परंपरा का गौरवगान भारतीय स्वाधीनता सेनानियों के लिए एक अलग प्रेरणा जगाती है । देश में क्षेत्रीयता तथा अलगाववाद के खिलाफ तथा राष्ट्रीय एकता के लिए इस नाटक में मंत्र फूँका गया है । नाटक के आरम्भ में ही ऐक्य की भावना को चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण के मन में भरते हुए कहता है - "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा । मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा ।"[2]

प्रसाद ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भारत के लोग धर्म, जाति आदि को लेकर आपस में झगड़ रहे हैं । पर जो विदेशी लोग हम पर आक्रमण कर रहे हैं, वे यह नहीं देखते कि हम किस धर्म या जाति के हैं अथवा हमारा वंश कितना ऊँचा है ? भारतवासियों के आपसी संघर्ष का आक्रान्ताओं ने हमेशा ही फायदा उठाया । चाणक्य राक्षस से

---

1. प्रसाद के नाटक - युग साक्ष्य - रमेश गौतम - पृ. 45.
2. चन्द्रगुप्त - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 586.

स्पष्ट कहता है - "सत्य है बौद्ध अमात्य, परन्तु यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे ।"[1]

इस देश की एकता को बनाये रखने में प्रसाद ने केवल पुरुषों का ही नहीं, स्त्रियों का भी महत्वपूर्ण योगदान बताया है । अलका, मालविका, कल्याणी जैसे नारी पात्रों के द्वारा देशभक्ति की भावना दिखाकर वर्तमान को प्रेरणा देने का प्रयत्न उन्होंने किया है ।

प्रसाद ने यह स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है कि हमें आन्तरिक विद्वेषों से दूर हटकर देश के लिए एकजुट होकर लड़ना चाहिए । आम्भीक पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के लिए यवनों से हाथ मिलाकर उनको देश में आमंत्रित करता है । आपसी ईर्ष्या से दग्ध वीर इस प्रकार देशद्रोही बन जाता है । पर्वतेश्वर भी वीर है पर दंभी भी बहुत है । वह चन्द्रगुप्त को यवनों के खिलाफ लड़ाई में चन्द्रगुप्त की सहायता करने से इसलिए इनकार कर देता है कि वह क्षत्रिय नहीं है । मगध का राजा नन्द बौद्ध धर्मावलम्बी था, वह ब्राह्मण चाणक्य की बातों को मानना अपमान समझता है और चाणक्य को अपमानित करता है । वह भी यवनों से होनेवाले युद्ध मे पर्वतेश्वर की सहायता नहीं करता है । इस कारणसे यवनलोग आपस मे लड़ाई भारत - वासियों को आसानी से अपने वश मे कर लेते है । लेकिन चाणक्य ऐसी विषम-परिस्थिति में भी अपनी सफल कूटनीति से सारे गणराज्यों को एक करता है । वह चन्द्रगुप्त को मगध की राज्य सत्ता पर अधिकार दिलाता है । देश को एकत्र करने और यवनों से बचाने मे सफलता प्राप्त करता है । इतना ही नहीं, सन्धि नियमों के अनुसार चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के बीच विवाह सम्बन्ध

1· चन्द्रगुप्त - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 636·

स्थापित करवाकर भारत - यवनों के बीच शाश्वत तथा विश्वमैत्री भाव को स्थिर बनाता है । इस प्रकार प्रसाद ने यह दिखाया है कि स्वार्थ के बिना जब व्यक्ति दृढ़ संकल्प के साथ देश के लिए लड़ता है तो वह विजयी बन जाता है । आम्भीक, पर्वतेश्वर जैसे देशद्रोही को भी अन्त मे पछताना ही पड़ता है । वे यह नहीं सोचते कि आपस मे एक दूसरे से प्रतिशोध लेने के लिए यवन से हाथ मिलाने से उठा हुआ मनुष्य ही महान और इतिहास - पुरुष बनता है और उसका किया गया हर एक काम सफल हो जाता है । चन्द्रगुप्त नाटक मे प्रसाद मानो चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण जैसे व्यक्तियों से प्रेरणा ग्रहण करने के लिए वर्तमान को सन्देश दे रहे हैं ।

चन्द्रगुप्त'नाटक की भाँति 'स्कन्दगुप्त' का परिवेश भी प्रसाद के अपने वर्तमान परिवेश से बहुत जुड़ा हुआ प्रतीत होता है । "स्कन्दगुप्त नाटक का मुख्य उद्देश्य है 'देश को विदेशी हूणो से मुक्त करना'। इस फल की प्राप्ति स्कन्दगुप्त को होती है । उक्त फल के अधिकारी होने से वे इस नाटक के नायक है"।[1] गृहकलह को लेकर ही नाटक का भी आरंभ होता है । राज्य के लालच मे मनुष्य कितना स्वार्थी बन जाता है, उसका यथार्थ चित्रण हुआ है । पुरगुप्त को सम्राट बनाने के लिए अनन्तदेवी स्कन्दगुप्त को समाप्त कर देना चाहती है । पर स्कन्दगुप्त स्वार्थी नहीं है । उसे अपने देश और उसकी जनता से प्रेम है । वह अपने देश की एकता की रक्षा के लिए सिंहासन त्याग देता है । अपने प्राणों को न्योछावर करके भी देश को विदेशी हाथों से सुरक्षित रखने का अथक प्रयत्न करता है और अन्तत: इसमें सफल हो जाता है । स्कन्दगुप्त देवसेना के बीच प्रेम-त्याग का चित्रण करके देश प्रेम के आगे व्यक्तिगत प्रेम को तुच्छ

---

1. प्रसाद की साहित्य - साधना मे'स्कन्दगुप्त - समीक्षा'- प्रो. मोहनवल्लभ - पृ. 247.

बताने का आग्रह भी नाटककार का प्रतीत होते हैं । विजया जैसी महत्त्वाकांक्षा वाली नारियों के संकुचित स्वार्थों का कैसा दुष्परिणाम होता है, यह लोगों के सामने एक उदाहरण बन जाता है । बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, जयमाला, देवसेना के द्वारा देशभक्ति का भाव दिखाकर प्रसाद ने वर्तमान को प्रेरणा दी है कि देश की एकता के लिए सच्चे नायकों की आवश्यकता तो होती है, पर उनकी कमी भी नहीं है । देश के लिए व्यक्ति-स्वार्थों का त्याग यह स्कन्दगुप्त नाटक का सन्देश है ।

ध्रुवस्वामिनी की आलोचना करते हुए रामअवध शास्त्री कहते हैं - "'ध्रुवस्वामिनी' ऐतिहासिक पर्यावरण पर आधृत एक निष्कर्षात्मक समस्या प्रधान नाट्य-कृति है जिसका प्रतिपाद्य है - भारतीय सामाजिक मूल्यों में विवाह विच्छेद का अनुमोदन । प्रसाद जी ने 'ध्रुवस्वामिनी' की सृष्टि पुरुष समाज द्वारा तिरस्कृत, मानसिक वेदना से आक्रांत, करुणा की प्रतीक नारी के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिये किये गये समाज-सुधारकों द्वारा विवाह-विच्छेद के प्रयास को जिसे अज्ञानवश अभारतीय घोषित कर दिया गया था - शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने के लिए की है । ... विवाह-विच्छेद को भारतीय संस्कृति के अनुकूल सिद्ध करने के लिए प्रसाद को एक ऐसे कथानक की आवश्यकता थी जिसके माध्यम से वे अतीत की पृष्ठभूमि में अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन कर सके । इसके लिए गुप्तकालीन इतिहास का कथानक सांकेतिक रूप में प्राप्त हुआ ।"[1]

ध्रुवस्वामिनी गुप्तकालीन कथा पर आधुनिक समस्या को लेकर लिखा गया नाटक है । भारतीय संस्कृति और नैतिक परंपरा के अनुसार स्त्री को पति का साथ आजीवन निभाना पड़ता है चाहे पति कितना ही बुरा क्यों

---

1. साहित्यिक निबन्ध - रामअवधी शास्त्री - पृ. 102.

न हो । इस नाटक मे प्रसाद ने यह स्पष्ट किया है कि यदि पति अपनी पत्नी के प्रति सही कर्तव्य नही निभा पाता तो उसे छोड़ना शास्त्र सम्मत ही है । रामगुप्त अपने भाई चन्द्रगुप्त का राज्य और उनकी वाग्दत्ता को अपनी पत्नी तो बना लेता है, पर उसकी रक्षा करने में असफल रहता है । स्त्री को उपहार के रूप में प्राप्त वस्तु समझता है, और शकराज से संधि के लिए अपनी पत्नी को ही उपहार के रूप में भेज देता है । ऐसे कायर, का पुरुष को धर्मपरिषद के द्वारा क्लीव बताकर प्रसाद उससे ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष दिलवाने की वकालत करते हैं । पुरोहित यही घोषणा करते है कि " जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने मे कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या है ? मै स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म-शास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है । "[1]

चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी के पुन: परिणय की बात कहकर प्रसाद ने सामाजिक कुरूपताओं का खुलकर विरोध किया है । इस विद्रोह को औचित्यपूर्ण बनाने के लिए वे इतिहास को साक्षी बताते हैं । यहाँ प्रसाद केवल वर्तमान की समस्या के मामले में अतीत को मानो गवाही देने के लिए बुलाया गया है ।

'राज्यश्री' हर्षकालीन और हर्ष परिवार से संबंधित नाटक है । अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त आदि मे चाहे धर्म के लिए हो या राज्य के लिये, लोग आपस मे लड़ते-झगड़ते दिखाई देते हैं । पिता, भाई, बन्धु जैसे सम्बन्ध भी स्वार्थ के कारण विकृत हो गये थे । 'राज्यश्री' मे प्रसाद ने पारिवारिक प्रेम का चित्रण किया है । ग्रहवर्मा और अपने भाई

---

1. ध्रुवस्वामिनी - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 737.

राज्यवर्द्धन की हत्या करने वालों से प्रतिशोध लेने के लिए हर्षवर्धन पुलकेशिन से सन्धि कर लेता है। पर राज्यश्री के अनुरोध पर ही धोखे से भाई को मारनेवाले मालवराजा शिशिरगुप्त को क्षमा कर वह अहिंसावादी मार्ग अपना लेता है। यहाँ प्रसाद भारतीय संस्कृति के परंपरागत मूल्यों में विश्वास व्यक्त करते हैं। साथ ही उन्होंने सती प्रथा का विरोध भी किया है। छोटे-छोटे राज्यों के आपसी कलह, षड्यन्त्र आदि की बातें यहाँ भी हैं, जिन भूलों से शिक्षा लेने का संकेत वे अक्सर देते थे।

इस प्रकार अतीत का चित्रण करके प्रसाद ने वर्तमान को यही कहना चाहा है कि अतीत में राजनीतिक, पारिवारिक, धार्मिक, धार्मिक कलहों के द्वारा देश की एकता को पर्याप्त हानि पहुँची थी जिसके कारण विदेशियों ने भारत पर आक्रमण किया तथा उसे गुलाम बनाना चाहा। हमारे देश के आपसी झगड़े हमारी हार का मुख्य कारण बन रहे थे। यदि हम सब एक रहते तो बाहर वालों के लिए देश मे कदम रखना आसान नहीं होता। जाति, धर्म, अन्ध विश्वास, सामाजिक रूढ़ियों आदि का चित्रण कर प्रसाद इनसे मुक्त होने के लिए हमें उकसाते हैं। अतीत मे मिली असफलताओं के चित्रण के द्वारा उन्होंने प्रयत्न किया है कि हमें अतीत की भूलों से शिक्षा ग्रहण करें। विजय और असफलताओं के चित्रण के द्वारा वे मानो कहना चाहते हैं कि विजय के लिए कारणभूत महापुरुषों का पथ अनुसरण करना हमारा कर्तव्य है।

ऐतिहासिक तथ्यों का तटस्थ अनुसन्धान :-

प्रसाद ने इतिहास के तथ्यों और निष्कर्षों को अपने नाटकों में अधिकांशतः यथावत् चित्रित करने का प्रयत्न किया है। साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों को खोज निकालने के लिए पुराणों, ग्रन्थों, शिलालेखों, स्तूपों और

मुद्राओ का भी आश्रय उन्होंने लिया है । इनका उल्लेख प्रसाद ने स्पष्ट रूप मे अपने नाटकों की भूमिकाओं मे किया है ।

किसी भी ऐतिहासिक विषय चरित्र या घटना को प्रामाणिक आधार मिल जाय तो उसे ही ऐतिहासिक तथ्य कहते हैं । लेकिन इतिहास में वर्णित अथवा प्रचलित हर एक घटना ऐतिहासिक तथ्य नहीं होती । जिस विषय को पर्याप्त निश्चित रूप से प्रमाणपुष्ट आधार मिल जाता है, वही विषय ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है । प्रसाद ने अपने नाटको मे ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्यो को पर्याप्त परिश्रम से खोज निकाला है । इन तथ्यों से परिपूर्ण इतिहास को अपनी रचनात्मकता से समन्वित कर ऐतिहासिक नाटक उन्होंने लिखे हैं । प्रसाद के नाटको मे उनके अनुसन्धाता इतिहासकार का रूप देखना कभी-कभी कुछ विस्मय उत्पन्न करता है । 'अजातशत्रु' नाटक की भूमिका मे प्रसाद ने लिखा है --

"भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से माना गया है, क्योंकि उस काल की बौद्ध-कथाओं मे वर्णित व्यक्तियो का पुराणो की वंशावली मे प्रसंग आता है । लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं ।[1]

प्रसाद ने ऐसा मत व्यक्त करके यह स्पष्ट किया है कि हमारे देश मे पुराणो, जातक कथाओं तथा अन्य स्रोतो का उपयोग इतिहास की जानकारी के लिए सफलतापूर्वक किया जा सकता है । इन ग्रंथो के माध्यम से तत्कालीन समाज, धर्म, राजनीति आदि के विषय मे महत्त्वपूर्ण बाते प्राप्त होती हैं । प्राचीन काल मे समाज मे धर्म की बड़ी सक्रिय भूमिका थी ।

---

1. अजातशत्रु जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली - पृ. 186.

" वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञों और पुरोहितों के एकाधिपत्य से साधारण जनता के हृदय क्षेत्र में विद्रोह की उत्पत्ति हो रही थी । उसी के फलस्वरूप जैन-बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ ।"[1] देश की जनता धर्म से अधिकतर प्रभावित-परिचालित होती रहती थी । धर्म का वर्चस्व समाज, अर्थनीति, राजनीति, कला, संस्कृति सब पर था । इस प्रकार की धारणा से स्पष्ट है कि हमारा आरम्भिक ऐतिहासिक काल धार्मिक संघर्षों के बीच से उभर कर सामने आता है । इसी संघर्ष ने अजातशत्रु के जीवन मे पारिवारिक कलह का रूप धारण कर लिया था ।

प्रसाद ने कहीं कहीं अपने द्वारा वर्णित घटनाओं को प्रामाणिक इसलिए भी माना है क्यों कि उनका उल्लेख कथासरित्सागर, बृहत्कथा, बौद्ध जातक कथाओं मे हुआ है । जैसे अमात्य वररुचि के बारे मे कुछ बातें कथासरित्सागर में भी मिलती हैं । अजातशत्रु के जीवन को लेकर नाटक लिखने के लिए प्रसाद ने इतिहास की गहरी छानबीन की थी । नाटक की भूमिका मे लिखते हैं -"सम्राट अजातशत्रु के समय मे मगध-साम्राज्य रूप मे परिणत हुआ; क्योंकि अंग और वैशाली को इसने स्वयं विजय किया था और काशी अब निर्विवाद रूप से उसके अधीन हो गई थी । कोसल भी इसका मित्र राष्ट्र था । उत्तरीय भारत मे यह इतिहासकाल का प्रथम सम्राट हुआ ।"[2]

पहले सम्राट के रूप मे केवल अजातशत्रु के साम्राज्य का ही चित्रण नहीं किया गया, अपितु उस समय के चार जनपदों का इतिहास-सम्मत विवरण भी प्रसाद ने प्रस्तुत किया है । उन्होंने अपनी कथावस्तु से

---

1. अजातशत्रु - जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली - पृ. 187.
2. अजातशत्रु की भूमिका, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 195.

सम्बन्धित ऐसे तथ्य अलग-अलग स्रोतों से भी खोज निकाला तथा उनकी सतर्क जाँच भी की । "मथुरा के समीप परखम गाँव में मिली हुई अजातशत्रु की मूर्ति देखकर मिस्टर जायसवाल की सम्मति है कि अजातशत्रु ने सम्भवतः पश्चिम में मथुरा तक भी विजय किया था ।"[1]

प्रसाद इतिहास सम्बन्धी नवीन जानकारियों में स्वयं को सदैव अवगत रखा करते थे । प्रसाद की इस सजगता का एक उदाहरण देखा जा सकता है - "गौतम ने अपना नवाँ चातुर्मास्य कौशाम्बी में, उदयन के राज्यकाल में व्यतीत किया और 45 चातुर्मास्य करके उनका निर्वाण हुआ । ऐसा भी कहा जा सकता है - अजातशत्रु के राज्याभिषेक के नवें या आठवें वर्ष में गौतम का निर्वाण हुआ । इससे प्रतीत होता है कि गौतम के 35 वें 36 वें चातुर्मास्य के समय अजातशत्रु सिंहासन पर बैठा ।"[2]

इतिहास में गौतम के निर्वाण की तिथि निर्दिष्ट न करने पर भी प्रसाद ने अपनी ओर से उनके समय का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है । उदयन की पत्नी पद्मावती के बारे में भी इतिहासकारों के बीच मत भेद होने के कारण प्रसाद ने अपनी ओर से खोज करते हुए अपना निष्कर्ष इस प्रकार व्यक्त किया है --

"प्रोफेसर गेगर महावंश के अनुवाद में बड़ी दृढ़ता से अजातशत्रु और उदयाश्व के बीच में दर्शक नाम के किसी राजा के होने का विरोध करते हैं । कथासरित्सागर के अनुसार प्रद्योत ही पद्मावती के पिता का नाम था ।

1· अजातशत्रु की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 195·
2· - वही - पृ· 192·

इन सब बातों को देखने से यही अनुमान होता है कि पद्मावती बिम्बिसार की बड़ी रानी कौसला (वासवी) के गर्भ से उत्पन्न मगध राजकुमारी थी ।"[1]

प्रसाद पात्रों को काल्पनिक रूप से नहीं निर्मित करते वरन् उनके ऐतिहासिक चरित्रों का प्रमाणपुष्ट अस्तित्व भी होता है । "अजातशत्रु की माता छलना, वैशाली के राजवंश की थी जो जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की निकट सम्बन्धिनी भी थी । वैशाली की वृजि-जाति (लिच्छवि) अपने गोत्र के महावीर स्वामी का धर्म विशेष रूप से मानती थी ।"[2] प्रसाद की दिलचस्पी इतिहास पुरातत्व और संस्कृति में बहुत थी । वे इनसे सम्बन्धित ग्रन्थों के गंभीर अध्येता थे । अपनी इस गवेषक प्रवृत्ति के कारण भी प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यों को खोज निकालने का प्रयत्न किया है और सफल भी हुए हैं ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में वस्तु-विस्तार और घटनाओं की बहुलता से कालक्रम की तथा वातावरण की असहजता महसूस होने के बावजूद प्रसाद ने पात्रों की ऐतिहासिक छवि को अपने चित्रण में सफलतापूर्वक सुरक्षित रखा है ।

मौर्य कालीन साम्राज्य के पहले धार्मिक संघर्षों में जाति और धर्म अपना वास्तविक स्वरूप खोते जा रहे थे । 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिखने के लिए भी प्रसाद ने ऐतिहासिक सन्दर्भों की सही जानकारी के लिए काफी प्रयत्न किये थे । इस पुस्तक की भूमिका से उनके इन प्रयत्नों का संकेत मिलता है :

---

1. अजातशत्रु की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 192.
2. - वही - पृ. 193.

" भारत का श्रृंखलाबद्ध इतिहास नहीं है, पर बौद्धों के बहुत-से शासन-सम्बन्धी लेख और उनकी धर्म पुस्तकों से हमें बहुत सहायता मिलेगी, क्योंकि उस धर्म को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाला उसी मौर्य वंश का सम्राट अशोक हुआ है । ....

" मौर्य-कुल का सबसे प्राचीन स्थान पिप्पली-कानन था । चन्द्रगुप्त के आदिपुरुष मौर्य इसी स्थान के अधिपति थे और यह राजवंश गौतम बुद्ध के समय में प्रतिष्ठित गिना जाता था, क्यों कि बौद्धों ने महात्मा बुद्ध के शरीर-भस्म का एक भाग पानेवालों में पिप्पली-कानन के मौर्यों का उल्लेख किया है । "[1]

मौर्य साम्राज्य के नौ नन्दों तथा चन्द्रगुप्त के शासन का ऐतिहासिक तथ्यों के सहारे चित्रण किया गया है । घनानन्द को शूद्रपुत्र कहा गया है । पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहकर सहायता देने से इनकार करता है । पर चाणक्य इन वृषलों के भी क्षत्रिय होने का उल्लेख करता है —

" आर्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला, वस्तुत: ये क्षत्रिय हैं । बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके श्रौत संस्कार छूट गये हैं अवश्य परन्तु इनके क्षत्रिय होने मे कोई सन्देह नहीं है । "[2]

प्रसाद ने केवल अपने अनुमान से ऐसा नहीं कहा । इनका उल्लेख विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में भी है । इसका अपनी भूमिका में प्रसाद ने जिक्र किया है —

---

1. चन्द्रगुप्त की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 552 से 556.
2. चन्द्रगुप्त - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 606 - 607.

"शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गतालोके ब्राह्मणानामदर्शनात ।"

"..... जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओं में उदासीन हो जाते थे, उन्हें धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व प्राप्त होता था । वस्तुतः वे जाति से क्षत्रिय थे । स्वयं अशोक मौर्य अपने को क्षत्रिय कहता था ।"[1]

"मगध से चन्द्रगुप्त के निकलने की तिथि ई॰पू॰ 327 या 328 निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि 326 से तो वह सिकन्दर से तक्षशिला में मिला ही था ।"[2]

इतिहास में मगध से चन्द्रगुप्त के चले जाने की घटना प्रामाणिक ही है । चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के विषय में भी प्रसाद जी ने पर्याप्त छानबीन की थी ---

"पण्डित रामचन्द्रजी शुक्ल ने मेगास्थनीज की भूमिका में लिखा है कि 316 ई॰पू॰ में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा और 292 ई॰पू॰ तक उसने 24 वर्ष राज्य किया ।"[3]

पर ऐतिहासिकों का अनुमान है कि 25 वर्ष की अवस्था में चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा यह भी ठीक हो जाता है । क्योंकि पूर्व-निर्धारित चन्द्रगुप्त के जन्म समय 346 ई॰पू॰ से 25 वर्ष घटा देने से भी 321 ई॰पू॰ही बचता है,

---

1॰ चन्द्रगुप्त की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2 - पृ॰ 556॰
2॰ - वही - पृ॰ 564॰
3॰ - वही - पृ॰ 568॰

जिससे यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त पाटलीपुत्र में मगध-राज्य के सिंहासन पर 321 ई॰पू॰ में आसीन हुआ । "[1]

" बौद्ध ग्रन्थ, अर्थकथा और वायुपुराण से चन्द्रगुप्त का शासन 24 वर्षों का ज्ञात होता है जो 321 ई॰पू॰ से 297 ई॰पू॰ तक ठीक प्रतीत होता है ।"[2]

इस प्रकार प्रसाद ने अपने मत के अनुसार चन्द्रगुप्त के शासन काल की तिथि भले ही निर्धारित नहीं की हो, फिर भी अनेक इतिहासकारों के मत उन्होंने अवश्य व्यक्त किये हैं। इस प्रकार प्रसाद के नाटक ऐति-हासिक तथ्यों की रक्षा के साथ अपनी मौलिक सम्भाव्यता का भी परिचय देते हैं। भारतीय इतिहास का प्राचीनकाल घटनाओं, तिथियों और चरित्रों की दृष्टि से निर्विवाद नहीं है, बल्कि अनेकशः कुहासाच्छन्न ही कहा जायगा। अतः प्रसाद और कतिपय ऐतिहासिक ग्रुत्थियों में कभी-कभार उलझे प्रतीत होते हों इसे अस्वाभाविक नहीं समझना चाहिए। फिर प्रसाद साहित्यकार पहले थे, इतिहासकार तथा रचनाकार की दोहरे दायित्व वाली भूमिका निभाने के क्रम में किंचित् इतिहास सम्बन्धी त्रुटियाँ क्षम्य मानी जानी चाहिए।

'स्कन्दगुप्त' नाटक की भूमिका में विक्रमादित्य उपाधिवाले या नामवाले तीन राजाओं का उल्लेख प्रसाद ने किया है। स्कन्दगुप्त की माँ का नाम देवकी रखने के पीछे भी उन्होंने ऐतिहासिक कारण प्रस्तुत

---

1. चन्द्रगुप्त की भूमिका – प्रसाद ग्रन्थावली-2 – पृ॰ 568॰
2. – वही – पृ॰ 577॰

किया है । वे लिखते हैं - " स्त्री पात्रों स्कन्द की जननी का नाम मैं ने देवकी रखा है । स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में " हतरिपुरिव कृष्णो देवकी मभ्युपेत " मिलता है ।"[1]

प्रसाद के अनुसार मातृगुप्त ही कालिदास थे । कालिदास के काश्मीर के शासक होने का भी प्रामाणिक आधार उन्होंने दिया है । इतना ही नहीं तीन कालिदास के नामों का उल्लेख करते हुए वे अपना मौलिकमत प्रकट करते हैं - " हमारी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाटककार कालिदास भिन्न-भिन्न थे और नलोदय आदि के कर्ता कालिदास अन्तिम और तीसरे थे ।"[2] संभव है, पाठक प्रसाद के विचार से सहमत नहीं हो लेकिन अपने मत के लिए प्रसाद के अपने तर्क भी थे । काव्यकार और नाटककार कालिदास की रचनाओं और जीवन का उल्लेख करते हुए प्रसाद ने आगे लिखा है - " काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था । नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शान्ति का काल है । मालविकाग्निमित्र में सिन्धु तट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है । यवनों का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड़ चुका था ।"[3]

कालिदास (मातृगुप्त) के काश्मीर के निवासी होने का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं - " काव्यकार कालिदास अनुमान से पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे । वे काश्मीर के थे,

---

1. स्कन्दगुप्त की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 408.
2. - वही -
3. - वही - पृ. 421.

ऐसा लोगों का मत है । 'मेघदूत' में जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर वियोग का वर्णन है । "[1] प्रसाद ने कालिदास की रचनाएँ मात्र आनन्द के लिए पढ़ी हों ऐसा नहीं लगता । उन्होंने ऐतिहासिक परिवेश को भी उन रचनाओं के माध्यम से पाने का प्रयत्न किया है । कालिदास की तरह स्वयं प्रसाद भी कवि-नाटककार थे । स्कन्दगुप्त के अन्तिम समय तक, या उसके बाद भी कालिदास जीवित थे । इसका भी स्पष्टीकरण देते हुए प्रसाद लिखते हैं -- "यदि 524 ई॰ तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो उन्होंने गुप्तवंश का ह्रास भी भली भाँति देख लिया अथवा सुना होगा । रघुवंश में वैसा ही अन्तिम पतन-पूर्ण वर्णन भी है ।"[2]

स्कन्दगुप्त के जीवन का अन्त प्रसाद के अनुसार 467 ई॰ माना जाना चाहिए ।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रसाद ने ऐतिहासिक चरित्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के जीवन के सम्बन्ध में नये प्रमाणों के आलोक में विचार किया । विशेषकर 1923 ई॰ में ऐतिहासिक पत्रिकाओं में विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के प्रकाशित अंश उन्हें महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए ।

अनेक अंधपरंपरासेवी लोगों को चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के पुनर्लग्न की ऐतिहासिकता पर सन्देह हुआ था । प्रसाद इसके ऐतिहासिक घटना होने का प्रमाण उपस्थित करते हैं । सातवीं शताब्दी में भट्ट ने लिखा है -

---

1॰ स्कन्दगुप्त की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ॰ 420॰
2॰ - वही - पृ॰ 425॰

" अरिपुरेच परकलत्रकामुकं कामिनीवेश श्चन्द्रगुप्तो शकपतिमशातयत् ।"[1]

" भण्डारकर और जायसवालजी, दोनों ने ही अपने लेखों में विधवा के साथ पुनर्लग्न होने की व्यवस्था मानकर ध्रुवदेवी का पुनर्लग्न स्वीकार किया है । किन्तु स्मृति की ही उक्त व्यवस्था में अन्य पति ग्रहण करने के लिये पाँच आपत्तियों का उल्लेख किया है, उनमें केवल मृत्यु होने पर ही तो विधवा का पुनर्लग्न होगा । अन्य चार आपत्तियाँ तो पति के जीवन काल में ही उपस्थित होती हैं ।"[2]

इतना ही नहीं, नारद, पराशर आदि के वचनों का हवाला देकर पुनर्लग्न की घटना को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में प्रसाद ने सिद्ध किया है । 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में अन्य इतिहास सम्बन्धी समस्याओं का निदान प्रसाद ने होशियारी से किया है । जैसे रामगुप्त की हत्या का ही प्रश्न लें । " जायसवाल जी अबुलहसनअली की यह बात नहीं मानते कि चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या की होगी ।"[3] लगता है प्रसाद भी जायसवाल से सहमत थे । इसी उद्देश्य से प्रसाद ने भी अन्त में रामगुप्त की हत्या अन्य किसी सामन्त से करवायी है, चन्द्रगुप्त से नहीं ।

अपने नाटक की नायिका का नाम ध्रुवस्वामिनी रखने के विषय में उन्होंने लिखा है —

---

1. ध्रुवस्वामिनी की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - पृ. 697.

2. - वही - पृ. 699.

3. - वही - पृ. 701.

"विशाखदत्त ने ध्रुवदेवी नाम लिखा है; किन्तु मुझे ध्रुवस्वामिनी नाम जो राजशेखर के मुक्तक में आया है, स्त्री जनोचित, सुन्दर, आदर-सूचक और सार्थक प्रतीत हुआ। इसीलिए मैं ने उसी का व्यवहार किया है।"[1]

इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की समस्या, रामगुप्त की मृत्यु और चन्द्रगुप्त से विवाह आदि ऐतिहासिक तथ्य ही हैं जिनका प्रमाणोपलब्ध, इतिहास पुष्ट मगर कलात्मक चित्रण प्रसाद ने किया है।

'राज्यश्री' नाटक की ऐतिहासिकता की जाँच-परख प्रसाद ने कई स्रोतों से की थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने साहित्य और ऐतिहासिक विवरण-दोनों का ही सार्थक उपयोग किया है। 'राज्यश्री' नाटक की भूमिका में प्रसाद ने लिखा है - "राज्यश्री और हर्षवर्द्धन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का आधार हर्षवर्द्धन के राजकवि बाण का बनाया हुआ हर्षचरित और चीनी यात्री सुएनच्वांग का वर्णन है। .... कुछ विशेष घटनाओं का वर्णन चीनी यात्री ने किया है।"[2]

भारतीय इतिहास में गुप्तों के बाद वर्धन साम्राज्य का शासन आता है। ग्रहवर्मा की हत्या, राज्यश्री का बन्दी बनाया जाना आदि ऐतिहासिक दुर्घटनाएँ ही हैं, जिनके विषय में नाटक की भूमिका में उल्लेख मिलता है - "वर्द्धनवंश के प्रभाकर के मरते ही नरेन्द्र के उकसाने से मालव के देवगुप्त ने प्रभाकर के जामाता ग्रहवर्मा से कान्यकुब्ज को छीन लिया और

---

1. ध्रुवस्वामिनी की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 701.
2. राज्यश्री की भूमिका, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 98.

प्रभाकर को दुहिता राज्यश्री को बन्दी बनाकर सफलता प्राप्त की ।"[1]

श्रीहर्ष का राज्यकाल 605 ईसवी से आरम्भ होकर 647 ईसवी तक चलता है । 'राज्यश्री' को प्रसाद ने अपना पहला ऐतिहासिक रूपक मानते थे । उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है -- "इस दृश्यकाव्य का पूर्वरूप 'इन्दु' में पहले निकला, फिर चित्राधार के संग्रह में वह पुनर्मुद्रित हुआ । एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ । उस समय वह अपूर्ण-सा-ही था, इसका वर्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित है ।"[2] यह भी एक कारण है कि 'राज्यश्री' में प्रसाद की नाट्यकला का प्रौढ़ रूप नहीं मिलता ।

प्रसाद ने स्पष्ट कह दिया है कि इस नाटक की रचना में उन्होंने राज्यश्री का चरित्र-चित्रण करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य माना था । उन्होंने लिखा है - "हर्षवर्द्धन के जीवन का अन्तिम दृश्य इसमें नहीं दिया गया है, क्योंकि इस रूपक का उद्देश्य है, राज्यश्री का चरित्र-चित्रण ।"[3] 'राज्यश्री' में नायिका के चरित्र-विश्लेषण के क्रम में नाटककार ऐतिहासिक प्रसंगों के पीछे-पीछे चलता है । राज्यश्री के सती होने की इच्छा को नाटककार बौद्ध साधु के मुँह से आत्महत्या की प्रवृत्ति कहलाकर विफल करता है । अर्थात् इस प्रकार आधुनिक दृष्टि से अतीत को देखने परखने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है ।

---

1. राज्यश्री की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 99.
2. - वही - पृ. 100.
3. - वही - पृ. 100

पूर्व इतिहासकारों की त्रुटियों तथा भ्रमों का परिमार्जन :-

अपने अनेक, ऐतिहासिक कथावस्तु वाले नाटकों में इतिहास के सन्दर्भ में चूकें और त्रुटियाँ की हैं, यह सच है। मगर यह भी सच है कि इन नाटकों में जहाँ एक ओर प्रसाद ने ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख अनुसंधानपूर्वक किया है। वहीं दूसरी ओर पूर्व इतिहासकारों की त्रुटियों और भ्रमों का परिमार्जन भी अत्यन्त परिश्रम पूर्वक किया है। कहीं -कहीं इतिहास की भावना को सुरक्षित रखते हुए उन्होंने कुछ स्थूल एवं गौण ऐतिहासिक तथ्यों में किंचित् क्वचित् परिवर्तन भी किया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने सदा यह ध्यान में रखा है कि ऐतिहासिकता को क्षति नहीं पहुँचे।

'अजातशत्रु' नाटक में चार जनपदों का उल्लेख इतिहास की धारणा के अनुरूप ही मिलता है। अजातशत्रु के परिवार में कलह का कारण, इतिहास के अनुसार, बौद्ध-जैन धर्मों का संघर्ष ही था। लेकिन प्रसाद ने इसे अन्तर्धार्मिक संघर्ष का रूप देकर साधारण गृह कलह के रूप में ही इसका वर्णन कर दिया। चारों जनपदों में भी एक प्रकार का पारिवारिक सम्बन्ध था, इसे प्रसाद भी स्वीकार करते हैं।

अजातशत्रु अपने पिता को बन्दी बना लेता है। इससे क्षुब्ध होकर वासवी अपने नाम पर आनेवाली काशी की आय अजात काशी युद्ध के लिए चलता है। यह घटना इतिहास के अनुसार बिम्बिसार की मृत्यु के बाद होनी चाहिए। लेकिन प्रसाद ने पहले ही इसका चित्रण करके कथा की गति - मयता और प्रवाह को रचना के अनुकूल आगे बढ़ाया। इसी युद्ध में अजात

प्रसेनजित् के हाथों बन्दी बना लिया जाता है। बाद में सौतेली माँ वासवी की सहायता से प्रसेनजित् की पुत्री वाजिरा से अजातशत्रु का विवाह हो जाता है। अन्त में अजातशत्रु अपने पिता से क्षमा याचना करता है। इस प्रकार हम देखते है कथा को मनोरंजक रूप से आगे बढ़ाने के लिए घटनाओं को पुनर्नियोजन करने मे लेखक की मौलिकता सहायक सिद्ध होती है।

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा बताते हैं कि इतिहासकारों के अनुसार प्रसेनजित् की तीन रानियाँ थीं जबकि प्रसाद केवल दो रानियों की चर्चा करते हैं। शर्मा जी लिखते हैं - "इसकी तीन रानियों का विशेष उल्लेख है - अवंती-नरेश चंडप्रद्योत् अथवा चंड महासेन की पुत्री वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता, बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित श्यामवती अथवा पुराण और काव्यग्रन्थों में उल्लिखित मगध-शासक दर्शक (अजातशत्रु) की बहन पद्मावती एवं मागधीय ब्राह्मण की कुमारी मागधी।"[1]

लेकिन प्रसाद ने वासवदत्ता और पद्मावती दो पत्नियों का उल्लेख किया है। ऐसा शायद इसलिए कि प्रसाद ने मागन्धी का चरित्र दन्त कथाओं वाली विचित्रताओं से भरा निर्मित किया है। मागन्धी बुद्ध के प्रति अनुरक्त थी और उनसे तिरस्कृत होकर वह उदयन की नर्तकी बनी थी। बुद्ध के प्रति अपने विरोध के कारण ही वह बौद्ध धर्म की समर्थक पद्मावती से भी जलती थी और इसीलिए उदयन और पद्मावती के बीच कलह का कारण भी बनती है। यही मागन्धी श्यामा बनती है और अन्त में वह बौद्ध भिक्षुणी भी बन जाती है। आम्रपालि का चरित्र ऐतिहासिक ही है। लेकिन मागन्धी, श्यामा, आम्रपाली तीन सर्वथा भिन्न प्रतीत होने वाले

---

1. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - पृ० - 47.

पात्रों को एक ही पात्र बना देना प्रसाद के नाट्य कौशल की मौलिकता है । संभव है, पात्रों की संख्या अधिक न बढ़ाने के लिए प्रसाद ने ऐसा किया होगा । लेकिन इससे इतिहास को कोई क्षति नहीं पहुँचती ।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में पूर्व इतिहासकारों की त्रुटियों से प्रसाद की अपनी असंगतियाँ अधिक हैं । फिर भी अपने कथा-विस्तार में चन्द्रगुप्त नाटक ऐतिहासिकता को बचाये रखने में सक्षम हुआ है । चाणक्य का तक्षशिला से सम्बन्धित होना इतिहास सम्मत है । यद्यपि चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, चाणक्य आदि का वार्तालाप कल्पित ही है, फिर भी उसे अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता । प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक के सन्दर्भ में इतिहास - परक स्रोतों की छानबीन की थी : " यह प्रवाद भी अधिकता से प्रचलित है कि मौर्य वंश मुरा नाम की शूद्रा से चला है और चन्द्रगुप्त उसका पुत्र था । यह भी कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य शूद्रा " मुरा " से उत्पन्न हुआ नन्द ही का पुत्र था । "[1]

लेकिन नाटक मे कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता । इतिहास के उपरोक्त प्रवाद से प्रसाद सकारण असहमत हैं । वे जानते हैं कि यदि चन्द्रगुप्त नंदवंश का व्यक्ति होता तो चाणक्य उसे सम्राट नहीं बना देता । चाणक्य नन्द की सभा में अपमानित होकर प्रतिज्ञा करता है - " तुम्हारी धर्मान्धता से प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी, उसमे नन्द-वंश समूल उखड़ेगा । नियति-सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है । समय आगया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाये जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभि - षिक्त हों । "[2]

---

1. चन्द्रगुप्त की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 557.
2. चन्द्रगुप्त - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 598.

इसलिए चन्द्रगुप्त नन्द वंश का हो ही नहीं सकता । इस अंध-धारणा का निराकरण करते हुए प्रसाद ने सतर्क प्रश्न चिह्न लगाया है - "अब यह देखना चाहिए कि चन्द्रगुप्त को जो लोग महानन्द का पुत्र बताते हैं, उन्हें कितना भ्रम है; क्योंकि उन लोगों ने लिखा है कि -- महानन्द को मारकर चन्द्रगुप्त ने राज्य किया । .... महानन्द के बाद 100 वर्ष तक महापद्म और उसके लड़कों ने राज्य किया । तब चन्द्रगुप्त को कितनी आयु मानी जाय कि महानन्द के बाद महापद्मादि के 100 वर्ष राज्य कर लेने पर भी उसने 24 वर्ष शासन किया ?"[1]

सिंहरण, अलका, कार्नेलिया, कल्याणी आदि पात्र काल्पनिक होने पर भी प्रसाद ने नाटक को विश्वसनीय तथा रोचक बनाने के लिए अत्यन्त प्रभावकारी कलात्मकता के साथ उन्हें ऐतिहासिक गरिमा प्रदान कर दी है ।

ग्रीक इतिहास से पता लगता है कि तक्षशिलाधीश के कुचक्र से फिलिप्स ने पुरु की हत्या की थी । इससे क्रोधित होकर जनता ने फिलिप्स को मार डाला । प्रसाद ने इससे भिन्न कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के बीच प्रेम का चित्रण करते हुए दिखाया है कि कार्नेलिया पर बलात् अधिकार जमाने की चेष्टा करने वाले फिलिप्स को चन्द्रगुप्त द्वन्द युद्ध में मार देता है । पुरु को भी अत्याचारी सिद्ध करते हुए नाटककार कल्याणी से उसका अन्त करवा देता है ।

मालव दुर्ग पर सिकन्दर का आक्रमण और उसका हार जाना इतिहास सम्मत ही है । लेकिन प्रसाद ने इसी घटना को कुछ और भी आगे बढ़ाया है । सिंहरण के तीर से सिकन्दर घायल हो जाता है । लेकिन अपने वश में

---

1. चन्द्रगुप्त की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 559.

आर्य शत्रु सिकंदर को सिंहरण यह कहकर मुक्त कर देता है कि वह पुरु के प्रति किये गये उपकार का ऋण एक भारतीय के नाते चुका रहा है। इस प्रकार भारतीय वीर द्वारा शत्रु को कृतज्ञता पूर्वक छोड़ देना प्रसाद की अपनी मौलिकता है, जिससे वे अपने देश की संस्कृति की महानता को प्रभा मंडित करना चाहते थे।

इतिहास व्यक्ति की भावनाओं की तह में नहीं जाता, पर साहित्य का तो यह अपना ही क्षेत्र होता है। इतिहास व्यक्ति को बाहर से देखता है, पर साहित्य उसे बाहर और भीतर दोनों ही जगहों से देखता है।

स्कन्दगुप्त का सिंहासन के प्रति विरक्ति भाव दिखलाना इतिहास सम्मत न होने पर भी उसके व्यक्तित्व के उत्कर्ष को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है। यह नाटककार प्रसाद जानते थे। उज्जयिनी में स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक का भी इतिहास में उल्लेख नहीं मिलता। इसी तरह उसका देवसेना से प्रेम, आजीवन कौमारव्रत लेना आदि प्रसाद की मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

मालव नरेश का अस्तित्व यों तो ऐतिहासिक है, परन्तु उसका नाम बन्धुवर्मा है या नहीं, यह सन्देहास्पद है। यद्यपि मातृगुप्त और कालिदास के एक ही व्यक्ति होने की इतिहासकारों ने स्वीकृति नहीं दी है, फिर भी प्रसाद ने मातृगुप्त को काव्यकार कालिदास कहकर उसको काश्मीर का राजा बताया है। इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में विवाद की स्थिति पाकर प्रसाद ने अपने मत के अनुरूप इतिहासकारों का साक्ष्य जुटाना चाहा है - "यह डाक्टर भाऊदाजी का मत है कि यह मातृगुप्त

ही कालिदास हैं। मेरा अनुमान है कि यह मातृगुप्त कालिदास तो थे, परन्तु द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन, मातृगुप्त और विक्रमादित्य - ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठी शताब्दी के माने जाते हैं।"[1]

'ध्रुवस्वामिनी' और 'राज्यश्री' में भी घटनाओं का विस्तार न होने के बावजूद प्रसाद ने अपनी कल्पनाशीलता को ऐतिहासिकता के अनुरूप नियंत्रित करके इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि घोषें इतिहास स्वीकृत जान पड़ती हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार प्रसाद ने इतिहासकारों के अनुमानों की अपेक्षा अपनी कल्पना का सक्षम प्रयोग किया है। इतिहास के द्वारा छूटी हुई अतीत की कड़ियों को जोड़ने का प्रयत्न प्रसाद ने अपने नाटकों में किया है और यह उनकी सक्रिय ऐतिहासिक चेतना का द्योतक है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण की सीमाएं :-

आदर्श एक नैतिक मूल्यपरक अवधारणा है जो वास्तविक जीवन की कमियों को सामने लाती है। इतना ही नहीं कमियों को दूर करके जीवन को संपूर्ण बनाने के उपाय भी बताती है जो व्यावहारिक नहीं होते। "आदर्शवाद एक प्रकार का दृष्टिकोण है, जिसकी सहायता से संसार का मूल्यांकन किया जाता है। यह एक विवेचन-प्रणाली है।"[2]

---

1. स्कन्दगुप्त नाटक की भूमिका- प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 421.
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग - 1, सम्पादक - धीरेन्द्र वर्मा - पृ. 81.

जीवन के मूलतत्व को पहचानना और उनका जीवन्त रूप प्रस्तुत करना आदर्शवाद । इसकी धारणा के द्वारा समाज कैसा था, कैसा है या कैसा होना चाहिए की पहचान हमें मिलती है । आदर्शवाद को यथार्थवाद का विलोम भी माना गया । यथार्थवादी धारणा कहती है कि समाज की इस बुरी हालत के लिए कौन-सी परिस्थितियाँ कारण हैं और उनके समाधान के लिए व्यावहारिक रूप में क्या करना चाहिए । प्रसाद के नाटकों में आदर्शवादी धारणा की ही अधिकता मिलती है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसाद यथार्थ-चित्रण के विरुद्ध थे । वास्तव में युगों के अनुसार समाज की स्थिति कैसी रही, धर्म राजनीति का सम्बन्ध समाज में कैसा था, समाज ने कहाँ तक प्रगति की दार्शनिक भावना किस युग में कैसी थी - इन सभी का परिचय हमें उनके नाटकों में मिलता है । अत: प्रसाद को निरपेक्ष यथार्थवादी अथवा निरपेक्ष आदर्शवादी कहना संगत नहीं होगा । परन्तु यह देख पाना बहुत कठिन नहीं है कि उनकी रचना - त्मक चेतना आदर्शवाद के द्वारा अनुशासित थी ।

" आदर्शवाद की दृष्टि बौद्धिक है, किन्तु वह जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को अधिकतर महत्व देता है और इस दृष्टि से वह आध्यात्मिक है । इसकी धारणा है कि आस-पास का जो दृश्यमान जगत् है, वह किसी चेतन सत्ता की दृष्टि है । "[1]

इस तरह हम पाते है कि आदर्शवाद आत्मिक एवं आंतरिक चेतना की अभिव्यक्ति है । "आदर्शवादी साहित्यकार का विश्वास है कि मनुष्य जब तक आन्तरिक सुख प्राप्त नहीं करता, उसे वास्तविक आनन्द की

---

1. हिन्दी साहित्य कोश - भाग -1, संपादक - धीरेन्द्रवर्मा - पृ.81.

उपलब्धि नहीं हो सकती । मानव की चेतना तब तक भटकती रहेगी, जब तक वह गोचर, चिरंतन सत्य अथवा आनन्द नहीं प्राप्त कर लेता । इस प्रकार आदर्शवाद मानव जीवन की आन्तरिक व्याख्या करता है ।[1]

ऊपर से देखने से पता चलता है कि प्रसाद ने अपने नाटकों में समाज कैसा था इसका चित्रण तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक परिस्थितियों के माध्यम से किया है । इसी के अन्तर्गत तत्कालीन धार्मिक स्थिति, राजनीतिक स्थिति, नारी स्थिति, राष्ट्रीय चेतना आदि अनेक तत्व मौजूद होते हैं । किन्तु इन सबके भीतर जाने पर व्यक्ति की आत्मिकता तथा आन्तरिकता के आधार पर बाह्य परिवेश को समझने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है जो कि आदर्शवाद का स्पष्ट लक्षण है ।

प्रसाद के नाटकों में धर्म को हम व्यक्ति और मनुष्य की आन्तरिकता पर दबाव के रूप में अधिक पाते हैं -- खासकर तब जबकि धर्म स्थापित होकर जड़ बन चुका हो - पतनशील हो चला हो । ऐसी स्थिति में नये धर्म का उदय होता है । 'अजातशत्रु' में जैन-बौद्ध धर्मों के आरम्भिक रूपों का चित्रण इस प्रकार हुआ है - " वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञों और पुरोहितों के एकाधिपत्य से साधारण जनता के हृदय-क्षेत्र में विद्रोह की उत्पत्ति हो रही थी । उसी के फलस्वरूप जैन-बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ ।"[2] यह धर्म समाज के बाहर और मनुष्य के मन-हर स्थान को अपना संघर्ष क्षेत्र बनाने लगता है ।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश - भाग-1, संपादक - धीरेन्द्र वर्मा - पृ. 81.
2. अजातशत्रु - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 187.

यही धार्मिक संघर्ष सामाजिक, पारिवारिक तथा राष्ट्रीय कलहों के रूप में परिवर्तित भी हो जाता है। जब धर्म, समाज, राजनीति सभी इस कलह में आकंठ मग्न होने लगते हैं तो व्यक्ति षड्यन्त्रों और अनीति - कलाओं का बुरी तरह शिकार हो जाता है। "मेरी समझ में तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।"[1] कहनेवाली पद्मावती की बातों में मानवतावादी, आदर्शवादी धारणा का चित्रण मिलता है जो बाहरी दुनिया के व्यक्ति मन पर होनेवाले आक्रमण का क्षीण प्रतिवाद भर बनकर रह जाता है।

"गौतम का प्रभाव मगध पर से तब तक नहीं हटेगा, जब तक बिम्बिसार राजगृह से टूट न जाएगा।"[2] देवदत्त की इन बातों से धर्म और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट होता है। बौद्धमत विरोधी होने के कारण देवदत्त बौद्ध धर्मावलम्बी बिम्बिसार का विरोध करके सारे देश की स्थिति को उलट देता है।

विरोधी सामाजिक परिवेश में नारी की स्थिति कितनी बुरी होती है, इसे प्रसाद मल्लिका जैसी क्षमामूर्ति, मागन्धी और छलना जैसी उद्दण्ड स्वभाववाली और वासवी, पद्मावती जैसी कोमल स्वभाववाली नारियों के माध्यम से बड़ी कलात्मकता से दिखाते हैं। अक्सर नारी को अपने प्रेमी तथा राष्ट्र से किसी और इस तरह अपने हृदय की आकांक्षा का गला घोंटना पड़ता है।

---

1. अजातशत्रु - प्रसाद ग्रन्थावली-2 पृ. 200.
2. - वही - पृ. 203.

'चन्द्रगुप्त' में भी बौद्ध-ब्राह्मणों धर्मों के बाह्य संघर्ष का चित्रण हुआ है । नन्द से अपमानित होकर ही चाणक्य पूरे नन्द वंश का नाश कर देता है । जातिगत भेदभाव का भी प्रश्न उठाया गया है । नन्द के शूद्र होने के कारण सारी प्रजा उससे असन्तुष्ट थी । सारी राजनीतिक स्थिति को चाणक्य आसानी से बदल सका । क्योंकि उसने अपनी हार्दिक इच्छाओं को कुचल दिया था । प्रसाद के पात्रों को मनोनुकूल प्रेम कम ही मिल पाता है । उनकी नारियों के लिए प्रेम एक आदर्श ही है जिसके लिए वे बलिदान होती है । अलका देश के लिए पिता, भाई और राज्य को छोड़कर आ जाती है । मालविका और कल्याणी देश के लिए और उसके लिए लड़नेवाले चन्द्रगुप्त के लिए अपने प्राण न्योछावर कर देती हैं। कार्नेलिया भी आपदमस्तक आदर्श चरित्र है जो यवन देश की होकर भी भारत के प्रति मुग्ध भाव से आकृष्ट होती है । उसका चन्द्रगुप्त से विवाह भी अपने आप में एक आदर्श था । सारे नारी पात्रों में प्रेम, देशभक्ति, क्षमा, करुणा आदि की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है । चन्द्रगुप्त नाटक में आदर्शवादी नारी पात्रों का मानो जमघट भी ही लगाया गया है ।

स्कन्दगुप्त नाटक के अन्त में ब्राह्मण वर्ग के द्वारा बलि देते समय बौद्ध मत के द्वारा उसका विरोध और दोनों का संघर्ष, तब प्रख्यातकीर्ति के द्वारा उनको देश के प्रति लड़ने के लिए आदर्शवादी उद्बोधन करने[1] उनका इस आदर्श के लिए मिल जाने की स्थितियाँ वर्णित हैं। कुमारगुप्त के बाद पुरगुप्त और स्कन्दगुप्त के शासन समय, हूणों-शकों के आक्रमण का

---

1. "..... हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं और आततायियों को देखकर घर में घुस जाते हैं। हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते ? "... स्कन्दगुप्त - प्रसाद ग्रन्थावली -2,पृ.507.

समय था । क्षत्रिय लोगों मे ही देश प्रेम होने का उल्लेख प्रसाद ने किया है । नारी पात्रों में देवसेना, जयमाला दुर्ग पर हूणों के आक्रमण की बात सुनकर भी उनका सामना करने के लिए तैयार होती हैं । पर देवसेना की सखी विजया धनकुबेर की कन्या युद्ध को देखकर डर जाती है । देवकी, कमला करुणा के गुणवाली नारी हैं और अनन्तदेवी राज्य के प्रति मोह में पड़कर देश की बात भी भूल जाती है । जयमाला में देश भक्ति की भावना स्पष्ट दिखायी पड़ती है जो अपने देश को त्याग करने के कारण फिर उसे स्कन्दगुप्त से विवाह करना धर्मसम्मत नहीं मानती है ।

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का संभवत: सर्वाधिक यथार्थपरक नाटक है । 'ध्रुवस्वामिनी' भी गुप्तों के शासन समय का था । नारी की सक्रियता के कारण नारी मोक्ष की समस्या का समाधान यहाँ किया गया है । वर्तमान सामाजिक समस्या को ऐतिहासिक वातावरण में रखकर लिखा गया यह नाटक है, इसलिए इसमें अपेक्षाकृत यथार्थ भावना अधिक मुखरित होती है । 'राज्यश्री' हर्षकालीन आदर्शवादी नाटक है । गुप्त एवं मालवों का वर्मनों पर आक्रमण, उन पर हर्ष का विजय, राज्यश्री के चरित्र, उनकी अहिंसावादी प्रवृत्ति का चित्रण इस नाटक में मिलता है ।

चूंकि प्रसाद मूलत: कवि थे । उनकी छायावादी काव्य चेतना व्यक्ति की आन्तरिकता को बाह्य सामाजिक उथल-पुथल से अधिक महत्व देती थी । ऐसे भाववादी, व्यक्तिवादी, आनन्दवादी, स्वच्छन्दतावादी काव्य संस्कार के अनुरूप प्रसाद ने अपने नाटकों में अनेक काल्पनिक आदर्शवादी चरित्रों और प्रसंगों की अवतारणा की है । इस तरह के उनके चरित्र अपनी अति दार्शनिकता और काव्यात्मकता के कारण वास्तविक नहीं प्रतीत होते और इतिहास को कल्पना मे बदल डालते हैं । आदर्शवादी दृष्टिकोण की सीमा प्रसाद के नाटकों की ऐतिहासिकता को भी सीमित करती है ।

इतिहास का आभास देने वाले अर्ध ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक नाटक :-

अर्ध ऐतिहासिक नाटक :-

अर्ध ऐतिहासिक नाटकों में समय ऐतिहासिक रखा जाता है किन्तु प्रसंगों और पात्रों का सृजन अधिकांशतः काल्पनिक होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ऐतिहासिक पात्रों के नाम तक का उल्लेख न हो। कथानक से सम्बन्धित गौण रूप से ऐतिहासिक पात्र भी इसमें मिलते हैं। कल्याणी परिणय और विशाख प्रसाद के इसी प्रकार के नाटक हैं। प्रायश्चित नाटक इन दोनो नाटकों से थोड़ी भिन्नता रखता है। इस नाटक के पात्र ऐतिहासिक होने पर भी कथावस्तु बिल्कुल काल्पनिक है। ऐसे नाटकों को कई समीक्षक काल्पनिक स्वच्छन्द नाटक का नाम भी देते हैं।

कल्याणी परिणय :-

चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के विवाह की काल्पनिक घटना को लेकर यह नाटक लिखा गया है। इस नाटक की ऐतिहासिकता के विषय में एक समीक्षक का कहना है कि " कथा का मूल आधार ऐतिहासिक है। भारतीय दृष्टि से इसे 'ख्यातवृत्त' कहेंगे।--- कथानक की लघुता के कारण नाटकीयता नहीं आ पाई है।"[1]

---

1. प्रसाद साहित्य की समीक्षा : कैलाशनारायण अवस्थी – पृ. 152.

वस्तुत: यह नाटक चन्द्रगुप्त नाटक का आंशिक कथारूप लेकर चलता है। चन्द्रगुप्त के नंद वंश का निर्मूलन करके सम्राट बनने के बाद की घटना इसमें वर्णित है। चाणक्य अपनी कूटनीति के तहत यवनों से राजनीतिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध को स्थायी और गहरा बनाने के लिए कार्नेलिया से चन्द्रगुप्त का विवाह, सन्धि के नियमों के अनुसार, करवा देता है। इस विवाह की घटना के इतिहासपरक तथ्य नहीं होने पर भी कई अन्य बातें, जैसे सिल्यूकस का युद्ध में हार जाना, चन्द्र-गुप्त के साथ सन्धि करना और सिल्यूकस के सीरिया युद्ध में चन्द्रगुप्त के द्वारा सहायता पहुँचाना आदि ऐतिहासिक तथ्य ही हैं। चाणक्य का इन्दुशर्मा को यवन शिविर में भेजना भी इतिहास सम्मत है। नाटकीय घटनाओं का अपेक्षित विस्तार नहीं होने के कारण नाटक बहुत जम नहीं पाया है।

इस नाटक की ऐतिहासिकता इस बात से बाधित होती है कि इसके प्रमुख चरित्र कार्नेलिया को ही ऐतिहासिक प्रामाणिकता मिलनी कठिन है। सिल्यूकस की पुत्री के लिए ऐतिहासिक किंवदन्ती के रूप में एलिस, कार्नेलिया जैसे अनेक नाम लिये जाते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में एलिस को कार्नेलिया की सखी के रूप में बताया गया है। वह यवन कन्या होकर भी भारत भूमि के प्रति अपनी मातृभूमि से भी अधिक श्रद्धा और ममता दिखाती है। वह स्वयं सदा युद्ध के लिए तत्पर अपने देश की आलोचना करती हुई कहती है - " इस शस्यश्यामला धरा को रक्तरंजित करनेवाले हिंस्र पशु नहीं तो क्या है? ये बर्बर पशु ग्रीक-सैनिक महामारी की तरह देश का नाश कर रहे हैं। भारत की पवित्र भूमि केवल हत्या,

लूट, रक्त और युद्ध से बीभत्स बनायी जा रही है। ... मुझे इस भूमि से जन्मभूमि का सा प्रेम होता जा रहा है।"[1]

चन्द्रगुप्त और चाणक्य को हमेशा देश के लिए लड़ते ही चित्रण किया गया है। कल्याणी परिणय जैसा लघु नाटक किस उद्देश्य से प्रसाद ने लिखा है, कहना कठिन है। शायद इसको लिखते समय चन्द्रगुप्त नाटक मस्तिष्क में आकार ले रहा होगा। इसलिए कल्याणी परिणय को अगर कोई 'चन्द्रगुप्त' नाटक के लघु-प्रारूप के रूप में देखना चाहे तो कोई बहुत अनुचित बात नहीं होगी।

<u>विशाख :-</u>

'विशाख' नाटक का कथा समय मौर्य शासन के बाद (पहली शताब्दी से आरंभ) माना गया है। यह नाटक 'राजतरंगिणी' के एक अंश को आधार बनाकर लिखा गया है। इसकी प्रामाणिकता प्रस्तुत करते हुए प्रसाद ने 'विशाख' की भूमिका में लिखा है - "संस्कृत-साहित्य में इतिहास नाम से लब्ध-प्रतिष्ठ केवल राजतरंगिणी नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। .... यह नाटक राजतरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर अवलम्बित है जिसका समय निर्धारण करना एक कठिन और इस नाटक से स्वतन्त्र विषय होगा।"[2]

वैसे स्वयं राजतरंगिणी की प्रामाणिकता पर भी कुछ आलोचक सन्देह व्यक्त करते हैं। इस संदर्भ में रमेश गौतम का कहना है - "आलोचकों ने नाटक के ऐतिहासिक-स्रोत की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट करते हुए पात्रों,

---

1. कल्याणी परिणय - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 69.
2. विशाख की भूमिका, प्रसाद ग्रन्थावली - पृ. 138.

घटनाओं तथा परिपेक्ष्य आदि तत्वों में ऐतिहासिक विश्वसनीयता का अभाव माना है। वैसे तो 'विशाख' नाटक के आधार ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' की ऐतिहासिक प्रामाणिकता भी संदिग्ध है, फिर भी पात्र और घटनाओं की ऐतिहासिक प्रामाणिक दृष्टि को नजर अन्दाज करके सुदूरकालीन अतीत की पारिपेक्षिक ऐतिहासिकता को तो सत्य माना ही जा सकता है जिसे प्रसाद ने राजा की निरंकुश वृत्ति और बौद्ध धर्म की पतनोन्मुख अवस्था में मूर्तिमान करने की चेष्टा की है।"[1]

इस नाटक का एक मुख्य चरित्र राजा नरदेव है। उसके शासनकाल का निर्धारण करते हुए प्रसाद ने लिखा है - "राजतरंगिणी के मत से इस नाटक के प्रधान पात्र नरदेव का राज-काल वि॰पू॰ 970 है। उसमें 57 वर्ष जोड़ देने से 1027 ई॰पू॰ समय निकलता है। वह काल्पनिक 1100 वर्ष का काल घटा देने से यह घटना ईसा की पहली शताब्दी की प्रतीत होती है। या, इसके एक या आधी शताब्दी और पीछे की हो सकती है।"[2]

केवल नरदेव ही नहीं, इस नाटक के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक ही कहे गये हैं। स्वयं प्रसाद ने इस नाटक के काल्पनिक पात्रों का उल्लेख करते हुए 'भूमिका' में लिखा है - "पात्रों में प्रेमानन्द और महापिंगल आदि दो-एक कल्पित हैं, जो मुख्य काल के विरुद्ध नहीं।"[3] फिर भी 'विशाख' में इतिहास का आभास मात्र ही नजर आता है। ऐतिहासिक वातावरण खड़ा करने के लिए आवश्यक तत्वों का पूरा उपयोग नाटककार

1· प्रसाद के नाटक - युग साक्ष्य : रमेश गौतम - पृ॰ 30·
2· विशाख की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ॰ 139·
3· - वही - पृ॰ 139·

नहीं कर पाया है। इस नाटक को एक प्रेमकथा के रूप में देखते हुए नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है - "'विशाख' एक प्रेम-कथा को नाटक का स्वरूप देने का प्रयत्न है। यदि हमें ज्ञात न होता कि इसका कथानक प्राचीन इतिहास से लिया गया है, तो कदाचित् हम इसकी ऐतिहासिकता का ध्यान भी न कर पाते।"[1] लेकिन कुछ समीक्षक इस प्रेम कथा में ऐतिहासिक वातावरण की उपस्थिति तीव्रता से महसूस करते हैं। दशरथ ओझा की शब्दावली में "ऐसी प्रेमकथाएं, जिनके केन्द्र बौद्ध-विहार हों और जिनमें राजनीतिक क्रान्ति, धार्मिक आन्दोलन और सामाजिक क्रन्दन दिखाई पड़े, प्राचीन इतिहास में कठिनाई से प्राप्त होती हैं। प्रसाद यदि किसी सामान्य कल्पित कथानक को लेकर इस प्रकार नाटक लिखते तो उसमें इतिहास की पावनता और अतीत की गंभीरता कैसे आती।"[2]

राजतरंगिणी के अनुसार राजा नरदेव चन्द्रलेखा के प्रति आकर्षित होता है और बलपूर्वक उसे प्राप्त करना चाहता है। यह जानकर चन्द्रलेखा पति के साथ नागपुर चली जाती है। प्रतिशोध स्वरूप चन्द्रलेखा का पिता नाग-सरदार सुश्रवा अपनी बहन रमण्या के साथ नरदेव के विरुद्ध विद्रोह कर देता है। इस युद्ध में नरदेव मारा जाता है।

लेकिन प्रसाद ने नाटक में राजतरंगिणी की इस कथा को परिवर्तित कर दिया है। नरदेव चन्द्रलेखा के प्रति आकर्षित होता है। इसी कारण चन्द्रलेखा और उसके पति विशाख को बिना कारण ही बन्दी बना लेता है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - नन्ददुलारे वाजपेयी - पृ. 150.
2. प्रसाद के नाटक - युग साक्ष्य - रमेश गौतम - पृ. 33.

इससे क्रोधित होकर नागजाति उससे विद्रोह करती है । अन्त में नरदेव के मन में परिवर्तन दिखाकर बौद्ध धर्म के प्रति अपनी आस्था प्रसाद ने व्यक्त की है ।

अशोक के समय में बौद्ध धर्म उच्च स्थान पर था । धीरे-धीरे उसका ह्रास होने लगा । नरदेव के समय में बौद्ध धर्म की विलासिता पर व्यंग्य करते हुए प्रसाद ने महापिंगल के शब्दों में कहा है - " अब तो मैं तपस्या करूँगा कि यदि पुनर्जन्म हो, तो मैं किसी विहार का महन्त होऊं । राजा-कर से मुक्ति, अच्छी खासी जमींदारी, बड़े-बड़े लोग सिर झुकावें और चेलो लोग पैर दबावें, तुम्हारे नाम जो है सो ।"[1]

बौद्ध विहारों का राजा नरदेव के द्वारा जलाया जाना भी कल्हण-कथित इतिहास सम्मत है । इसका उल्लेख करते हुए रमेशगौतम ने लिखा है - " उपजीव्य ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में नरदेव के संबंध में इस ऐतिहासिक तथ्य का संधान मिलता है कि किन्नर ग्राम का बौद्ध श्रमण उसकी रानी को अपने योगबल से कुपथ पर ले गया, जिससे अत्यधिक क्रोधित होकर नरदेव ने सभी बौद्ध विहारो को जलवा दिया और उसकी सारी भूमि ब्राह्मणों को दे दी :..... "[2]

इस प्रकार का उल्लेख 'राजतरंगिणी' में 199-200 संख्यक श्लोकों में किया गया है । पर प्रसाद ने अपने नाटक में बौद्ध विहारों को जलाने के पीछे चन्द्रलेखा को रखकर कथा में किंचित नाटकीयता भरने का प्रयत्न

---

1. विशाख प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 150.
2. प्रसाद के नाटक - युग साक्ष्य - रमेश गौतम - पृ. 30-31.

किया है। इसी पर डा॰सिद्धनाथ कुमार का कहना है - "प्रसाद का यह पहला नाटक है जिसकी घटनाएँ अन्तिम परिणति को ध्यान में रखकर सुसम्बद्ध रूप मे विकसित हुई हैं। 'विशाख' प्रेम की विजय, प्रमाद की पराजय और असत्‌व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन का नाटक है।"[1]

धर्म के तत्कालीन भीषण रूप का चित्रण करते हुए विशाख कहता है -- "-इसी को तो आजकल धर्म कहते हैं। ... वे नहीं जानते कि दूसरों का गला काटकर कोई धर्मशाला, मठ या मन्दिर बना देने से ही उसका पाप नहीं धुल जाता है।"[2]

आदर्शवादी धारणा का भी रूप इसमें मिलता है। यदि राज्य को सुखी करना है, तो राजा को सुशासक होना पड़ता है। ऐसा उपदेश देते हुए प्रेमानन्द राजा से कहता है -- "राजन्, सत्ता का अपव्यय न करो। सत्ता शक्तिमानों को निर्बलों की रक्षा के लिए मिली है, औरों को डराने के लिए नहीं। प्रजा के पाप का फल या परिणाम ही न्याय है। तब, राजा को और पाप करके पाप नहीं दबाना चाहिए। न्याय के दोनों ही आदेश हैं, दण्ड और दया। इसलिए शासक के आचरण ऐसे होने चाहिए जिससे प्रजा को उत्तम आदर्श मिले, प्रजा मे दया आदि सद्गुणों का प्रचार हो।"[3]

'विशाख' जैसे नाटक की कल्पना प्रसाद के मन मे किस प्रकार आयी होगी ? इसका अनुमान लगाते हुए श्री विनोदशंकर व्यास का कहना है -

---

1• प्रसाद के नाटक - युग साक्ष्य - रमेश गौतम - पृ• 30-31

2• विशाख - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ• 143•

3• - वही - पृ• 156•

"सारनाथ से प्राप्त बुद्ध की भव्य मूर्ति का "प्रसाद" पर अपूर्व प्रभाव पड़ा था। वहाँ के भग्नावशेषों को वे घण्टों देखकर विचारमग्न होते। भगवान तथागत के मुख की करुणा की महत्ता समझाने और बौद्ध विहारों के धाराशायी होने के कारणों का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने विशाख की रचना की।"[1]

यह सत्य हो सकता है। क्योंकि उनके अधिकांश नाटकों में बौद्ध धर्म के प्रति आस्था के किसी न किसी अंश का चित्रण मिलता ही है। 'विशाख' को प्रेमकथा के रूप में देखना क्या उचित है? रमेश गौतम ने तो इस नाटक में क्रान्ति के बीज के दर्शन किये हैं। रमेश गौतम कहते हैं — "मेरा मन यह मानता है कि 'विशाख' एक प्रेम-कथा नहीं, जैसा कि कई आलोचकों ने लिखा है, अपितु अन्यायपूर्ण शासन के खिलाफ जन शक्ति की विजय का प्रदर्शन है।"[2] अगर राजतरंगिणी की उक्त कथा को ऐतिहासिक माना जाय तो विशाख को भी ऐतिहासिक मानना चाहिए।

प्रायश्चित :-

यह एक ऐतिहासिक किंवदन्ती पर आधारित होकर लिखा गया नाटक है। किंवदन्तियाँ ऐतिहासिक तथ्य नहीं होती। इस सम्बन्ध में जगदीशचन्द्र जोशी का कहना है - "किंवदंतियाँ प्रसिद्ध घटनाओं और व्यक्तियों के साथ जुड़ती चली जाती हैं और प्रत्येक पीढ़ी अपने ऐतिहासिक व्यक्तियों को महत्त्व देने के लिए अज्ञात रूप से ऐसा करती जाती है।"[3]

---

1. प्रसाद और उनका साहित्य - विनोदशंकर व्यास - पृ. 129.
2. प्रसाद के नाटक - युग साक्ष्य - रमेश गौतम, - पृ. 33.
3. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन - जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. 34.

किंवदंतियाँ ऐतिहासिक नहीं होने पर भी आगे चलकर प्रामाणिकता का एक साधन बन जाती हैं। ऐसी किंवदन्तियोंवाली कथावस्तु का वातावरण ऐतिहासिक ही प्रतीत होता है। जोशी जी लिखते हैं -- "इतिहास चाहे उन किंवदंतियों को स्वीकार करे अथवा न करे उनके पात्रों को अवश्य स्वीकार करता है। इस प्रकार के नाटकों में भी वातावरण पूर्णतया ऐतिहासिक स्वीकार किया गया।"[1]

इस नाटक में पृथ्वीराज, जयचन्द्र और मुहम्मद गोरी जैसे पात्र ऐतिहासिक ही हैं। पृथ्वीराज और जयचन्द्र के बीच की शत्रुता भी इतिहाससम्मत है। लेकिन संयोगिता और पृथ्वीराज के स्वयंवर को कल्पना की बात बताते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखा है -- "संयोगिता का स्वयंवर विशुद्ध कवि-कल्पना। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी प्रामाणिकता पर कई बार सन्देह प्रकट किया गया है। जयचन्द्र की किसी पुत्री से पृथ्वीराज का विवाह हुआ था या नहीं, संदिग्ध ही है।"[2]

यदि संयोगिता - पृथ्वीराज स्वयंवर की घटना कल्पना है तो पूरा यह नाटक ही कल्पना प्रसूत हो जाता है। जयचन्द्र का पृथ्वीराज को युद्ध में मारना, संयोगिता का सती हो जाना, इससे पश्चात्ताप जयचन्द्र का आत्महत्या कर लेना आदि काल्पनिक घटनाएँ हैं। जयचन्द्र और पृथ्वीराज के बीच के विरोध का चित्रण करते हुए प्रसाद ने अपने नाटक में लिखा है - "देखो जब दिल्लीराज ने इस पृथ्वीराज को अपना महाराज्य समर्पित किया था, उसी समय मेरे हृदय-वन में एक विषवृक्ष का बीज, बड़े

---

1. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन - जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. 34.
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी - पृ. 87.

विषैले कांटे से छीदकर गाड़ा गया । अब उस वृक्ष को उखाड़कर क्या उसका सुख न भोग सकूँगा ? "[1]

इस नाटक में भारतीय नाट्य परम्परा का अनुसरण हुआ है । नाटक के आरम्भ में विद्याधरियों का आना, आकाशवाणी होना, आदि नाट्यपरम्परा के अनुकूल हैं । नाटक में इतिहास और कल्पना का ऐसा मिश्रित रूप मिलता है कि इसे ऐतिहासिक नाटक का कहना कठिन जान पड़ता है । श्री कैलाश अवस्थी के अनुसार - "वस्तु में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है । अतः इसे मिश्र कथावस्तु कहा जाता है ।"[2]

चरित्र-चित्रण के धरातल पर भी कहा जाता है -- "पाश्चात्य त्रासदी नायक की भाँति जयचन्द्र के जीवन को संघर्षरत दिखाया गया है । कथानक की लघुता और 'सूक्ष्म' घटनाओं के कारण पात्रों का चारित्रिक विकास कम हो पाया है ।"[3]

इस कथानक की ऐतिहासिकता को 'पृथ्वीराज रासो' के आधार पर प्रामाणिक करते हुए यज्ञदत्त शर्मा लिखते हैं - "'पृथ्वीराजरासो' के सब पात्रों में ऐतिहासिकता खोजना भी उचित नहीं है । लोक-कथाओं के आधार पर जिस प्रकार की रचनाएँ लिखने का उस समय प्रचलन था । उनमें काल्पनिक, पात्रों विवाहों और घटनाओं का उल्लेख कवि द्वारा किया जाना सम्भव था, इनके आधार पर इस ग्रन्थ को इतिहास-विरुद्ध कहकर

---

1. प्रायश्चित्त प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 56.
2. प्रसाद साहित्य की समीक्षा - कैलाशनारायण अवस्थी - पृ. 155.
3. - वही - 155

अप्रामाणिक कहना कोई सार्थकता नहीं रखता ।"[1] जिस प्रकार पृथ्वीराज-रासो में इतिहास और कल्पना का मेल हुआ है उसी तरह, पृथ्वीराज रासो को उपजीव्य बनाने के कारण भी, 'प्रायश्चित' नाटक में मानो कल्पना के आधार पर इतिहास को देखने की कोशिश हुई है । मध्ययुगीन इतिहास के समय की घटनाओं का चित्रण करके प्रसाद ने इस नाटक के द्वारा राष्ट्रीयता को जगाने का प्रयत्न किया है - यह इस नाटक से जाहिर होता है ।

काल्पनिक वस्तुवाले प्रतीक नाटक (कामना) :-

इस प्रकार के नाटकों की कथावस्तु और पात्र दोनों काल्पनिक होते हैं । इनमें किसी इतिहास-द्वारा निर्धारित राजा या उनके शासन का चित्रण नहीं होता । लेकिन काल्पनिक कथावस्तु का भी एक अनुमानित समय और परिवेश लेखक और पाठक के मस्तिष्क में उभरता अवश्य है । ऐसे काल्पनिक नाटकों में ऐतिहासिक रूप से अतीत में घटित निश्चित घटनाओं का चित्रण करना नाटककार का उद्देश्य नहीं होता । इसके बावजूद रचना ऐतिहासिक चेतना से विहीन नहीं होती क्योंकि मानव के निरन्तर विकास को युग की सापेक्षता में रखकर, उसमें कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करते हुए समझना ही ऐतिहासिक चेतना कहलाती है । ऐसे अनुमानपरक काल्पनिक नाटकों से भी अतीत के विकासमान समाज का रूप हमारे सामने आता है । प्रसाद के 'कामना' नाटक की ऐतिहासिक चेतना को स्पष्ट करने के लिए इतिहास की इस धारणा को लेकर आगे चलना आवश्यक है ।

---

1. प्राचीन हिन्दी साहित्य - यज्ञदत्त शर्मा - पृ. 581.

स्व॰ दामोदर धर्मानंद कोशाम्बी ने 'इतिहास' की नयी परिभाषा देते हुए लिखा है "उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों में होनेवाले क्रमिक परिवर्तनों का कालक्रम से प्रस्तुत किया गया विवरण ही इतिहास है। इस परिभाषा का लाभ यह है कि ऐतिहासिक घटनाओं के सिलसिले को प्रस्तुत किये बिना ही इतिहास लिखा जा सकता है।"[1] श्री कोशाम्बी का इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण तर्कसंगत और वास्तविक होते हुए भी यह कहना कठिन है कि प्रसाद इससे कहाँ तक सहमत होते। फिर भी एक संवेदनशील रचनाकार के रूप में प्रसाद ने जिस प्रतीक नाटक कामना की रचना की है उसमें मानव सभ्यता के विकास की मंजिलों को सांकेतिक व्याख्या मिल जाती है। यह जयशंकर प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना की प्रखरता का मानो एक और प्रमाण है। सभ्यता विकास की मार्क्सवादी व्याख्या से प्रसाद कितने परिचित थे, यह तो हमें नहीं मालूम, पर कामना के द्वारा प्रसाद धर्मतंत्र की बुराइयों पर जिस ढंग से प्रहार करते हैं उससे पूँजीवाद पर मार्क्सवादी प्रहारों की याद आना स्वाभाविक है। कामना के नाटककार के विचारों पर मार्क्सवादी प्रभाव आरोपित करना आवश्यक नहीं है क्योंकि सादा जीवन उच्च विचार, सन्तुष्ट जीवन सुखी जीवन की भारतीय जीवन-दृष्टि का कथन प्रसाद ने कामना में किया है। प्रतीकों के माध्यम से प्रसाद ने बदलती हुई सामाजिक स्थिति और उसके अनुरूप मनुष्य के परिवर्तित मनोगत विचारों को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। ये प्रतीक हैं क्या? इनके माध्यम से प्रसाद ने किस प्रकार कामना में मानव सभ्यता के विकास को व्यक्त किया है, इसे संक्षेप में देखना उचित होगा।

1· प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता – एक ऐतिहासिक रूपरेखा डि॰डि॰ कोशाम्बी – पृ॰ 12·

प्रतीक :-

प्रतीक (Symbol)[1] शब्द का प्रयोग किसी अगोचर वस्तु को बतानेवाली गोचर माध्यम वस्तु के लिए किया जाता है । प्रतीक शब्द की परिभाषा करने की कोशिश हिन्दी साहित्य कोश में इस प्रकार की गयी है — " ... किसी अन्य स्तर की समानरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है । अमूर्त, अदृश्य अश्रव्य अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है । जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है ।"[2] इस तरह से प्रतीक विषय, व्यक्ति, घटना, क्रिया आदि की पहचान बतानेवाले शब्दों और चिह्नों को कहते हैं ।

रूपक या प्रतीक के माध्यम से किसी विषय आदि का प्रतिनिधित्व कराना ही रचना को प्रतीकात्मक बनाता है । इस प्रतीकात्मकता के अन्तर्गत पात्र अपना स्वतंत्र निजी व्यक्तित्व खोकर किसी और वस्तु का गुण व्यक्त करने लगता है । अत: प्रतीकात्मक रचना वह है " जिसमें पात्र तो यथार्थ मानव होते हैं और घटनाएँ भी स्वाभाविक होती हैं परन्तु उसका समग्र प्रभाव गूढार्थव्यंजक और सांकेतिक होता है ।"[3]

---

1. The word symbol comes from the Greek symbolon, which means contract, token insignia and a means of identification. - Encyclopedia Britania, Vol.17. P.900

2. हिन्दी साहित्य कोश - धीरेन्द्र वर्मा - पृ. 398.

3. - वही - पृ. 729.

सामान्यत: कोई भौतिक वस्तु जो किसी अभौतिक या अमूर्त वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है, वही प्रतीक कहलाती है । इस प्रतीक शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डा॰प्रभात का कहना है - "हिन्दी का 'प्रतीक' शब्द रूप से तो शुद्ध संस्कृत-परंपरा का है, पर इसका मन [अर्थ] यूरोपीय परंपरा से विशेष जुड़ा हुआ है । "[1] प्रतीक और कला तथा कविता का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है । ऋग्वेद में भी प्रतीक शब्द मिलता है - "वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीक मध्ये अग्नि ।"

"'कला का उदय प्रतीक के साथ हुआ' " यह हीगेल का मत था । उनके अनुसार प्रतीक के चरित्र में ही कुछ ऐसा तत्त्व है, जो उसे कलात्मक बना देता है, इसलिए प्रतीक कला के उद्भव की पहली और प्राचीनतम पहचान है ।"[2]

प्रसिद्ध आलोचक रामचन्द्रशुक्ल का कहना है - "किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन मे आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारों को या भावनाओं को जागृत कर देती है; ... "[3]

डॉ॰नगेन्द्र साहित्यिक प्रतीक के विषय में कहते हैं, "प्रतीक एक प्रकार से रूढ़ उपमान का ही दूसरा नाम है, जब उपमान स्वतन्त्र न रह

1· प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य - मूल्य, प्रभात - पृ॰ 3·
2· - वही - पृ॰ 14·
3· चिन्तामणि - भाग-2 रामचन्द्र शुक्ल - पृ॰ 87·

कर पदार्थ विशेष के लिए रूढ़ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है । "[1]

डॉ॰कुमार विमल के अनुसार " सम्पूर्ण अर्थ सौन्दर्य व्यंजित करने की शक्ति अर्जित कर लेनेवाला कोई अप्रस्तुत या शब्द प्रतीक है ।"[2]

साधारणतया प्रतीक के साथ बिम्ब, चिह्न आदि शब्दों का प्रयोग भी होता है, लेकिन इनमें बड़ा अन्तर है । चिह्न, बिम्ब प्रतीक के प्रारंभिक रूप कहे जा सकते हैं । जिस तरह से इनका सृजन हो सकता है, उस तरह से प्रतीक का नहीं । बिम्ब ही आगे चलकर प्रतीक बन सकते हैं । ये प्रतीक मन से सम्बन्ध रखते हैं । कभी-कभी एक ही प्रतीक अनेक अर्थों में भी प्रयुक्त होता है । ये प्रतीक धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, मनोविज्ञान आदि के क्षेत्रों में बहुलता से पाये जाते हैं और प्रयुक्त होते हैं। व्यावहारिक जीवन में भी ये प्रतीक हमारे सामने आते हैं । कलात्मक दृष्टि से प्रतीक भावात्मक होते हैं तो धार्मिक दृष्टि से सम्बन्धित प्रतीक आस्था और निष्ठा से सम्बन्ध रखते हैं । दर्शन के प्रतीक विचार पर अधिक बल देते हैं ।

प्रतीक के भी अनेक रूप होने का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है — " कुछ तो मनोविकारों या भावों को जगाते हैं ﴾इमोशनल सिंबल्स﴿ और कुछ भावनाओं या विचारों को ﴾इंटलेक्चुयल सिंबल्स﴿ ।

1· काव्य बिम्ब, नगेन्द्र - पृ· 78·

2· सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, कुमार विमल - पृ· 256·

भावना या कल्पना जगानेवाले प्रतीकों के साथ भाव या मनोविकार भी प्राय: लगे रहते हैं।"[1]

भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थितियाँ और संस्कृति के अनुसार ये प्रतीक भी बदलते आते हैं। इस प्रकार प्रतीक का स्वत: कोई शाश्वत, स्वतंत्र अर्थ नहीं रहता। वह और अन्य किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है।

प्रसाद ने प्रतीकों के माध्यम से ही 'कामना' नाटक का सृजन किया है। इस नाटक में प्रतीक दो प्रकार के हैं। एक तरह के प्रतीक मनोविकारों को प्रतिबिम्बित करते हैं तो दूसरी तरह के प्रतीक परिवर्तनशील मानव सभ्यता को प्रतिबिम्बित करते हैं। शुक्ल जी के कहे अनुसार emotional symbols और Intellectual symbols दोनों का प्रयोग प्रस्तुत नाटक में हुआ है।

मनोवैज्ञानिक प्रतीकों की अभिव्यक्ति :-

'कामना' नाटक के पात्र हैं सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्तिदेव, दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर, कामना, लीला, लालसा, करुणा, प्रमदा, कनलक्ष्मी, महत्त्वाकांक्षा। अर्थात् सूक्ष्म भावों और मनोभावों को यहाँ मनुष्यों का रूप प्रदान किया गया है, पर इनके चरित्रों में उनके भावों के गुण ही चित्रित हुए हैं। मनोविकारों की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'कामना' मन में उठने वाली प्रथम लहर है जिसके साथ सारे अन्य मनो -

---

1. चिन्तामणि - भाग - 2, रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 87.

भावों का उदय होता है । इसी कामना के कारण मनमें कभी विनोद उत्पन्न होता है और वह विलासमय जीवन चाहता है । कामना को प्राप्त करने को 'लीला' में पड़कर व्यक्ति दम्भ, क्रूर आदि दुर्भावनाओं का शिकार हो जाता है जिसके कारण शान्ति खो जाती है । तब जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है । मन में कामना रूपी एक महत्वकांक्षा उठने से सारा जीवन उथल-पुथल से भर जाता है । अतः जीवन में विवेक से काम लेना पड़ता है । इस प्रकार सारे मनोविकारों का सृजन कर प्रसाद मनुष्य जीवन की ओर संकेत करते हैं । इस सन्दर्भ में उर्मिलादेवी शर्मा का कहना है - "यह एक प्रतीक नाटक है जिसमें मानवीय भावनाओं को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है । मनः प्रवृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व और मानव सभ्यता के प्रारम्भिक सरल जीवन पर नई सभ्यता के आघात प्रतिघात का चित्रण है ।"[1]

भावनामय प्रतीकों के माध्यम से मानव सभ्यता के विकास का चित्रण :-

कहा जाता है कि मानव सभ्यता के आदिकाल, जिसे मार्क्स ने आदिम साम्यवाद कहा था, में किसी भी प्रकार का कोई भेद, ऊँच-नीच आदि का भाव नहीं था । सब समान थे । "परिपूर्णता की एक पूर्वकालिक अवस्था से मानव का पतन हुआ है, इस मान्यता के आख्यान कई देशों और कौमों की पुराणकथाओं में देखने को मिलते हैं, भारत में भी। आधुनिक हिन्दू वर्तमान को मानव जाति का कलियुग कहते हैं ।"[2] प्रसाद के नाटक कामना में भी सुख-शांति से परिपूर्ण मानव समाज का वर्णन हुआ है जहाँ

---

1. प्रसाद साहित्य और समीक्षा - उर्मिलादेवी शर्मा - पृ. 52.
2. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, डि.डि. कोशाम्बी - पृ. 33.

सब अपने को भगवान का वंशज मानते हैं और आपस में हिल मिलकर रहते हैं। अपने-पराये आदि का ज्ञान उन्हें नहीं है। फूलों के इस द्वीप में सब लोग हँसते-खेलते फूलों के समान ही विचित्र हुए हैं। सभ्यता के आरंभ में पहले मातृ-सत्ताक व्यवस्था थी। इसी के अनुसार 'कामना' उस द्वीप के उपासना-गृह की मालकिन समझी जाती है। समाज की सारी सम्पत्ति पर सभी का अधिकार था और वे समान रूप से उसका उपभोग कर सकते थे। खेती करना, चरखा कातना उनके सामूहिक काम थे। आदिम मानव-समाज का विवेचन करते हुए डा॰रामविलास शर्मा ने लिखा है - "सभ्यता से पहले मानव-समाज की यह विशेषता है कि उत्पादन-खाने-पहनने की चीजों का उत्पादन-मुख्यत: सामूहिक है। खरचने का काम यानी उन वस्तुओं का उपभोग का काम सीधे-सीधे वितरण से हो जाता है। इसके विपरीत सभ्यता समाज की वह अवस्था है जिसमें सामूहिक श्रम के बदले श्रम का विभाजन हो चुका है, सीधे वितरण के बदले परस्पर विनिमय होता है।"[1]

इस प्रकार के आदिम समाज में जहाँ कि श्रम और सम्पत्ति का वितरण हुआ करता था, प्रसाद के 'कामना' नाटक में संकेतित है। इस बात का संकेत विनोद के शब्दों में मिलता है - "अपने खेतों में बहुत अच्छी उन्नति है। अन्न बहुत बच रहेगा। उन लोगों की आवश्यकता होगी, तो दूँगा।"[2] यहाँ विनिमय की बात नहीं कही गयी है, यह द्रष्टव्य है।

1· मानव सभ्यता का विकास - रामविलास शर्मा - पृ॰ 14·
2· 'कामना' प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ॰ 346·

प्रसाद कामना में सामूहिक जीवन वाले समाज का संक्रमण सभ्यता वाले समाज में होते हुए दिखाते हैं । लेकिन यह संक्रमण चुपचाप और आसानी से नहीं होता बल्कि सामूहिकता वाले समाज और 'सभ्य' समाज की टकराहट होती है और तब वहाँ परिवर्तन सामने आता है । आदिम सामूहिकता वाला समाज प्राकृतिक परिवेश की पूरी समरसता में था, ऐसा प्रसाद बताते हैं । ऐसा लगता है कि वहाँ सब कुछ अच्छा ही अच्छा था, बुरा कुछ नहीं था । सन्तोष की बातों में यही धारणा व्यक्त होती है - "ये हरे-भरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों से ढुलकते - मचलते हुए झरने, फूलों से लदे हुए वृक्षों की पंक्ति, भोली गउओं और उनके प्यारे बच्चों के झुण्ड; इस ग्रीहड, पागल और कुछ न समझने वाले उन्मत्त समुद्र में कहाँ मिलेंगे । ऐसी धवल धूप, ऐसी तारों से जग-मगाती रात कहाँ होगी ?"[1] यहाँ से तात्पर्य 'सभ्यता' वाले समाज से है जहाँ बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं । पहला समाज भारतीय तथा दूसरा समाज पाश्चात्य है इस प्रकार से दोनों समाजों का प्रतीक के रूप में चित्रण करके प्रसाद ने इन दोनों समाजों की तुलना की है । प्रसाद का सामूहिकतावाले समाज को अच्छा ही अच्छा बताना उनका आदर्शवाद और शुभेच्छा अधिक है, वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का परिणाम नहीं कहा जा सकता । लेकिन धनतंत्र की आलोचना में प्रसाद अवश्य ही यहाँ सफल हुए हैं, संतोष जैसे भारतीय जीवन-मूल्य को प्रसाद अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे । व्यक्ति जब अपने परिवेश से असंतुष्ट होता है, तभी उसके जीवन में बेचैनी और हलचल पैदा हो जाती है । कामना अपने संतुष्ट पर एकरस जीवन के प्रति ऊब और निराशा अनुभव करती है और कुछ नया पाने की लालसा उसके मन में उत्पन्न होती है। वह अपनी इस असंतुष्ट मनःस्थिति में सोचती है -

---

1. कामना - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 347.

"मैं क्या चाहती हूँ ? जो कुछ प्राप्त है, इससे भी महान् । वह चाहे कोई वस्तु हो । हृदय को कोई कचोट रहा है । कुछ आकांक्षा है; पर क्या है ? इसका किसी को विवरण देना नहीं चाहती ।"[1]

कामना के भीतर इसी अतृप्त आकांक्षा का उदय होता है । दूसरी तरफ से विलास आ जाता है जिसके कारण उसका पूरा जीवन कल्लोलित हो उठता है । अर्थात् व्यक्ति में जब स्वार्थ की भावना जागृत होती है, तब वह केवल अपने बारे में सोचने लगता है और निजी रूप में सब कुछ को अपनाना चाहता है । इससे पूरे समाज में स्वार्थ-पूर्ण परिवर्तन आ जाता है । जब से विलास का आगमन उस द्वीप में हुआ तब से सारे द्वीप में विचित्र ढंग की हलचल मच गयी । विलास अपनी स्वार्थवृत्ति से प्रेरित होकर इस द्वीप के शान्तिमय वातावरण को नष्ट करने की प्रतिज्ञा ही कर लेता है ।

वन्य और बर्बर अवस्था का भेद बतलाते हुए एंगेल्स की धारणा को व्यक्त करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "वन्य अवस्था में मनुष्य प्रकृति की दी हुई वस्तुओं का ही उपयोग करता था; जो चीजें वह खुद बनाता था, वे मुख्यतः प्रकृति की वस्तुओं को पाने का साधन थीं । बर्बर अवस्था में उसने पशु-पालन और खेती करना सीखा और मानवश्रम द्वारा प्रकृति की उत्पादकता बढ़ाने के उपाय सीखे ।"[2]

---

1. कामना - प्रसाद ग्रंथावली - 2, पृ. 348.
2. मानव सभ्यता का विकास - रामविलास शर्मा - पृ. 20.

इसी प्रकार की सामाजिक स्थिति का चित्रण प्रसाद ने कामना नाटक में किया है । विलास इस प्रकार की शांतिमय स्थिति को देखकर चकित होता है -- " कैसी प्रकृति से मिली हुई यह जाति है ! महत्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है । जैसे शैल-निवासिनी सरिता पथ के विषम ढोकों को, विघ्न-बाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति से कटकती हुई बहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति, जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई, अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती है । "1

' कामना ' में प्रसाद का उद्देश्य मानव सभ्यता का विकास दिखाना नहीं था । वे दो भिन्न जीवन मूल्यों की टकराहट दिखाते है जिसमें अक्सर वर्तमान झलक जाता है । जिस प्रकार हमारे देश में व्यापार निमित्त आकर विदेशी अंग्रेज पूरे देश पर कब्जा कर बैठे थे, उसी प्रकार के विचार विलास के मन में भी व्यक्त होते हैं । वह सोचता है - " ऐसी सीधी जाति पर भी यदि शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या ? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा । जान पड़ता है कि किसी गुप्त संकेत पर ये लोग प्राचीन प्रथा के अनुसार, केवल उपासना के लिए किसी के नेतृत्व का अनुसरण करते हैं । "2

अत: इस प्रकार के मानव समाज मे स्वार्थ बुद्धि के कारण धीरे-धीरे पतन मूलक परिवर्तन हो गया । समाज में वर्ग-भेद के उत्पन्न होने का उल्लेख रामविलास शर्मा ने इस प्रकार दिया है - " वैदिक युग के भूमि और पशुओं

1· कामना - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 352·

2· कामना - जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 352·

के लिए युद्ध होते हैं। उत्पादन के विकास, खेती और पशुपालन, युद्धों द्वारा अर्जित सम्पत्ति के कारण समाज में वर्ग-भेद पैदा होने लगा है।"[1]

उसी प्रकार का वर्ग भेद मूलक सामाजिक परिवर्तन करके अपनी महत्वाकांक्षा को पूरा करने का प्रयत्न विलास करता है। सदा उसकी महत्वाकांक्षा उसे प्रेरित करती रहती है - "जो जाति अपराध और पापों से परिचित नहीं होती, वह विदेशी तो क्या, किसी अपने स्वजातीय शासक को भी आज्ञाओं का बोझ वहन नहीं करती। और, समझ ले कि बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोलीभाली जाति को पतित नहीं बना सकता।"[2]

इस धारणा मे वर्तमान के पतन का आभास मिलता है। अंग्रेज लोगों ने भी वाणिज्य निमित्त अनेक सुविधाएँ प्राप्त करके भारत के लोगों को पश्चिमी सभ्यता की चमक के प्रति आकर्षित कर लिया था। विलास भी स्वर्ण और मदिरा का लालच दिखाकर सारी जनता को अपनी ओर खींच लेता है।

आदिम सामाजिक व्यवस्था में अत्याचार, अधर्म, अन्याय को कोई जगह नहीं थी इसलिए उनको न्याय क्या है, पाप क्या है, दण्ड क्या है और क्यों मिलता है, इन सभी का बोध भी नहीं था। जब व्यक्ति में स्वार्थ या लालच बढ़ जाता है तब वह दूसरे की सम्पत्ति को अपनाना चाहता है। उसकी प्राप्ति के लिए गुलाम बन जाने से भी नहीं हिचकता।

---

1. मानव सभ्यता का विकास - रामविलासशर्मा - पृ. 53.

2. कामना - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 353.

लीला जब विनोद के साथ आकर कामना को रानी और अपने को दासी कहती है तब कामना 'दासी' शब्द को सुनकर चौंक पड़ती है ।[1] धन के लोभ में पड़कर द्वीप पर होनेवाले विनाश को रुकने के लिए वनलक्ष्मी कहती है - " इस विश्वंभरा को, इस जननी को, धातु निकालकर, खोखली और निर्बल बनाने का समारम्भ होने से रोक । " [2]

मानव सभ्यता में के विकास में दास प्रथा और बाद में सामन्ती व्यवस्था की मंजिलें आती हैं । इस स्तर तक समान रूप से वितरण का प्रश्न विनिमय का प्रश्न बन जाता है और आगे चलकर अधिकार प्राप्ति के सवाल उठने लगते हैं । इसी का विवेचन करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं - " यहाँ पर प्रश्न उठता है कि भूमि पर अधिकार किसका था । काणे ने प्राचीन ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देते हुए कहा है कि भूमि पर किसानों का अधिकार था । जैमिनि के अनुसार सम्राट भी अपनी भूमि का दान नहीं कर सकता क्योंकि धरती सभी की है । शबर के अनुसार राजा को केवल फसल का अंश लेने का अधिकार है, लेकिन धरती सभी का पालन करती है, इसलिए वह सभी की है ।"[3]

मनुष्य में इस लोभ के पैदा होने से ही समाज में परिवर्तन आ गया । धीरे-धीरे सामन्तवाद के पश्चात पूँजीवादी प्रवृत्ति बढ़ती गयी । शर्मा जी ने लिखा है - " लेकिन अब पहली बार एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जो उत्पादन

---

1. नहीं, नहीं, तुम इतने दीन होकर इस ज्वाला की भीख मत लो । इस द्वीप के निवासी .... ।" — " कामना ", प्रसाद ग्रन्थावली-2, पृ. 362.
2. कामना, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 355.
3. मानव सभ्यता का विकास - रामविलास शर्मा - पृ. 78.

मे हिस्सा न लेकर आमतौर से उत्पादन का प्रबंध अपने हाथ में कर लेता है और आर्थिक रूप से उत्पादकों को अपने शासन के नीचे ले आता है । यह वर्ग अपने को दोनो तरह के उत्पादकों के बीच एक अनिवार्य मध्यस्थ बना लेता है और दोनो का शोषण करता है । "[1]

विलास द्वीप की समृद्धि को और भी बढ़ाने के लिए दूसरों की सम्पत्ति को लूटना चाहता है । उस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए विनोद कहता है - " हम समझते हैं , अब इस द्वीप के मनुष्यों को और भूमि की आवश्यकता न होगी । "[2]

स्वर्ग की लालसा में बढ़ती हुई स्वार्थपूर्ण आकांक्षा ने अब जनता मे भेदभाव उत्पन्न कर दिया था ।[3] इस प्रकार के भेदभाव से विचलित होकर लोगो के मन में फिर से साम्यवादी भावना उत्पन्न होने लगती है । कामना कहती है -- " ... सब के पास आवश्यकतानुसार स्वर्ण हो जायगा, तभी यह अशान्ति दबेगी । "[4]

'कामना' मे पूँजीवादी व्यवस्था का पूर्ण चित्रण हुआ है - " अब क्या, देश में धनवान और निर्धन शासकों का तीव्र तेज, दोनो की विनम्र-दयनीय दासता, सैनिक-बल का प्रचण्ड प्रताप, किसानों की भारवाही

1· मानव सभ्यता का विकास - रामविलास शर्मा - पृ· 95·

2· कामना, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 364·

3· स्त्रियाँ पुरुषों की दासता मे जकड़ गयी है, क्योंकि उन्हें ही स्वर्ण की अधिक आवश्यकता है । आभूषण उन्ही के लिए हैं। मैं ने स्त्रियों की स्वतन्त्रता का मन्दिर खोल दिया था । - कामना - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 384·

4· कामना - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 378·

पशु की सी पराधीनता, ऊँच और नीच, अभिजात और बर्बर, सैनिक और किसान, शिल्पी और व्यापारी और इन सभी के ऊपर सभ्य व्यवस्थापक-सब कुछ तो है ।"[1]

निम्न जाति के शोषण का और उसकी शक्ति का उसे एहसास दिलाकर ऊपर लाने का प्रयत्न भी किया गया है । जनता के लिए कहा गया है कि " तेरी लघुता एक महान रहस्य है ।[2] नाटक के अन्त में इस प्रकार के अत्याचारी शासन से विरक्त होकर कामना अपना राजपद छोड़ देती है । इसे देखकर सारी जनता भी अपनी भूल समझ लेती है और इस विलासी जीवन के कारणभूत विलास को देश से निकाल देती है । अन्त में साम्यवादी समाज की आशा करते हुए विवेक कहता है - " उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य राजा और प्रजा, शासितों और शासकों का भेद विलीन होकर विराट्-विश्व,जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीडा का अभिनय करेगा ।"[3]

इस प्रकार इस नाटक में मानव सभ्यता के विकास की हर एक मंजिल को प्रसाद ने प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है । नाटक के कथानक को देखने पर कथा मामूली सी लगती है, पर गहराई तक जाकर अध्ययन करने से मानव सभ्यता के विकास का क्रम हर एक कदम पर दिखाई पड़ता है ।

1· कामना - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 390
2· - वही - पृ· 395·
3· - वही - पृ· 404·

इस नाटक के आधार की ओर संकेत करते हुए जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कहते हैं - " यह नाटक संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय और देव माया प्रपंच' नाटकों जैसी अन्योपदेशिक शैली से लिखा गया है। प्रसाद ने सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों को मानवीय रूप देकर सामाजिक विकास के भावों को योगदान पर प्रकाश डाला है। भावों की यह वैयक्तिक व्यंजना समष्टि-गत प्रभाव को व्यक्त करती है। "[1]

डॉ॰नगेन्द्र के शब्दों में कामना सांस्कृतिक रूपक है। इसमें प्रसाद जी की सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की भावना का एक व्यक्त रूप मिलता है। "[2]

गोविन्द चातक की धारणा है कि " अर्थ और स्वर्ण को महत्व देने की प्रवृत्ति के पीछे 'कामना' में मार्क्सवाद का प्रभाव प्रतीत होता है। "[3]

कैलाश नारायण अवस्थी मानते हैं कि - " नाटक में दो विरोधी परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। एक ओर आदिम मानव सभ्यता का शान्त और निश्छल रूप दिखलाया है। दूसरी ओर सभ्यता के विकास से बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में हाहाकार का दानवीय रूप चित्रित किया गया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रसाद ने इन दिनों परिस्थितियों का चित्रण कर शान्त मनोवृत्ति वाले भारतीयों पर

1· प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, जगन्नाथ - प्रसाद शर्मा - पृ· 218·

2· आधुनिक हिन्दी नाटक, नगेन्द्र - पृ· 75·

3· प्रसाद + नाटक और रंगशिल्प, गोविन्द चातक - पृ· 50·

पश्चिमी प्रभाव से प्रादुर्भूत अतृप्ति और असंतोष का चित्रण किया है। यह तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव है।"[1]

यथार्थ बनाम आदर्श :-

प्रसाद की अन्तर्दृष्टि रसवादी थी, जिसका आदर्शवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसके बावजूद उन्होंने पाश्चात्य यथार्थवादी पद्धति का तिरस्कार भी कभी नहीं किया। एक ओर उन्होंने नाटकों में प्राचीन भारत के उच्च सांस्कृतिक आदर्शों को मूर्त रूप देना चाहा है वही दूसरी ओर यथार्थ जीवन की विकृतियों के चित्र भी प्रस्तुत किये हैं।

इन दोनो ही प्रकारों का चित्रण 'कामना' में मिलता है। भारतीय संस्कृति का उद्घाटन करने वाले इस नाटक में आदर्शवादी धारणा के साथ अत्याचार जैसी घटनाओं का भी यथार्थपरक सृजन हुआ है।

अपने समय के अनुसार यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था - "यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हम को निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।"[2] आज यथार्थवाद साहित्य का एक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द बन गया है, जिसका अर्थापन प्रेमचन्द की व्याख्या से अलग है। जिसे प्रेमचन्द यथार्थवाद कहते थे वह वास्तव में

---

1. प्रसाद साहित्य की समीक्षा - कैलाश नारायण अवस्थी - पृ. 176.
2. प्रेमचन्द के कुछ विचार - प्रेमचन्द - पृ. 74.

प्रकृतवाद (Naturalism) था । लेकिन यथार्थवाद का विवेचन करते हुए प्रसाद यथार्थवाद की आधुनिक अवधारणा के कहीं करीब दिखायी देते हैं जब वे कहते हैं - " यथार्थवाद की विशेषताओं मे प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात । उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है । लघुता से मेरा अभिप्राय है, साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख । "[1]

इस दृष्टि से देखें तो नाटक में यथार्थवादी पद्धति का प्रयोग भी हुआ है । केवल धन के लालच या भ्रम मे पड़कर फूलों के बीच की जनता विलास की बातें मान लेती है और मद्यपान करती है । इस क्रम में वह लूटपाट और हत्या भी कर लेती है । पर उनको सही रास्ते पर लाने के लिए विवेक उनके साथ था जो हमेशा उनमें विकासशील परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है । नाटक के आरंभ का समाज आदिम मानव सभ्यता का प्रतीक है जहाँ पर कोई असमानताएँ नहीं थीं । सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार था । यह प्रसाद का आदर्शवादी स्वप्न था । इस नाटक पर यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद के प्रभाव का उल्लेख करते हुए गोविन्द चातक ने लिखा है - " कल्पना को अत्यधिक महत्त्व देकर प्रसाद ने उस पार के आदर्शवादी संसार का निर्माण ही नहीं, वरन् उसे सत्य के सन्दर्भ में उजागर करने का प्रयत्न भी किया । उनका 'कामना' नाटक उसका प्रमाण है जिसमें कल्पना सत्य को ही प्रतिभासित नही करती वरन् वह जीवन से भी सम्बद्ध है और इस प्रकार सत्य और कल्पना एकाकार हो गए हैं । "[2]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - जयशंकर प्रसाद - पृ. 120.
2. प्रसाद नाट्य और रंगशिल्प - गोविन्द चातक - पृ. 33.

रमेश गौतम के अनुसार - "'कामना' में प्रसाद ने पश्चिम के भौतिकवाद तथा भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्मवाद के संघर्ष को चित्रित किया है । भोगवाद अपने वैभव के आकर्षण द्वारा किस प्रकार से मानव मन पर छा जाता है, इसका सुन्दर निरूपण 'कामना' में प्रस्तुत किया गया है ।" [1]

नाटक में विवेक जैसे पात्र के द्वारा प्रसाद की अपने आदर्शवादी धारणा को प्रस्तुत किया गया है । रमेश गौतम विवेक को अत्यन्त महत्व पूर्ण चरित्र मानते हैं — "विवेक नामक प्रतीक पात्र अत्यन्त सशक्त है । वह नाटककार प्रसाद की संवेदना का प्रतिरूप है । विवेक के सम्वादों में प्रसाद का आनन्दवादी एवं नियतिवादी दर्शन प्रतिबिम्बित होता है । प्रस्तुत नाटक में भी प्रसाद की दृष्टि दर्शन परक है ।"[2]

कामना नाटक की प्रतीकात्मकता कई स्तरों पर चलती है । केवल बाह्य समाज की समता-विषमता, सुख-दुख का ही उद्घाटन इसके प्रतीक नहीं करते बल्कि मनुष्य की मानसिकता का विश्लेषण भी करते हैं । रमेश गौतम के अनुसार "वस्तुत: यह समस्या केवल उस द्वीप की ही नहीं हमारे मानस मन की भी है । मन में व्याप्त कामना संतोष का वरण न कर भौतिक आकर्षणों के प्रति समर्पित हो जाती है । कामना ही मन की मुख्य नियामिका है । उसके पथभ्रष्ट होते ही मानव मन में अनेक प्रकार के पतन होते हैं । अर्थ-लोलुप समाज में स्वर्ण की भूख व्याप्त हो जाती है । नैतिकता का ह्रास हो जाता है ।"[3]

---

1. प्रसाद के नाटक : युग साक्ष्य - रमेश गौतम - पृ. 59.
2. - वही - पृ. 620.
3. प्रसाद के नाटक : युगसाक्ष्य - रमेश गौतम - पृ. 61.

इस प्रकार कामना में प्रसाद एक हद तक भौतिकवादी दृष्टि से मानव सभ्यता के विकास की मंजिलों का परिचय देते हैं किन्तु वे सामाजिक प्रश्नों को व्यवहारिक धरातल पर नहीं, बल्कि दार्शनिक रूप से ग्रहण करते हैं। अतः उनकी ऐतिहासिक चेतना भौतिकवाद के साथ-साथ भाववादी दर्शन का मिश्रण मिलता है। प्रसाद मनुष्य को आध्यात्मिक आनन्द से युक्त करना चाहते थे, जिनके लिए केवल भौतिकता उन्हें नाकाफी लगती थी।

समकालीनता के भावोंवाला काल्पनिक नाटक [एक घूँट] :-

" एक घूँट " एकांकी नाटक है। इसमें प्रेम के उच्छृंखल रूप का विरोध करके स्त्री-पुरुष के स्वस्थ सम्बन्धों की ओर ध्यान किया गया है।

एकांकी नाटक एक अंक में पर्यवसित कथावस्तुवाला नाटक होता है। लेकिन कुछ लोग इसको सस्ता नाटक से पृथक् मानते हैं जैसे बनवारीलाल हाण्डा के अनुसार " एकांकी में जिस एक का बोध होता है, वही उसे नाटक तथा गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् करता है।"[1] लेकिन एकांकी है नाटक का एक प्रकार ही। डॉ॰नगेन्द्र के अनुसार - " स्पष्टतया एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्व-पूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।[2]

---

1. प्रसाद का नाट्य-शिल्प - बनवारीलाल हाण्डा - पृ॰ 182.
2. आधुनिक हिन्दी नाटक - नगेन्द्र - पृ॰ 128.

इसी तरह के विचार डा॰दशरथ ओझा के भी हैं। उनके अनुसार ..... जो नाटक एक अंक में समाप्त होनेवाला, एक सुनिश्चित लक्ष्यवाला, एक ही घटना, एक ही परिस्थिति और एक ही समस्यावाला हो, जिसके प्रवेश में कौतूहल और वेग, गति में विद्युत-सी वक्रता और तेजी, विकास में एकाग्रता और आकस्मिकता के साथ चरम सीमा तक पहुँचने की व्यग्रता हो .... उसे एकांकी कहना चाहिए।"[1]

उस धारणा के अनुसार ही "एक घूँट" का कथानक चलता है। वनलता और रसाल के जीवन में आनन्द, प्रेमलता जैसे अनेक पात्र जुड जाते हैं। आनन्द की बातों में पाश्चात्य प्रभाव से प्रेरित स्वच्छन्द प्रेम के विचार स्पष्ट होते रहते हैं। लेकिन वनलता जो अपने पति रसाल के काल्पनिक जीवन से विरक्त होती है, वह इस स्वच्छन्द प्रेम को ठुकरा देती है। इस व्यवहार में हमारे देश की संस्कृति और नैतिकता की स्पष्ट छाप दिखायी पड़ती है।

इसमें एक ओर प्रेम की स्वच्छता के बारे में तिरस्कारपूर्ण वर्णन किया गया है तो दूसरी ओर झाडूवाले के माध्यम से प्रसाद मनुष्य को कर्मरत होने का सन्देश देते हैं और सामाजिक नियमों से बन्धे रहकर जीवन बिताने का आदेश दे रहे हैं।

इस एकांकी का आरम्भ अरुणाचल आश्रम से होता है। उस आश्रम का आदर्श है सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य। इसके साथ एक आदर्शात्मक समाज का निर्माण किया गया था। आनन्द जो वहाँ नया-नया आया है,

---

1· हिन्दी नाटक:उद्भव और विकास, दशरथ ओझा, पृ· 311-312·

स्वच्छन्द प्रेम का प्रचार करने लगता है । वनलता अपने पति और रसाल की काल्पनिकता के प्रति विरक्त होकर मन की शान्ति खो बैठती है । उसी समय आनन्द उसे प्रेम की बातें कहकर बहलाना चाहता है । लेकिन वह अपनी सुधबुध नहीं खोती । प्रसाद ने वनलता में भारतीय मर्यादा की झलक को दर्शाया है । वह अपने पति के सिवा किसी से प्रेम नहीं कर पाती । वह सिर्फ पति से पूर्ण प्रेम पाने की इच्छा रखती है और अन्त में सफल हो जाती है ।

स्वच्छन्दप्रेम के प्रचार करने में भी आनन्द असफल हो जाता है । उसे प्रेम के सच्चे रूप को स्वीकार करना पड़ता है । अन्त में निश्छल प्रेम भाव से वह प्रेमलता को स्वीकार लेता है ।

यह कोई ऐतिहासिक या पौराणिक नाटक नहीं है । मन में उठने वाले तात्कालिक विचारों का एक क्षण काल्पनिक चरित्रों के माध्यम से दर्शाया गया है । प्रसाद ने यही दिखाया है कि यदि मनुष्य दुर्बल हो तो एक क्षण में ही कमजोरियों के आगे सिर झुका लेता है और सारा जीवन नष्ट कर देता है । यदि वनलता अपने पति से विरक्त होकर आनन्द की बातों में जाती तो वह पाश्चात्य स्वच्छन्द प्रेम और उच्छृंखल जीवन-शैली की विजय होती । लेकिन वह अपने मन को वश में रखकर मर्यादित आचरण करती है ।

बनवारीलाल हाण्डा का कहना है -[9] ' एक घूंट ' में पात्रों का चुनाव इतिहास में नहीं किया गया है । बल्कि सामान्य दैनिक जीवन से किया गया है । साथ ही इनमें परंपरा के अनुरूप आदर्श गुणों को

स्थापना नहीं की गयी है। अतः पात्रों का चरित्रांकन भी भारतीय नाट्य विधान के अनुरूप नहीं हो पाया है।"[1]

इस नाटक को पूर्ण रूप से कल्पना पर आधारित कहते हुए सूर्य-प्रसाद दीक्षित ने अपने लेख में लिखा है - "आलोच्य एकांकी उद्देश्य की ओर अभिमुख अवश्य है पर इसे "सोद्देश्य एकांकी" नहीं कहा जा सकता। 'एक घूंट' में समस्या को जन्म दिया गया है पर उसे समस्या एकांकी कहना भी अतिवाद होगा। इसके पात्र यद्यपि प्रतीकात्मक है पर इसे प्रतीक रूपक कहना भी असिद्ध है। हाँ, शिल्प और भाव बोध के आधार पर इसे 'कल्पनामूलक एकांकी' अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि 'एक घूंट' का सर्वांग कल्पना पर आधृत है।[2] यहाँ प्रसाद भारतीय जीवन शैली को विशेषताओं को जीवनादर्श के रूप में दिखाना चाहते हैं।

इस प्रकार प्रसाद के पूरे 13 नाटकों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और राज्यश्री को शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों के रूप मे विशाख, कल्याणी परिणय प्रायश्चित को इतिहास का आभास देने वाले नाटकों के रूप में, करुणालय सज्जन जनमेजय का नागयज्ञ को पौराणिक नाटकों के रूप में, कामना को प्रतीकात्मक और एक घूंट को काल्पनिक एकांकी के रूप में, चर्चा की गयी है। 'एक घूंट' को छोड़कर सभी नाटकों में युग के अनुसार प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना स्पष्ट उभर आती है जो हमेशा

---

1. प्रसाद का नाट्य - शिल्प, बनवारीलाल हाण्डा - पृ॰ 183॰
2. प्रसाद के नाटक - विविध प्रयोग, सूर्यप्रसाद दीक्षित का लेख, अतएवं - पूर्ण - 2, पृ॰ 54॰

वर्तमान को प्रेरणा देने का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं। केवल इतिहास को दर्शाने में ही नहीं, वर्तमान को प्रेरणा देने में और जनता में राष्ट्रीय भावना जगाने में भी उन्होंने सफलता प्राप्त की है।

4.5. पौराणिक नाटकों में ऐतिहासिक चेतना की अभिव्यंजना :-

4.5.1. पुराण और इतिहास :-

भारत के प्राचीन इतिहास के विद्वानों के अनुसार पुराण और इतिहास का क्षेत्र लग भग एक ही है। लेकिन कालान्तर में चलकर इतिहास के बारे में तथ्यपरकता और वैज्ञानिकता का आग्रह बढ़ गया और पुराण तथा इतिहास पृथक् समझे जाने लगे।

"पुराण" शब्द का अर्थ "बहुत प्राचीन" है। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए डा. आनन्दनारायण शर्मा का कहना है – "'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क और स्वयं पुराणों ने भी दी है। जहाँ पाणिनि 'पुराण' का अर्थ 'पुराभवम्' अर्थात् प्राचीन-काल में होनेवाला मानते हैं, वहाँ यास्क के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है -- 'पुरा नवं भवति' अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया है।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डा. आनन्दनारायण शर्मा – 13.

" ऋग्वेद में 7/1/1/4 में पुराणी शब्द 'गाथा' शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त मिलता है । इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के युग में कुछ गाथाएँ ऐसी विद्यमान थीं जिनका उदय किसी प्राचीन काल में हुआ था । "[1]

हिन्दी विश्वकोश में पुराण के विषय में लिखते हुए कहा गया है — " पुराण शब्द का अर्थ पुरातन है । तदनुसार पहले 'पुराण' कहने से प्राचीन आख्यादिकादि - सम्बन्धित ग्रन्थ विशेष समझा जाता था । "[2]

वायुपुराण के अनुसार प्राचीनकाल में जो जीवित था वह पुराण है ।[3]

इस प्रकार जो प्राचीन में था, प्राचीन में होकर भी हमेशा नवीन समझा जाता है उसी को 'पुराण' शब्द से अभिहित किया जा सकता है । आगेचलकर 'पुराण' शब्द में व्यापकता आने लगी । पुराण को एक ज्ञान का प्रकार बताते हुए कहा गया है - " पुराण एक विद्या का नाम है । संस्कृत-वाङ्मय में जो चौदह या अट्ठारह विद्याओं की गणना कई जगह की गई है, उनमें पुराण-विद्या को प्रमुख स्थान दिया गया है, ... "[4]

---

1. पुराण विमर्श, आचार्य बलदेव उपाध्याय - पृ. 8.
2. हिन्दी विश्वकोश, vol. 13. सम्पादक - नगेन्द्रनाथ वसु - पृ. 657.
3. यस्मात् पुरा ह्यननीय पुराणं तेन तत् स्मृतम् - वायुपुराण - 1/209
4. पुराण परिशीलन, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी - पृ. 8.

'पुराण' का आधुनिक अर्थ देते हुए राजशेखर भट्टाचार्य का कहना है, " ... समाज में प्रचलित परम्परागत विविध लेखवृत्त ही 'पुराण' नाम से अभिहित थे। आरम्भ से ही पुराण किसी एक देश या परम्परा में नियत नहीं था, बल्कि सर्वत्र समान रूप से इसकी स्थिति थी। "[1]

इस प्रकार पुराण का अर्थ धीरे-धीरे व्यापक हो गया है। इसकी सीमा इस प्रकार से निर्धारित नहीं है कि इसे किसी एक देश से ही सम्बन्धित समझा जाए।

'इतिहास' शब्द का अर्थ भी प्राचीनकाल से ही एक विशिष्ट अर्थ के रूप में चला आ रहा है। पुराण-साहित्य में इतिहास का उल्लेख इस प्रकार हुआ है --

" आर्षादि बहुव्याख्यानम् देवर्षि चरित्राश्रयम् ।
इतिहासमिति प्रोक्त भविष्याद्भुत धर्मयुक् ।। "

अर्थात् ऋषियों के विभिन्न व्याख्यानों से युक्त देवताओं और ऋषियों के चरित्र से सम्बद्ध रचना इतिहास है, जो भविष्य के विलक्षण धर्म को सृष्टि करता है। "[2]

महाभारत के अनुसार "इतिहास' का अर्थ है --

1· पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन - राजशेखर भट्टाचार्य - पृ· 11·

2· हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन - आनन्दनारायण शर्मा - पृ· 2·

"धर्मार्थकाम मोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।। "

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेशों से समन्वित पूर्ववृत्त का होना ही पर्याप्त नहीं है । उसमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी उपदेश भी वांछित हैं । ध्यातव्य है कि हमारे दो प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों में रामायण को काव्य और महाभारत को इतिहास कहा गया है ।"[1]

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में दो प्रकार के इतिहासों का उल्लेख किया है - परिक्रिया और पुराकल्प ।

परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा ।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका ।।

परिक्रिया एक नायकवाली कथा को कहते हैं और पुराकल्प बहु नायकवाली कथा को । महाभारत पुराकल्प इतिहास का उदाहरण है ।"[2]

'इतिहास' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राचीन काल में वास्तवरूप में घटित होनेवाली घटना का द्योतक है । कहा गया है कि इतिहास की व्युत्पत्ति है - इति (इस प्रकार से) ह (निश्चयेन) आस

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन - आनन्दनारायण शर्मा - पृ. 2.
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास -दर्शन : आनन्द नारायण शर्मा में उद्धृत - पृ. 3.

॥ था, वर्तमान था ॥ अर्थात् प्राचीन काल में निश्चय रूप से होनेवाली घटना 'इतिहास' के द्वारा निर्दिष्ट की जायेगी ।[1]

'हिन्दी विश्व कोश' के अनुसार - "इतिहास में चतुर्वर्ग फल-लाभ की कथा है । अतएव इतिहास पंचमवेद श्रुति में कीर्तित हुआ और इसीलिये स्मरणातीत काल से भारत में इतिहास का समादर भी होता आया ।"[2]

इस प्रकार इतिहास और पुराण दोनों सीमित अर्थों में प्राचीन से ही सम्बन्धित थे । तब से इन दोनों का क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है और वे दोनों आपस में दूरवर्ती होते जा रहे हैं । पुराण और इतिहास की इस दूरी और सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आनन्द - नारायण शर्मा का कहना है - "पुराणकार की दृष्टि काल की सीमा को भेदकर कालातीत सत्य के उद्घाटन का प्रयास करती है । उनके वर्णनों में कालभेद कभी-कभी वैसे ही विलुप्त होता दीखता है, जैसे किसी विशेष कोण से देखने पर दो दूरवर्ती वस्तुओं की स्थानिक दूरी का आभास नहीं होता । लेकिन इतने मात्र से पुराणों के ऐतिहासिक महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता ।"[3]

इससे स्पष्ट होता है कि इतिहास और पुराण प्राचीनकाल में प्रचलित अर्थों के अनुसार समानार्थी समझे गये थे । लेकिन इतिहास का अर्थ आज व्यापक हो गया है । परम्परागत मान्यता के अनुसार इतिहास का

---

1. पुराण-विमर्श, बलदेव उपाध्याय - पृ. 154-5.
2. हिन्दी विश्व कोश - Vol. 3 - पृ. 25.
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - दर्शन, आनन्दनारायण शर्मा - पृ. 5.

अर्थ राजाओं का चरित्र, उनके युद्धों का वर्णन, तिथिक्रमानुसार व्यक्त करना ही माना गया । लेकिन आधुनिक काल तक आकर इतिहास की धारणा बदल गयी । प्रो॰डी॰डी॰ कोशाम्बी के अनुसार - " इतिहासकार का काम न तो अतीत से प्रेम करना है, न अतीत से छुटकारा पाना, बल्कि वर्तमान को स्पष्ट करनेवाली एक कुंजी के रूप में अतीत की गहराई में जाकर उसे खोलकर समझना है । इतिहासकार का अतीत सम्बन्धी चित्र जब वर्तमान की समस्याओं को समझनेवाली अन्तर्दृष्टि से आलोकित होता है, तभी महान् इतिहास रचा जाता है ।"[1]

इस प्रकार अर्थ की भिन्नता होने से इतिहास और पुराण को अलग-अलग माना गया है । प्राचीन धारणा के अनुसार इन दोनों को समान रूप में देखा गया है । उपनिषद्-युग में इतिहास और पुराण एक ही जाति की विधाएँ हैं । नारद ने चारों वेदों के अतिरिक्त 'इतिहास-पुराण' नामक पंचमवेद का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है — ऋग्वेद भगवो - ध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणमितिहास - पुराणं पंचमं वेदनां वेदम् । — छान्दोग्य 7/1.

अथर्ववेद (15/16/12) में इतिहास और पुराण को एक ही कोटि में रखा गया है । महाभारत एक ओर अपने को इतिहास, बल्कि इतिहा - सोत्तम (इतिहासोत्तमा दस्माज्जायन्ते कविबुद्धय: आदि 2/385) कहता है तो दूसरी ओर उसी आदिपर्व में इसके लिए पुराण शब्द का भी प्रयोग हुआ है ।

---

1. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता का एक ऐतिहासिक रूपरेखा डि॰डि॰कोशाम्बी - पृ॰ 30.

" द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ।। [आदि, 1/17]

महात्मा चाणक्य ने निर्देश किया है -- पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रं अर्थशास्त्रं चेतिहासः । [कौटिल्य अर्थशास्त्र] पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र यह सब ही इतिहास है ।"[1]

जिस प्रकार इतिहास मानव जीवन का क्रमबद्ध इतिहास कहलाता है उसी प्रकार पुराण भी सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक के इतिहास का चित्रण करते है । इसी दृष्टि से बलदेव उपाध्याय का कहना है --

आनन्दनारायण शर्मा ने पुराण और इतिहास के सम्बन्ध में पुराण-साहित्य के मर्मज्ञ पंडित बलदेव उपाध्याय के मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है -- " पुराण की रचना भारतीय दृष्टि से इतिहास की भावना को स्पष्टतः प्रतिपादित करती है । साधारणतः घटनाओं का वर्णन ही इतिहास का मुख्य विषय माना जाता है । पुराण की दृष्टि इससे भिन्न है । पुराण के पंचलक्षण का महत्त्व इस विषय में गंभीरतया मननीय है । पुराण ही हमारे लिए सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं । किसी मानव-समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जा सकता है, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरंभ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय । ... पुराण आरंभ होता है सृष्टि से और अंत होता है प्रलय से और इन दोनों छोरों

---

1. हिन्दी विश्वकोश - 3 - पृ. 25.

के बीच उत्पन्न होनेवाले राजाओं के वर्णों तथा उनमें प्रधानभूत राजाओं के चरित्र का यह वर्णन भी करता है । इस प्रकार पुराण का रूप ही भारतीय दृष्टि से इतिहास का सच्चा रूप है ।"[1]

पाश्चात्य विद्वान पार्टिजर के मत के अनुसार पुराणों को ही ऐतिहासिक आधार समझा गया है । आनन्दनारायण शर्मा के अनुसार - " प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान पार्टिजर एक ओर पुराणों में कल्पना का अंश अधिक मानते हैं, दूसरी ओर उन्ही के आधार पर प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ संकलित करते हैं ।"[2]

लेकिन आधुनिक मान्यता के अनुसार पुराण और इतिहास पृथक-पृथक माने गये हैं । इस सम्बन्ध में भी धारणा पहले से चली आ रही देखी जा सकती है । " इतिहास भी पहले पुराण से पृथक् था; सम्भवत: व्यासकाल से ही ऐतिहासिक सामग्री क्रमश: पुराणों में अनुप्रविष्ट होने लग गई थी । मनु के समय में भी इतिहास-आख्यान-पुराण-धर्मशास्त्र पृथक्-पृथक् विद्या के रूप में थे । याज्ञवल्क्य ने भी पुराण और इतिहास का एक ही वाक्य में पृथक् कर उल्लेख किया है । .... इस प्रसंग में लिंगपुराणस्थ 1/39/61 का " इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते कालगौरवात् " वाक्य स्मर्तव्य है ।"[3]

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - दर्शन - आनन्दनारायण शर्मा - पृ. 5.
2. - वही - पृ. 6.
3. पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन - राजशेखर भट्टाचार्य - पृ. 11.

आधुनिक इतिहासकारों की दृष्टि में पुराण को संपूर्णतः इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । "कुछ आधुनिक नाटककारों ने इतिहास को नवीन दृष्टिकोण से ग्रहण किया है और पौराणिक पात्रों एवं कथानकों को हास ऐतिहासिक वातावरण में रखकर नाट्य रचना की है । इनमें तथा पौराणिक नाटकों में कुछ अंतर है ।"[1]

ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में अन्तर बताते हुए जोशी जी का कहना है — "... पौराणिक पात्रों, पौराणिक कथानकों तथा पौराणिक वातावरण को लेकर लिखे गये नाटकों को हमें पौराणिक नाटकों की कोटि में ही रखना पड़ेगा- ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में नहीं ।"[2]

पुराणों की घटनाओं के संदिग्ध होने अथवा उनकी प्रामाणिकता न मिलने के कारण इन्हें इतिहास के रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जाता । रामायण और महाभारत को भी कुछ विद्वान इतिहास के रूप में नहीं मानते । बहुत विद्वान इन्हें पुराण भी नहीं मानते । उमापतिराय का कहना है - "'रामायण' और 'महाभारत' की गणना पुराणों में नहीं होती, ये महाकाव्य हैं ।.... 'महाभारत' तो अपने वर्तमान रूप में अधिकांशतः और उसका परिशिष्ट या 'खिल' कहा जानेवाला 'हरिवंश' तो पूर्णतः पुराण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।"[3]

---

1. प्रसाद के नाटकों में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक चेतना - जगदीश चन्द्र - जोशी - पृ. 33.
2. - वही - पृ. 34.
3. पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन - उमापतिराय चन्देल - पृ. 10.

अधिकतर विद्वान रामायण को महाकाव्य और महाभारत को इतिहास मानते हैं। हिन्दी विश्व कोष में कहा गया है -- " हमारे महाभारतीय इतिहास की मौलिकता और प्रामाणिकता आजकल की अवस्थाभेदेख विधाने से नहीं बनता। ... अति प्राचीन भारत का विशुद्ध इतिहास ढूँढ़ निकालना एक प्रकार से दु:साध्य व्यापार हो गया है। इसी से वर्तमान ऐतिहासिक महाभारत को इतिहास नहीं समझते। तथापि कितनी ही मिलावट रहने और पश्चिम उपकरण बढ़ने से भी भारत-वर्षीय पण्डित समाज को मैं महाभारत इतिहास ही कहा जाता है।"[1]

अब विचार करने की बात यह है कि प्रसाद की दृष्टि में इतिहास और पुराण का क्या संबंध है और अपने नाटकों में वर्णित पुराण को किस रूप में उन्होंने स्वीकार किया है। जोशी जी की धारणा है - " भारतवर्ष का इतिहास साधारणत: वैदिक काल से प्रारम्भ होता है परन्तु वैदिक सभ्यता के कुछ धुंधले चित्रों के अतिरिक्त जिनका स्वरूप वेदों में उपलब्ध है, हमें अधिक सामग्री नहीं मिलती।"[2]

प्रसाद के पौराणिक नाटकों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि प्रामाणिक तथ्यों के बिना जो इतिहास प्राप्त है, उसे वे इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं करते। इसलिए पौराणिक काल को वे प्रमाण के बिना इतिहास नही मानते। 'जनमेजय का नागयज्ञ' की भूमिका के अन्त में प्रसाद ने स्पष्ट लिखा है - " ... इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट

---

1. हिन्दी विश्वकोष - Vol. 3 पृ. 26.
2. प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन - जगदीशचन्द्र जोशी - पृ. 33.

नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो । घटनाओं की परंपरा ठीक करने में नाटकीय स्वतंत्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है, परन्तु उतनी ही अधिक हमने, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती है ।"[1] स्पष्ट है कि वस्तुनिष्ठता और तथ्यात्मकता के आधार पर विश्वसनीय बनाकर वे पुराण को इतिहास में बदलना चाहते थे ।

पौराणिक कथावस्तु को आधार बनाकर लिखे गये प्रसाद के तीन नाटक हैं — करुणालय, सज्जन और जनमेजय का नागयज्ञ । 'करुणालय' में हरिश्चन्द्र महाराज के शासनकाल की घटनाओं का वर्णन मिलता है । इसमें वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों के नामों के उल्लेख से इसको 'सज्जन' के पहले का नाटक समझना उचित होगा । 'सज्जन' नाटक महाभारत-समय का कथानक है । पाण्डवों के वनवास जाने के बाद, उनको पूरी तरह पराजित करने के लिए कौरवों का वन में आना, गन्धर्वों के हाथ उनका बन्दी हो जाना, धर्मराज के कारण उनकी मुक्ति आदि घटनाओं का यहाँ चित्रण मिलता है । इसमें कहीं भी प्रसाद की स्वच्छन्द कल्पना का निदर्शन नहीं मिलता है । पुराणों में वर्णित घटना को ज्यों-का-त्यों रखकर उन्हें नाटकीय रूप प्रदान किया गया है ।' जनमेजय का नागयज्ञ 'महाभारत के बाद, कलियुग के आरंभ की घटनाओं पर आधारित है । क्षत्रिय और नागजाति के संघर्षों का चित्रण इसमें हुआ है ।

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - पृ. 275.

4·5·2· पुराणों, धर्मग्रन्थों आदि के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण :-

प्रसाद के नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने रामायण को इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया है, बल्कि उसे अनेक विद्वानों की भाँति महाकाव्य ही समझते हैं। हाँ, महाभारत को अवश्य इतिहास ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। संभवतः इसी कारण रामायण पर आधारित घटनाओं को लेकर उन्होंने नाटक रचना नहीं की है। 'अजातशत्रु' की भूमिका में प्रसाद ने बताया है कि पांडवों की प्रभुता की समाप्ति के कारण महाभारत के बाद के समय से देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हुआ। उन्होंने लिखा है - " भारत-युद्ध के पौराणिक काल के बाद इन्द्र प्रस्थ के पाण्डवों की प्रभुता कम होने पर बहुत दिनों तक कोई सम्राट नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने-अपने देशों में शासन करती थीं।"[1]

पाण्डवों के बाद परीक्षित इन्द्रप्रस्थ का राजा होता है और उसके बाद जनमेजय तदनन्तर अनेक राजवंशों के बाद गौतम बुद्ध का आगमन हो जाता है। जनमेजय के बाद के राजाओं का कहीं भी कोई क्रमबद्ध प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिए प्रसाद ने भी पूर्णतः ऐतिहासिक युग का आरंभ गौतम बुद्ध से ही मानते हुए भी, कुछ राजाओं की वंशावली का नाम पुराणों में भी चित्रित हुआ कहकर महाभारत को इतिहास बनाने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं - " भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उस काल की बौद्ध-कथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में प्रसंग आता है।"

1· अजातशत्रु की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - पृ· 186·

2· - वही -

'जनमेजय का नागयज्ञ' में जनमेजय के शासनकाल आदि को ऐतिहासिक मान्यता देते हुए महाभारत को भी इतिहास सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है ।

'सज्जन' नाटक में तो महाभारत-वर्णित घटनाओं को केवल नाटकीय ढंग से चित्रित किया गया है । कौरव-पाण्डवों के बीच की सर्वमान्य शत्रुता के चित्रण को फिर से दोहराकर और पाण्डवों की सज्जनता दिखाकर प्रसाद ने एक बार फिर पाण्डवों की महानता और उनके बीच के भ्रातृप्रेम से वर्तमान को प्रेरणा दी है । पाण्डवों के द्वारा गन्धर्वों की सहायता करना आज के सन्दर्भ में काल्पनिक दिखाई पड़ने पर भी यह स्पष्ट करता है कि अच्छे शासक से देवगण भी सहायता लेते-देते हैं । इसमें महाभारत-कालीन कथा के साथ-साथ सूत्रधार, नान्दी, मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि नाटकीय नियमों का भी निर्वाह किया गया है ।

'करुणालय' नाटक में हरिश्चन्द्र के शासन का समय वर्णित है । पुराणों के एक नायक हरिश्चन्द्र सत्यवादी और धर्मात्मा शासक थे । लेकिन इस नाटक में उन्हें असत्यवादी, अधार्मिक बताया गया है । कारण जो भी हो चाहे देश के लिए या अपने पद की रक्षा के लिए वरुण को वह अपने पुत्र रोहित की बलि देने का वचन देता है और फिर उसे भूल जाता है । वैदिक युग में नरबलि की प्रथा होने का उल्लेख मिलता है । कैलाश-नारायण अवस्थी का कहना है - "इसका उद्देश्य वैदिक युग में विहित अमानुषिक नर-बलि पर व्यंग्य करना है । दरिद्रता का ऐसा आधिपत्य, जो जीवन-निर्वाह के लिये पुत्र को बेचने के लिये विवश कर देता है -- कारुणिक है ।"[1]

---

1. प्रसाद साहित्य की समीक्षा - कैलाश नारायण अवस्थी - पृ. 153.

हरिश्चन्द्र द्वारा अपने पुत्र को बलि देने के लिए तैयार होना, रोहित अपने स्थान पर धन का लोभ दिखाकर अजीगर्त से उसका पुत्र शुनःशेप को बलि पर चढ़ा देना आदि पौराणिक बातें हैं । वशिष्ट और विश्वामित्र के बीच संघर्ष का तो पुराणों में कई जगह उल्लेख मिलता है । उन कलहों में हमेशा वशिष्ठ की ही विजय प्राप्त होती थी । लेकिन प्रसाद ने इस में विश्वामित्र के द्वारा नरबलि, दासी प्रथा जैसी सामाजिक कुप्रथाओं का अन्त करवाकर परंपरा संरक्षक वशिष्ट की तुलना में विश्वामित्र को महनीय प्रदर्शित किया है । इसप्रकार आधुनिक दृष्टि से सम्पन्न होकर प्रसाद पुराणों की पुनर्व्याख्या का प्रयास करते हैं और विश्वामित्र के चरित्र को क्रान्तिकारी रूप में चित्रित करते हैं । इतिहास और पुराण पर वर्तमान समस्याओं और चिन्तित कर वह सूक्ष्म ढंग से प्रक्षेप करने में सफल होते हैं ।

जनमेजय का नागयज्ञ में महाभारत युद्ध के बाद की घटना चित्रित है । इस नाटक की हर एक घटना के ऐतिहासिक होने का प्रमाण प्रसाद ने प्रस्तुत किया है । नाटक की भूमिका में प्रसाद लिखते हैं - " इस नाटक की कथा का सम्बन्ध एक बहुत प्राचीन स्मरणीय घटना से है । भारतवर्ष में यह एक प्राचीन परम्परा थी कि किसी क्षत्रिय राजा के द्वारा कोई ब्रह्महत्या या भयानक जनक्षय होने पर उसे अश्वमेध यज्ञ करके पवित्र होना पड़ता था ।"[1]

इस उद्धरण से ही पूरे नाटक की कथा की सूचना मिलती है ।
" कलियुग के प्रारम्भ में पाण्डवों के बाद परीक्षित के पुत्र जनमेजय एक

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ की भूमिका - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ. 273.

स्मरणीय शासक हो गये हैं ।" जनमेजय अनजाने में ही ब्रह्महत्या करता है और उसके प्रायश्चित्त में उसे अश्वमेध यज्ञ करना पड़ता है ।[1] इसी समय नागजाति और क्षत्रियवर्ग का संघर्ष चलता है । नाटक का अन्त सौमनस्य के बिन्दु पर हो जाता है ।

प्रसाद का दृष्टिकोण था कि पुराणों की रहस्यमयता, मिथकीयता आदि को भेद कर उनमें से ऐतिहासिक सूत्र खोज निकाले जा सकते हैं । किशोरीलाल गुप्त के अनुसार, "'नागयज्ञ' वस्तुतः पौराणिक नाटक है जिसकी कथा के सूत्र महाभारत, शतपथ ब्राह्मण, हरिवंश पुराण, ऐतरेय ब्राह्मण, कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र आदि में बिखरे मिलते हैं । इनमें अर्थशास्त्र को छोड़कर शेष प्रायः सभी ग्रन्थ पुराण हैं जिनको आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं माना जाता है, यद्यपि प्रसाद जी पुराणों की मूल घटनाओं को अतिरंजना का आवरण हटाकर, 'इतिहास' मानने के पक्ष में हो हैं और इसीलिए उन्होंने इसे 'ऐतिहासिक' नाटक ही कहा है ।"[2] इस नाटक में जातियों के परस्पर संघर्ष के चित्र भी मिलते हैं । काश्यप ब्राह्मण जनमेजय का विरोध करता है, वह नागजाति से क्षत्रियों के विरुद्ध हाथ मिलाता है और उनसे धोखा करता है । उस समय के ब्राह्मण देवता के रूप में देखे जाते थे । लेकिन काश्यप जैसे धोखेबाज व्यक्ति को दिखाकर प्रसाद ने स्वयं ब्राह्मण जाति की दुर्बलताओं और उनकी पतनशीलता को चित्रित करने का प्रयत्न किया है । जनमेजय के प्रति काश्यप के विद्वेष का भी ऐतिहासिक प्रमाण प्रसाद ने दिया है --

---

1. भारत के शान्तिपर्व, अध्याय 150 में लिखा हुआ मिलता है कि सम्राट जनमेजय से अकस्मात एक ब्राह्मणहत्या हो गई, जिसपर उन्हें प्रायश्चित स्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा । "जनमेजय का नागयज्ञ" की भूमिका, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ॰ 273॰
2. प्रसाद के तीन नाटक - किशोरी लाल गुप्त - पृ॰ 93॰

" ऐतरेयब्राह्मण 7-27 में इसी घटना का इस प्रकार उल्लेख है कि जब परीक्षित - जनमेजय ने यज्ञ करना चाहा, तब काश्यप पुरोहितों को छोड़ दिया । इस पर असितांगिरस काश्यप ने बड़ा आन्दोलन किया कि हम ही पुरोहित बनाए जाएं । सम्भवतः इसी कारण तुरकावषेय ऋषि ने जनमेजय का ऐन्द्रमहाभिषेक कराया था ।"[1]

जनमेजय के शासन के समय में नागजाति का अस्तित्व इतिहास - सम्मत ही है । उन्होंने अपनी भूमिका में लिखा है - " नागजाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहले सरस्वती के तट पर रहती थी (आदि पर्व, 140) भरत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें वहाँ से खाण्डववन की ओर हटाया । खाण्डववन में भी वे अर्जुन के कारण न रहने पाये ।"[2]

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा भी नागजाति की ऐतिहासिक प्रामाणिकता की ओर संकेत करते हुए कहते है - " पंच-पांडवों के उपरांत कुरु देश पर परीक्षित का शासन स्थापित हुआ सही, परन्तु राष्ट्र के शक्ति-क्षय के कारण जहाँ-तहाँ जंगली जातियों का उत्पात भी आरंभ हो गया ।"[3]

जनमेजय के पिता परीक्षित का वध ब्राह्मणों से मिलकर तक्षक ने किया था और तभी से जनमेजय के मन में नागजाति के प्रति विद्वेष का प्रारम्भ हो गया था । जनमेजय ब्राह्मणहत्या के पश्चात्ताप में अश्वमेध

---

1. जनमेजय का नागयज्ञ की भूमिका, प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ० 273-274
2. - वही - पृ० 274.
3. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, जगन्नाथ - प्रसाद शर्मा -पृ० 221

यज्ञ और नागजाति के विनाश के विनाश के लिए नागयज्ञ आरंभ करता है। यज्ञ करना उस समय एक स्थापित प्रथा थी। प्रसाद ने उस समय की इस प्रथा को अपनी कल्पना के सहारे विश्वमंगलकारी योजना के रूप में बताया है। किशोरीलाल गुप्त कहते हैं – "नागयज्ञ की सर्व प्रमुख घटना है जनमेजय द्वारा किया गया नागयज्ञ, परन्तु नाटक का मुख्य अर्थ यह नहीं है। मुख्य कार्य है आर्य और नागजातियों का विद्वेष त्यागकर परस्पर प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करना जिससे लोक में कल्याण और शांति का प्रचार हुआ और सब लोग सुखपूर्वक रहने लगे।"[1]

इस प्रकार इस नाटक में उपस्थापित पौराणिक घटना को ऐतिहासिक रूप में दिखाने का प्रयत्न प्रसाद ने किया है। वे भूमिका के अन्त में लिखते हैं — "जहाँ तक हो सका है, इसके आख्यान भाग में भारतकाल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है, और इन कल्पित चार पात्रों में मूलघटनाओं का सम्बन्ध सूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है।"[2] इस प्रकार हम पाते हैं कि धर्मग्रन्थों और पुराणों के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रसाद भली-भाँति जानते थे। पात्रों, घटनाओं आदि की क्रमिकता के निर्धारण से पुराणों से इतिहास की वस्तु को उपलब्ध किया जा सकता है, ऐसा उनका विश्वास था। इसीलिए वे लिखते हैं — "... इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओं की परंपरा [illegible] ठीक करने में नाटकीय स्वतन्त्रता से अवश्य कुछ काम लेना पड़ा है, परन्तु उतनी से अधिक नहीं, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक में ली जा सकती है।"[3]

---

1. प्रसाद के तीन नाटक, किशोरीलाल गुप्त – पृ.९३.
2. जनमेजय का नागयज्ञ की भूमिका, प्रसाद ग्रन्थावली –2, पृ. 274.
3. – वही – पृ. 275.

धर्मग्रन्थों, काव्यों और पुराणों में वर्णित विविध कथाओं, चरित्रों एवं प्रसंगों को इतिहास के लिए कच्चे माल के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके लिए वस्तुवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टि अपेक्षित है। प्रसाद समाजशास्त्रीय तथा सांस्कृतिक दृष्टि सम्पन्न कलाकार होने के अतिरिक्त परिश्रमी गवेषक भी थे। उन्होंने अपनी अनेकानेक रचनाओं के कथासूत्र धर्मग्रन्थों, काव्यों और पुराणों में गहरे पैठकर उपलब्ध किये हैं। वे रचनाकार एक ही साथ थे। इन दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय हमें वहाँ दिखायी पड़ता है जहाँ वे पुराने ग्रन्थों की छानबीन करके रचना-विधान निश्चित करते हैं। उनकी ऐतिहासिक चेतना के निर्माण में समस्त महत्वपूर्ण पुराने ग्रंथ उपादेय सिद्ध हुए हैं।

4·5·3· पौराणिक कथाओं का वर्तमान सन्दर्भ :-

प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु चाहे ऐतिहासिक हो या पौराणिक, उनके लिखने का मोटे तौर पर उद्देश्य यही था कि उज्ज्वल अतीत से रुग्ण वर्तमान को कुछ ऐसी प्रेरणा मिले जिससे कमजोर वर्तमान स्वस्थ बन सके तथा अपने आपको सुधार सके। पौराणिक नाटकों में भी प्रसाद अपने वर्तमान को भूल नहीं पाये। 'करुणालय' और 'सज्जन' से भी अधिक 'जनमेजय का नागयज्ञ' में वर्तमान सन्दर्भों का चित्रण तथा समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

करुणालय :-

"इसका प्रकाशन सन् 1912 में इन्दु पत्रिका में हुआ। प्रसाद की यह कृति 'गीति-नाट्य' की श्रेणी में आती है। इस कथा का आधार पौराणिक है।"[1]

1· प्रसाद साहित्य की समीक्षा - कैलाशनारायण अवस्थी - पृ·153·

इस नाटक में नरबलि की प्राचीन प्रथा का चित्रण और उसका विरोध किया गया है । अवस्थी जी का कहना है – "इसका उद्देश्य वैदिक युग में विहित अमानुषिक नर-बलि पर व्यंग्य करना है । दरिद्रता का ऐसा आधिपत्य, जो जीवन – निर्वाह के लिये पुत्र को बेचने के लिए विवश कर देता है कारुणिक है । "[1]

शापभ्रष्ट वैदिक ऋषि अजीगर्त अपने पुत्र को गरीबी के कारण सौ गायें लेकर बलि के लिए बेच देता है । गरीबी की कितनी दुस्थिति होती है उसका चित्रण करके प्रसाद ने मानो वर्तमान के पीड़ादायक अभावमय जीवन को ही दर्शाया है । इतना ही नहीं, इसमें धनलोभ के विष का भी परिचय मिलता है । अजीगर्त पहले गरीबी के कारण पुत्र को बेच देता है । वही अजीगर्त और गायों के लोभ में पड़कर पुत्र का वध स्वयं अपने ही हाथों करने को भी तैयार हो जाता है । यहां पर व्यक्ति की स्वार्थलिप्सा से भरी कमजोरियों को प्रसाद ने दर्शाया है ।

पुराणों में वर्णित इक्ष्वाकुवंश का राजा हरिश्चन्द्र सत्य पालन के लिए राज्य छोड़ देता है, इतना ही नहीं, पत्नी और पुत्र को भी बेचकर अपना वचन पालन करके, वह धर्मराज बन जाता है । लेकिन वही हरिश्चन्द्र वर्तमान नाटक का नायक बनकर जैसे इसी समय की स्थितियों से प्रेरित हो जाता है । वरुण देवता को अपने पुत्र की बलि देने का वचन भूल जाता है । आलोकिक शक्ति की बातों में स्पष्ट होता है —

---

1. प्रसाद साहित्य की समीक्षा, कैलाशनारायण अवस्थी – पृ. 153.

" मिथ्याभाषी यह राजा पाखण्ड है इसने सुतबलि देना निश्चित था किया अब वह पहिनेगा हिरण्मयवर्म को... । " ...[1]

उसके पुत्र रोहित के लिए भी अपने पिता का वचन पालन करना उसका कर्तव्य था । लेकिन प्राणों का मोह उसे इस कर्तव्य पालन से रोक देता है । रोहित यही सोचता है --

" किन्तु निरर्थक मरने की आज्ञा कहीं
कैसे पालन करने के हैं योग्य यों ।
वरुण, देव हो या कि दैत्य । वह कौन है ?
क्या उसको अधिकार हमारे प्राण पर ।"[2]

विश्वामित्र के द्वारा नरबलि का विरोध किया गया है और सुव्रता को दासीपन से मुक्ति दिलायी गयी है । आदर्श राज्य की स्थापना की दिशा में नाटक में किया गया यह प्रयास प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना का परिचायक है । करुणालय को गीतिनाट्य के रूप में देखते हुए डा॰बच्चन सिंह का कहना है - " गीतिनाट्य मुख्यतः भावमय होते हैं, उनमें बहिःसंघर्षों की अपेक्षा अंतःसंघर्षों की प्रधानता होती है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन की कठोर वास्तविकताओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता ।"[3]

1· करुणालय - प्रसाद ग्रन्थावली - 2, पृ· 84·
2· - वही - पृ· 85·
3· हिन्दी नाटक, बच्चन सिंह - पृ· 186 - 187·

'करुणालय' मे आन्तरिक एवं बाह्य संघर्षों का चित्रण हुआ है और यदि कवि, समाज, मर्यादा, कर्तव्य आदि के बारे में जो चिन्ता करता है वह अतीतगामिता नहीं, वर्तमान स्थितियों से प्रेरित ही महसूस होती है । पुराणकाल में जाकर भी कवि से प्रेरित ही महसूस होती है । पुराण-काल में जाकर भी कवि वर्तमान सन्दर्भों से करता नहीं यह उसके सजग एवं तीव्र समाज तथा इतिहासबोध के कारण संभव हुआ लगता है ।

सज्जन :- यह नाटक अपनी कथावस्तु में महाभारत का अंश है जिसकी घटना को नाटक का रूप देकर प्रसाद ने पौराणिक इतिहास के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है । यहाँ युधिष्ठिर को एक राजा के रूप में चित्रित किया गया है । महाभारत युद्ध के मूल में कौरवों-पाण्डवों का आपसी विरोध था । दूसरों के लिए खाई खोदनेवाला स्वयं उसमें पड़ता है । यदि कोई व्यक्ति जान बूझकर दूसरे की बुराई करता है तो स्वयं उसका शिकार बन जाता है । वन में गये पाण्डवों को और भी सताने के लिए कौरव वन में भी आते हैं और स्वयं पराजित तथा अपमानित होकर वापस चले जाते हैं । दुष्टता के प्रति क्षमाभाव वाली परम्परागत भारतीय नैतिकता को इस नाटक में दिखाना प्रसाद का लक्ष्य रहा था ।

जनमेजय का नागयज्ञ :- अपनी महाभारतोत्तर कथावस्तु के कारण प्रसाद का यह नाटक उनके नाट्य साहित्य में अपना महत्त्व रखता है । इस कथावस्तु का चयन करने के पीछे प्रसाद की क्या उद्देश्य था इसका अनुमान लगाते हुए दशरथ ओझा ने इस नाटक को वर्तमानता के संदर्भ में लिखा है - "प्रश्न यह उठता है कि महाभारत की इस कथा में क्या विशेषता थी, जिसके कारण इसे प्रसाद ने नाटक का कथानक बनाया ? उन्होंने अपने पूर्व विरचित सभी नाटकों - "प्रायश्चित्त, राज्यश्री विशाख और अजातशत्रु

का इतिवृत्त इतिहास को ग्रहण किया है, किन्तु इस नाटक के कथानक के लिए महाभारत की उक्त घटना को मूलाधार बनाया। यह परिवर्तन क्यों ?... इस नवीन योजना का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। आश्चर्य नहीं कि तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को देखकर प्रसादजी को इस समस्या के सुलझाने का विचार मन में आया हो। इस नाटक की रचना के समय हमारे देश में आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुसलमान कलह की ज्वाला प्रचण्ड रूप धारण कर रही थी। .... नाटक का उपर्युक्त कथानक संवत् 1983 में होने वाले भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगे की ओर संकेत करता है। उस काल में महात्मा गांधी दोनों जातियों में पुनः सौमनस्य स्थापित करने का आंदोलन चला रहे थे।"[1]

जो भी हो, इस अनुमान के पीछे यह धारणा काम कर रही है कि प्रसाद ने नाटकों में पौराणिक घटना लेने पर भी उनमें सूक्ष्म ढंग से वर्तमान का रूप संजोया है। जनमेजय का नागयज्ञ - इस पूरे नाटक में नागजाति और आर्य जाति के संघर्ष का चित्रण ही महत्वपूर्ण हो उठा है। यहाँ वर्णाश्रम धर्म की विशृंखलता का भी परिचय मिलता है। ऐसा मत रमेश गौतम भी व्यक्त करते हैं - "नाटक में महाभारतकाल की देशकालगत परिस्थितियों के समानान्तर मिथकीय पद्धति से प्रसाद ने वर्णाश्रम धर्म की विशृंखलता को अपने समय की स्थितियों के साथ संपृक्त करके पेश किया है।"[2]

---

1. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास - दशरथ ओझा - पृ 72.
2. प्रसाद के नाटक : युग साक्ष्य - रमेश गौतम, पृ. 81.

इस नाटक में ऐतिहासिकता एवं युगीन स्थिति के संतुलन का परिचय कराते हुए रमेश गौतम आगे कहते हैं — " नाटककार के मन्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि नाटक में कथानक की सुसम्बद्धता एवं तात्कालिक युग-धर्म को पूरा करने के रचनाकार के दायित्व को निभाने के लिए प्रसाद ने कल्पना शक्ति का किंचित् मात्रा में उपयोग किया है। कुछ के चरित्र भी काल्पनिक हैं। किन्तु नाटक में महाभारतकाल की ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने में नाटककार प्रसाद पर्याप्त हद तक प्रयत्नशील रहे हैं।"[1]

मणिमाला, उत्तंक, आदि के द्वारा उन दोनों - क्षत्रिय एवं नाग - जातियों के बीच सौहार्द्रपूर्ण समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। काश्यप अपने कुछ, निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर नागजाति से मिलकर षड्यंत्र करता है और सारे ब्राह्मण वर्ग को जनमेजय के विरोध में खड़ा कर देता है। इसी कारण पूरा देश राजनैतिक रूप में अस्तव्यस्त हो जाता है। अंततः मणिमाला से जनमेजय का विवाह सम्बन्ध स्थापित करके शांति की स्थापना की जाती है।

कुल मिलाकर पौराणिक पृष्ठभूमि पर रचे जाने के बावजूद इस नाटक में वर्तमान सन्दर्भ ध्वनित होते रहते हैं। इन सन्दर्भों को चर्चा करते हुए रमेश गौतम का कहना है - " तात्कालिक समय बोध के अनुसार देश-प्रेम, स्वातंत्र्य चेतना, स्वराज्य के लिए प्रेरणा के साथ युगीन राष्ट्रीयता का संदेश और संकेत तो यह नाटक स्थान-स्थान पर देता ही है, साथ ही

1. प्रसाद के नाटक : युग साक्ष्य : रमेश गौतम, पृ. 65.

मानवतावादी मूल्यों का प्रतिपादन भी करता है । नारी जागरण प्रसाद-युगीन चेतना का मुख्य स्वर था । "[1]

इस प्रकार वर्तमान के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, जातीय आदि संघर्षों से मिलता-जुलता रूप 'जनमेजय का नागयज्ञ' में मिलता है । प्रसाद के समकालीन परिवेश में चल रहे वर्ण-विद्वेष, साम्प्रदायिक संघर्ष आदि समस्याओं को बदले हुए पौराणिक परिवेश में देखा जा सकता है ।

---

1. प्रसाद के नाटक : युग सापेक्ष्य - रमेश गौतम - पृ० 82.

पंचम अध्याय

उ प सं हा र

उ प सं हा र

जयशंकर प्रसाद भारतीय संस्कृति और साहित्यिक परम्परा के गंभीर अध्येता एवं पारखी थे। उनके साहित्य में राष्ट्रीय गौरव एवं सांस्कृतिक महिमा का गायन मिलता है, पर यही सब कुछ नहीं है। सांस्कृतिक जागरण के अतिरिक्त राजनैतिक एवं सामाजिक जागरण की दृष्टि उनके नाटक और कहानियों में स्पष्ट गोचर होती है। प्रसाद साहित्य में हिन्दी नवजागरण का सशक्त रूप मिलता है।

प्रसाद की इतिहास-दृष्टि किसी संग्रही पुरातत्ववेत्ता की या किसी परंपराभक्त रोमांटिक की नहीं थी। उन्होंने राजा-महाराजाओं के जीवन और युद्धों के चित्रण मात्र को इतिहास नहीं समझा। उन्होंने अतीत को वर्तमान से पूर्णतः विच्छिन्न और निरपेक्ष नहीं समझा। उनकी सशक्त धारणा थी कि वर्तमान अतीत का ही फल है। वर्तमान को परखने या सुधारने के लिए अतीत का अध्ययन आवश्यक है।

प्रसाद के काव्यों में ऐतिहासिकता का स्वर उतना नहीं मिलता जितना उनके नाटकों में मिलता है। कारण यह है कि कविताओं का समाज शास्त्र अत्यंत सूक्ष्म जटिल एवं सांकेतिक होता है। अधिकांश कविताएँ प्राकृतिक अंतर्वस्तु को लेकर लिखी गयी है फिर भी सामाजिक रूप से सचेतनता उनमें महसूस की जा सकती है। महाराणा का महत्व, अशोक की चिन्ता शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया आदि ऐतिहासिक व्यक्ति घटना या स्थिति के महत्व को लेकर लिखी गयी है फिर भी वर्तमानकालीन स्थिति का भी चेहरा उनमें दिखायी दे सकता है, कामायनी प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति है जो जलप्लावन की घटना जैसे आदिबिंब को प्रस्तुत करती है। वैदिक और पौराणिक कथावस्तु को लेकर लिखी गयी इस कृति पर आधुनिक आलोचकों की दृष्टि इसकी गहरी नींव तक गयी। इसलिए कामायनी में आधुनिक समाज के संकट के, मानवता के विकास

के प्रस्तुत करनेवाले इस (समाज) के केन्द्र में स्थित माना गया है। प्रसाद की इतिहास दृष्टि अतीत की बन्दी नहीं है, न वह वर्तमान में ही सीमित है। वे अतीत को वर्तमान की प्रासंगिकता में देखते हैं। उनकी कहानियों में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि के पीछे भी वर्तमान की करुणा की पुकार है। अशोक, आकाशदीप, पुरस्कार, सालवती बौद्ध कालीन, चित्तौर उद्धार, गुलाम, जहाँनारा, ममता, स्वर्ग के खंडहर, नूरी आदि मुगलकालीन कथावस्तु को लेकर लिखी गयी कहानियाँ हैं। गुंडा, शरणागत, मधुआ आदि कहानियाँ स्वाधीनता संग्राम के समय में अंग्रेजी शासन के विरोध में लिखी गयी हैं। कहानियों में उनका दृष्टिकोण मूलतः समन्वयवादी रहा था, किन्तु वह यथार्थवादी दिशा में विकसित हुआ। आदर्श और यथार्थ, श्रेय और प्रेय का अद्भुत समन्वय उनकी आरंभिक कहानियों में मिलता है। हिन्दू धर्म एवं इस्लाम धर्म की रूढ़ियों एवं पाखंडों को देवदासी, स्वर्ग के खण्डहर में चित्रित किया गया है। बौद्ध एवं जैन धर्म की विकृतियों का चित्रण देवरथ और सालवती में है। प्रसाद की तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का चित्रण मधुआ, गुण्डा और विरामचिह्न में है। ये सभी यथार्थवादी कहानियाँ हैं। निबन्ध साहित्य में प्राचीन आर्यावर्त का प्रथम सम्राट इन्द्र और दाशराज्ञ युद्ध में आर्य संस्कृति आरंभिक रूप एवं उसके अतीत में विकास का विवेचन किया गया है। " आदि पुरुष " के रूप मनु का उल्लेख हुआ है जिसका विस्तार " कामायनी " में स्थापित हुआ है। उनके उपन्यासों में कंकाल और तितली में सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थपूर्ण चित्रण हुआ है। " इरावती " ऐतिहासिक वातावरण को लेकर लिखा गया अधूरा उपन्यास है।

उनके नाटकों में ऐतिहासिक चेतना का विस्तार प्राप्त होता है। राष्ट्र की एकता और अखण्डता की स्थापना का प्रयत्न चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, अजातशत्रु, विशाख सभी नाटकों में मिलता है। कई नाटकों में जैन-बौद्ध धर्म, ब्राह्मण-बौद्ध धर्मों की टकराहट भी चित्रित की गयी है। नारी स्वतंत्रता नारी के पुनर्विवाह की समस्या और अयोग्य पति से मुक्ति की

राष्ट्र ध्रुवस्वामिनी में वर्णित है । ऊपर से देखने पर प्रसाद अतीत एवं राष्ट्र के प्रति श्रद्धालु प्रेमी थे, पर सच तो यह है कि वर्तमान की दुर्दशा से पीड़ित होकर ही उनकी दृष्टि अतीत की ओर गयी, जिससे सबक सीखकर वर्तमान को सुधारने की प्रेरणा देने में बहुत हद तक वे सफल हुए हैं ।

--:--:--

सहायक ग्रन्थ

मूल ग्रन्थ :

प्रसाद ग्रन्थावली - 1 (काव्य)
प्रसाद ग्रन्थावली - 2 (नाटक साहित्य)
प्रसाद ग्रन्थावली - 3 (उपन्यास साहित्य)
प्रसाद ग्रन्थावली - 4 (कहानी और निबन्ध साहित्य)

हिन्दी सहायक ग्रन्थ

कोश ग्रन्थ :

1. आधुनिक हिन्दी शब्द कोश : सं. गोविन्द चातक
2. मानक हिन्दी कोश
3. हिन्दी विश्व कोश : श्रीनगेन्द्रनाथ बसु

हिन्दी सहायक ग्रन्थ :

1. अम्मा रुक्मिणि एस : आधुनिक हिन्दी खण्ड काव्य, सूर्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987
2. अवस्थी कैलाशनारायण : प्रसाद साहित्य की समीक्षा, अनुभूति प्रकाशन, कानपुर, 1978
3. अज्ञेय : केन्द्र और परिधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1984.
4. उपाध्याय बलदेव : पुराण-विमर्श, चौखम्बा, प्रकाशन, वाराणसी, 1978.

5. ओझा दशरथ : नाट्य निबंध, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1972

6. ओमप्रकाश : आधुनिक साहित्य, आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1978

7. कार ई.एच. : इतिहास क्या है, मैकमिलन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

8. कोसाम्बी दामोदर धर्मानन्द : राजकमल प्रकाशन, (प्राचीन भारतीय संस्कृति की रूपरेखा) नई दिल्ली, 1977.

9. खनेजा रमेश कुमारी : प्रसाद युगीन नाटक, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली 1981

10. खरे गणेश : युगकवि प्रसाद, ग्रन्थम, कानपुर 1967

11. गुप्त गणपतिचन्द्र : हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 1978

12. गैरोला वाचस्पति : भारतीय संस्कृति और कला, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1973

13. गोवाक्कर प्रभाकर : आधुनिक हिन्दी कविता, पड़के बुकसेलर्स, कोल्हापुर

14. गौतम वीणा : हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय चेतना, संजय प्रकाशन, दिल्ली 1984

15. गौड़ हरिस्वरूप : आर्यों से धाहिया तक, साहित्य सहकार, दिल्ली, 1984

16. चंदेल उमापतिराय : पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली 1978

17. चतुर्वेदी गिरिधर शर्मा : पुराण-परिशीलन, बिहार, राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1960

18· चतुर्वेदी रामस्वरूप : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

19· सम चतुर्वेदी रामस्वरूप : कामायनी का पुनर्मूल्यांकन, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1977

20· गुप्त सत्यपाल : हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास प्रतिमान एवं विकासेतिहास, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली 1978

21· चौबे झारखण्ड : इतिहास दर्शन, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी, 1984

22· जायसवाल मंगिरलाल : हिन्दी गद्य साहित्य पर समाजवाद का प्रभाव, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद, 1973

23· जैन निर्मला : आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली – 1980

24· जोशी इलाचन्द्र : नए विचार : नई दृष्टि, समृद्धि प्रकाशन, दिल्ली 1986

25· जोशी जगदीशचन्द्र : प्रसाद के नाटकों का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन, जयपुर

26· झारी कृष्णदेव : हिन्दी काव्य प्रमुखवाद एवं प्रवृत्तियाँ, शारदा प्रकाशन, दिल्ली 1987

27. तिवारी नित्यानंद : आधुनिक साहित्य और इतिहास-बोध, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1982

28· तिवारी पूनमचंद : द्विवेदी युगीन काव्य मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, भोपाल 1972

29· तिवारी रमाशंकर : कामायनी : प्रेरणा और परिपाक, ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर 1980

30· तिवारी संतोष कुमार : छायावाद काव्य की प्रगतिशील चेतना, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली 1974

31· थापर रोमिला : भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1987

32· दरगन रवीन्द्रनाथ : छायावादी काव्य मे राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली 1973

33· द्विवेदी मुकुन्द : हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदना, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1970

34· द्विवेदी हजारी प्रसाद : विचार और वितर्क, साहित्य भवन प्रा॰ लिमिटेड, इलाहाबाद 1967

35· द्विवेदी हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 1961

36· देवराज : छायावाद उत्थान, पतन, पुनर्मूल्यांकन, कल्पकार, प्रकाशन, लखनऊ, 1975

37· धनंजय : हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास-तत्व, जोत कल्होत्रा 1988 रचना प्रकाशन इलाहाबाद 1980

38· धवन कृष्ण : हिन्दी साहित्य का इतिहास परम्परा और विकास, सूर्यप्रकाशन, दिल्ली 1985

39· नकछेद : समकालीन हिन्दी कविता में जनवादी चेतना, संजय प्रकाशन, वाराणसी 1980

40· नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1980

41· नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1966

42· नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, नेशनल [illegible] पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1965

43· नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1978

44· नरसिंहाचारी टि· : प्रसाद की कहानियाँ : प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण नंदन प्रकाशन, लखनऊ, 1977

45· निगम ब्रजबिहारी : संस्कृति एवं सभ्यता भारतीय दृष्टिकोण, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1987

46· नामवरसिंह : इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1978

47· पाण्डेय मैनेजर : साहित्य और इतिहास दृष्टि, पी पुस्त लिटरेसी, दिल्ली 1981

48· पाण्डेय रामलखन : काव्य और कल्पना, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना ।

49· पाण्डेय शम्भूनाथ : प्रसाद की साहित्य साधना, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, 1971

50· पाण्डेय शम्भूनाथ : भारतीय जीवन और संस्कृति, केन्द्रीय हिन्दी संस्थालय, आगरा, 1975

51· पाण्डेय सुधाकर : आचार्य शुक्ल प्रतिनिधि निबन्ध (कामायनी) राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली 1976

52· पाण्डेय सुधाकर : प्रसाद की कविताएँ, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी 1974

53· पाण्डेय सुरेशचन्द्र : हिन्दी कविता और आधुनिकता, अनुभव प्रकाशन, कानपुर 1981

54. प्रभात : प्रतीक और प्रतीकवादी काव्य - मूल्य, आर्य बुकडिपो, नई दिल्ली 1984

55. प्रसाद दिनेश्वर : प्रसाद की विचारधारा, अनुपम प्रकाशन, दिल्ली।

56. प्रसाद विश्वनाथ : कला एवं साहित्य : प्रवृत्ति और परंपरा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1973

57. प्रेमचन्द : प्रेमचंद के विचार, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद दिल्ली 1984

58. प्रेमचंद : हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल 1974

59. प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य, भोपाल, 1969

60. बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन

61. बोरा राजमल : आधुनिकता और राष्ट्रीयता, नीरा प्रकाशन, औरंगाबाद 1973

62. भट्टाचार्य रमाशंकर : पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1965

63. भारती सुशीला : कामायनी इतिहास और रूपक, मिलिन्द प्रकाशन, हैदराबाद 1961

64. भुसटकर : हिन्दी और मराठी के ऐतिहासिक नाटक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 1970

65. मदन इन्द्रनाथ : प्रसाद प्रतिभा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

66. मदन इन्द्रनाथ : हिन्दी कहानी-एक नयी दृष्टि, संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1978

67· मदन इन्द्रनाथ : कामायनी [मूल्यांकन और मूल्यांकन] लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

68· मिश्र कृष्णमुरारी : रोमाण्टिक युगीन अंग्रेजी कविता और छायावाद, प्रगति प्रकाशन, आगरा 1979

69· मिश्र रामदरश : समकालीन साहित्य चिन्तन, प्रभात प्रकाशन दिल्ली ।

70· मिश्र रामदरश : आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और दृष्टि, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली 1975

71· मिश्र रामदरश : हिन्दी कहानी अंतरंग पहचान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1977

72· मिश्र रामदरश : प्रसाद आलोचनात्मक सर्वेक्षण, पल्लव प्रकाशन, दिल्ली 1976

73· मिश्र राम प्रसाद : प्रसाद : गद्यकार, पल्लव प्रकाशन दिल्ली 1979

74· मिश्र सरजू प्रसाद : हिन्दी कहानी के आधार स्तंभ, अजब पुस्तकालय, कोल्हापुर, 1975

75· मिश्र विद्यानिवास : परम्परा बन्धन नहीं, राजकमल एण्ड सन्स, दिल्ली 1970

76· मुक्तिबोध : मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन, प्रा॰लिमिटेड, नई दिल्ली 1980

77· मेघ रमेशकुन्तल : कामायनी की मन सौन्दर्य सामाजिक भूमिका, ग्रन्थम, कानपुर 1967

78· मेहता सरोज : कामायनी के पात्र देवनागर प्रकाशन, जयपुर 1979

79· युगेश्वर : प्रसाद काव्य का नया मूल्यांकन, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी 1972

80. रघुवंश : आधुनिकता और सर्जनशीलता, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, दिल्ली 1980

81. राय अमृत : आधुनिक भाव बोध की संज्ञा, हंस प्रकाशन, दिल्ली 1977

82. राय गिरिजा : कामायनी की आलोचना प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1983

83. राय गुलाब : भारतीय संस्कृति की रूपरेखा

84. वर्मा भगवती चरण : साहित्य के सिद्धान्त तथा रूप, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1976

85. वर्मा लालबहादुर : इतिहास के बारे में, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली 1981

86. वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद 1976

87. शर्मा आनन्दनारायण : हिन्दी साहित्य का इतिहास दर्शन, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1987

88. शर्मा उर्मिला देवी : प्रसाद साहित्य और समीक्षा, अनुपम प्रकाशन, जयपुर 1977

89. शर्मा जगन्नाथ : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी 1971

90. शर्मा कुंज बिहारी : छायावादी कवियों पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों का प्रभाव, राजेश प्रकाशन, दिल्ली, 1977

91. शर्मा मुन्शीराम : प्रसाद की कामायनी, ग्रन्थम, दिल्ली 1983.

92. शर्मा राजमणि : प्रसाद का गद्य साहित्य, आत्माराम, दिल्ली 1982

93. शर्मा राम विलास : परम्परा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1981

94. शर्मा रामविलास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1966

95. शास्त्री देवर्षि सनाढ्य : हिन्दी के पौराणिक नाटक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1960

96. शास्त्री अजित प्रभा : हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूलस्रोत राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1973

97. शाह रमेशचन्द्र : जयशंकर प्रसाद, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली 1984

98. शाह रमेशचन्द्र : छायावाद की प्रासंगिकता

99. सक्सेना द्वारिका प्रसाद : साहित्यिक निबन्ध, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1981

100. साही विजयदेवनारायण : साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

101. सिंह केदारनाथ : कल्पना और छायावाद, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद 1957

102. सिंह बच्चन : हिन्दी नाटक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975.

103. सिंह वीर : कामायनी की कथा का गवेषणात्मक अनुशीलन

104. सिंह सुखवीर : समीक्षा के नए प्रतिमान, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली 1980

105· श्रीवास्तव जगदीश प्रसाद : प्रसाद के नाटक रचना और प्रक्रिया, साहित्य भवन प्रा·लि· इलाहाबाद 1976

106· श्रीवास्तव वीना : हिन्दी उपन्यास का विकास और मध्यवर्गीय चेतना, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली 1981

107· हरदयाल : आधुनिक बोध और विद्रोह

108· हरीन्द्र : प्रसाद का नाट्य-साहित्य : परम्परा एवं प्रयोग, प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ 1979

-=-=-

पत्र - पत्रिकाएँ

1. साप्ताहिक हिन्दुस्तान 17 - 23 जून, 1979
2. सारिका, 16 सितम्बर 1979
3. दस्तावेज 44, जुलाई - सितम्बर 1989
4. मधुमती, अगस्त 1989
5. मधुमती, मई 1990
6. मधुमती, जून 1991
7. आलोचना : नामवरसिंह, वर्ष 25, नवांक : 37, अप्रैल-जून 1976
8. पूर्वग्रह - 16, मई - अगस्त 1990

-=-=-

ENGLISH BOOKS:

1. Encyclopedea Americana.

2. New Standard Encyclopedea.

3. Carr E.H. : What is history, Penguine Books, Harmandworth, 1986.

4. Chesneaux Jean : Pasts and Futures of what is history for, London, 1978.

5. Collingwood R.G. : The Idea of history, London, Oxford University Press.

6. Coleridge : Biographic Literaria, London, 1971.

7. Dewy : Human nature and conduct: An introduction to Social Psychology,

8. Gardner Patrick : Theories of history, New York, Free Press, 1959.

9. Marwick Arthur : Nature of history, Macmillan Press, London.

10. Mc Dougall : An out line of Psychology.

11. Ranier : History its purpose and Method.

12. Sheppard A.D. : The art and practice of historical Function.

13. William Raymond : Culture, London: verso, 1982.